(पूज्य आचार्य श्रीमद् रत्नशेखरसूरिजी विरचित
'श्राद्धविधि' ग्रंथ का हिन्दी भावानुवाद)

श्रावक जीवन दर्शन

-: हिन्दी-भावानुवादक :-
पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

श्रावक जीवन दर्शन

(पूज्य आचार्य श्रीमद् रत्नशेखरसूरिजी विरचित
'श्राद्धविधि' ग्रंथ का हिन्दी भावानुवाद)

भावानुवाद-कर्ता

परम शासन प्रभावक, व्याख्यान वाचस्पति, महाराष्ट्र देशोद्धारक पूज्यपाद
आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.** के शिष्यरत्न,
बीसवीं सदी के महान् योगी, नमस्कार महामंत्र के अजोड़ साधक,
चिंतक एवं अनुप्रेक्षक पूज्यपाद **पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न, गोड़वागड़ के गौरव, मरुधररत्न सूरिमंत्र
पंच प्रस्थान साधक हिन्दी साहित्यकार पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

हिन्दी अनुवाद प्रेरणादाता

वैराग्य वारिधि, समतामूर्ति विद्वद्वर्य पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय कुलचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

29

प्रकाशक

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, 205, सोना चेंबर्स,
507-509, जे.अेस.अेस. रोड, चीरा बाजार,
सोनापुर गली के सामने, मरीन लाईंस (E), मुंबई-400 002.
Tel. 022-4002 0120, Mobile : 9892069330

आवृत्ति : तृतीय • मूल्य : 250/- • प्रतियां-1000
विमोचन स्थल : आर.एस्. पुरम्, कोयम्बत्तुर • दि. 1-11-2019

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक *परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा.* द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और अर्हद् दिव्य संदेश मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. **चेतन हसमुखलालजी मेहता**
   भायंदर (M.S.) M. 9867058940
2. **प्रवीण गुरुजी,**
   C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
   श्री आदिनाथ जैन टेंपल, चिकपेठ,
   बेंगलोर-560 053. M. 9036810930
3. **राहुल वैद,**
   C/o. अरिहंत मेटल कं.,
   4403, लोटन जाट गली,
   पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
   दिल्ली-110 006.
   M. 9810353108
4. **चंदन एजेन्सीज्,**
   527, चिरा बाजार,
   मुंबई. M. 9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, 205, सोना चेंबर्स, 507-509, जे.ऐस.ऐस. रोड, चीरा बाजार, सोनापुर गली के सामने, मरीन लाईंस (E), मुंबई-400 002. **Tel. 022-4002 0120**

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमाट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशन की कलम से....

अध्यात्म योगी, नमस्कार महामंत्र के अजोड साधक पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न, हिन्दी साहित्यकार **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में अनुदित **'श्रावक जीवन दर्शन' (श्राद्धविधि ग्रंथ का हिन्दी भावानुवाद)** की तृतीय आवृत्ति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

पूज्य आचार्यश्री ने इस ग्रंथ का अनुवाद आज से लगभग 29 वर्ष पूर्व अपनी मुनि अवस्था में किया था । इस हिन्दी अनुवाद के प्रेरक थे सिद्धांत महोदधि **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म.सा.** के चरम शिष्यरत्न विद्वद्वर्य **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय कुलचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा ।**

पालीताणा से उदयपूर तक की विहार यात्रा एवं उदयपूर चातुर्मास दरम्यान पू.मुनिराज श्री (वर्तमान में पूज्य आचार्यश्री) ने किया था ।

वास्तव में यह ग्रंथ श्रावक जीवन का अद्भूत दर्पण हैं । वि.सं. 1506 में तपागच्छीय पू. रत्नशेखरसूरिजी ने इस ग्रंथ की रचना की थी ।

ग्रंथ की मूल भूत गाथाएँ तो सिर्फ 17 ही है, परंतु उन 17 गाथाओं पर ग्रंथकारश्री ने 6700 श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका की रचना की है ।

श्रावक की संपूर्ण आचार-सहिता का इसमें मार्मिक वर्णन है । इस ग्रंथ के गुजराती अनुवाद की कई आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चूकी हैं, परंतु हिन्दी भाषा में इसके अनुवाद की बहुत बडी कमी थी, पूज्यश्री ने अतिश्रम लेकर इस ग्रंथ का लोक भोग्य शैली में हिन्दी में अनुवाद किया था ।

प्रत्येक जैन मात्र को इस ग्रंथ का स्वाध्याय परिशीलन अवश्य करना चाहिए ।

पूज्य आचार्यश्री के उपदेश से इस ग्रंथ की तृतीय आवृत्ति प्रकाशित हो रही है । हमें आत्म विश्वास है कि पाठक गण इस अनमोल कृति का स्वाध्याय कर अपने जीवन को आत्थ-उत्थान के मार्ग पर आगे बढाएंगें ।

श्राद्धविधि-ग्रन्थ अर्थात् श्रावक-जीवन की रुपरेखा

पूज्य मुनिश्री महाबोधिविजयजी महाराज

(वर्तमान में शासन प्रभावक

पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय महाबोधिसूरीश्वरजी म.सा.)

बालक से लेकर बूढ़े तक की सबकी अपनी दैनिक जीवन की समयसारिणी होती है। इतने बजे स्कूल जाना, इतने बजे कक्षा में जाना, इत्यादि बालक की समयसारिणी है। इतने बजे ट्रेन पकड़नी...इतने बजे ऑफिस जाना इत्यादि बडों की समयसारिणी है। इस तारीख को उस राज्य में...उस तारीख को अमुक राज्य में, इत्यादि राजनेताओं की समयसारिणी है। अरे ! दूरदर्शन और रेडियो प्रोग्राम की भी समयसारिणी होती है...परन्तु अफसोस ! जिनेश्वर भगवन्त के शासन में जन्म लेने के बाद किस प्रकार धर्मप्रधान जीवन जीना ? क्या इसकी समयसारिणी आपने बनायी ?

जिसे जीवन में शान्ति, मृत्यु के समय समाधि और परलोक में सद्गति व परम्पपरा से मुक्ति की चाहना हो, उस श्रावक की दिनचर्या की समयसारिणी हमें **पूज्य आचार्यश्री रत्नशेखरसूरीश्वरजी** विरचित **श्राद्धविधि ग्रन्थ** में देखने को मिलती है। पाँच सौ से भी अधिक वर्ष बीत चुके पर आज प्रत्येक घर में इसकी प्रति गरिमा है। **श्राद्धविधि ग्रन्थ** तो प्रत्येक गृहस्थ का अमूल्य आभूषण है। प्रत्येक घर में इसकी प्रति अवश्य होनी चाहिए। कपाट में बन्द करने के लिए नहीं किन्तु घर के प्रत्येक सभ्य को कम-से-कम एक बार तो इसका अवश्य वाचन करना चाहिए। भोजन से पेट भरने पर शरीर पुष्ट होता है। उसी प्रकार सद्साहित्य वाचन से ही आचार-पालन में द्रढ़ता आती है।

`इस ग्रन्थ में क्या है ?' यह प्रश्न करने के बजाय `इस ग्रन्थ में क्या नहीं है ?' यह प्रश्न करने का मन होत है। दैनिक व रात्रिक कर्त्तव्यों के साथ-साथ पर्वदिन व चातुर्मास सम्बन्धी करणीय कर्त्तव्य भी इसमें नीहित हैं। वार्षिक व आजीवन कर्त्तव्यों का भी सुन्दर वर्णन

है । धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सुन्दर व्यवस्था इस ग्रन्थ में है । एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अर्थ व काम तभी पुरुषार्थ कहलाते हैं जब वे धर्म को बाधा नहीं पहुँचाते हों । यदि अर्थ से धर्म को हानि होती हो तो वह अर्थ नहीं किन्तु अनर्थ है ।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्रेरित होकर बाद प्रत्येक श्रावक को अपनी समयसारिणी या चार्ट बना लेना चाहिए । अतिदुर्लभ यह मनुष्यभाव पशुओं की भाँति लक्ष्यहीन प्रवृत्ति करने के लिए नहीं मिला है । आज के मनुष्य की प्रवृत्तियों को देखने पर लगता है कि भले ही उसका भव बदला हो किन्तु भाव तो पशुयोनि के ही बने हुए हैं । घोड़े की तरह दौड़ना, कुत्ते की तरह भौंकना व बकरे की तरह जहाँ-तहाँ मुँह डालना-ये सब पशु योनि के ही लक्षण हैं । इतना होने पर भी मनुष्य बुद्धि के कारण पशुओं से अलग पड़ता है । प्राप्त बुद्धि से जीवन को सरल-सफल-स्वस्थ व स्वच्छ बनाये तब तो बुद्धि की सफलता है, अन्यथा बुद्धि का दुरुपयोग की कहा जायेगा ।

श्री कुमारपाल महाराजा की दिनचर्या

- सूर्योदयपूर्व वे नमस्कार महामंत्र के स्मरणपूर्वक उठते थे और सामायिक-प्रतिक्रमण कर **योगशास्त्र** व **वीतरागस्तोत्र** का स्वाध्याय करते थे ।
- उसके बाद कायशुद्धि कर गृहमन्दिर में पुष्पादि विधि से प्रातः पूजा करते थे ।
- तत्पश्चात् यथाशक्ति पच्चक्खाण करते थे ।
- कायादि सर्वशुद्धिपूर्वक वे 72 सामन्तों व 1800 करोड़पतियों के साथ त्रिभुवनपाल विहार में अष्टप्रकारी जिनपूजा करते थे ।
- उसके बाद वे गुरुपूजा करते थे और गुरुवन्दन कर पच्चक्खाण लेते थे ।
- वे गुरु भगवन्त के पास आत्महितकर धर्मकथा का श्रवण करते थे ।
- अपने स्थान में आकर लोगों की फरियादें सुनते थे ।
- नैवेद्य थाल धर कर गृहचैत्यों की पुनः पूजा करते थे ।
- उसके बाद साधर्मिक बन्धुओं के साथ संविभाग कर उचित अनुकम्पादि दानपूर्वक शुद्ध भोजन करते थे ।
- सभा में जाकर विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ का विचार करते थे ।
- वे राजसिंहासन पर बैठकर सामन्त-मंत्री-श्रेष्ठी आदि के साथ राजकीय विचार-विमर्श करते थे ।
- अष्टमी-चतुर्दशी को पौषध-उपवास व अन्य दिनों में दिन का आठवाँ भाग शेष रहने पर संध्याकालीन भोजन करते थे ।
- शाम को गृहचैत्य में आरती-मंगलदीप आदि करते थे ।
- उसके बाद उपाश्रय में जाकर सामायिक प्रतिक्रमण करते थे ।
- फिर गुरु भगवन्त के पास शंका-समाधान व धर्मचर्चा करते थे ।

◆ उसके बाद स्थूलभद्रादि महापुरुषों के स्मरणपूर्वक अनित्यादि भावनाओं से भावित होकर सर्वजीवों के साथ क्षमापना कर अरिहन्तादि चार की शरणागति स्वीकार कर नमस्कार महामंत्र के चिन्तनपूर्वक शान्तनिद्रा करते थे ।

यह थी कुमारपाल महाराजा की दिनचर्या ! आज के युग में भी धर्मप्रधान जीवन जीने के इच्छुक व्यक्ति मन को मजबूत कर अपनी दैनिक चर्या समयसारिणी इस प्रकार बना सकते हैं–

श्रावक-जीवन का प्रस्तावित दैनिक क्रम

प्रातः 4 बजे निद्रात्याग, 12 नवकार स्मरण, आत्मसंवेदन ।
4.15 से 6.00 बजे तक सामायिक एवं रात्रि प्रतिक्रमण ।
6.00 से 7.00 बजे तक प्रातः पूजा, चैत्यवंदन, गुरुवन्दन ।
7.00 से 8.00 बजे तक सूत्र-स्वाध्याय ।
8.00 से 9.00 बजे तक नवकारसी-उचित गृहकार्य ।
9.00 से 10.30 बजे प्रवचन श्रवण ।
10.30 से 12.30 बजे स्नान, अष्टप्रकारी पूजा ।
12.30 से 1.30 बजे सुपात्रदान, भोजन ।
1.30 से 4.30 बजे न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन ।
4.30 से 5.30 बजे संध्या भोजन ।
5.30 से 6.00 बजे संध्या आरती-चैत्यवन्दन ।
शाम 6.00 से 7.00 तक देवसी प्रतिक्रमण ।
7.00 से 8.00 गुरु वैयावच्च, स्वाध्याय ।
रात्रि में 8.00 से 9.00 बजे तक परिवार के साथ धर्मचर्चा ।
रात्रि 9.00 से 4.00 बजे तक नमस्कार मंत्र के स्मरणपूर्वक शान्त निद्रा ।

उपर्युक्त समयसारिणी सभी को अनुकूल न हो तो भी इसके आस पास कुछ सामान्य परिवर्तन के साथ व्यवस्थित कर सकते हैं ।

प्रमाद छोड़ दिया जाय तो आज भी बहुत कुछ हो सकता है और समय का सदुपयोग कर जीवन में बहुत कुछ उत्तम किया जा सकता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संदर्भ में विस्तार से न लिखकर पाठकों को इतनी ही सूचना करना चाहुँगा कि वे कम-से-कम एक बार तो इस ग्रन्थ का अवश्य अध्ययन करें ।

अनेक मुनि भगवन्त चातुर्मास अवधि में इसी ग्रन्थ पर प्रवचन करते हैं । यही इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का सूचक है । ग्रन्थकार महर्षि ने विधि के पालन के फायदे व अविधि करने से होनेवाले नुकसान आदि को अनेक छोटे-मोटे दृष्टान्तों से तर्कपूर्वक समझाया है जिससे भवभीरु पाठकों को विधि में उत्साह व अविधि से पीछे हटने की वृत्ति पैदा हुए बिना नहीं रहेगी ।

वीर प्रभु की उज्ज्वल परम्परा में 51 वीं पाट पर **'संतिकरं'** आदि अनेक प्रभावक स्तोत्रों के रचयिता सहस्त्रावधानी **पूज्यपाद आचार्यदेव श्री मुनिसुन्दरसूरिजी महाराज** हुए हैं, उनके पट्टधर के रूप में इस ग्रन्थ के रचयिता **पूज्य आचार्य श्री रत्नशेखरसूरिजी महाराज** हुए हैं ।

श्राद्धविधि मूल ग्रन्थ 17 गाथाओं का है और उस पर 6761 श्लोक प्रमाण **'विधिकौमुदी'** नाम की संस्कृत टीका है । इस ग्रन्थ-निर्माण में **श्री जिनहंस गणि** आदि विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ है ।

'श्राद्धविधि' मूल ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और उसकी टीका संस्कृत भाषा में है । अंग्रेजी आदि भाषाओं के मोह के कारण श्रावकवर्ग में प्राकृत-संस्कृत भाषा का ज्ञान दुर्लभ बनता जा रहा है । ऐसे समय में इन महान् ग्रन्थों का अनुवाद आवश्यक हो जाता है । मुख्यतया श्रावक के लिए निर्मित इस ग्रन्थ को यदि श्रावक न पढ़े तो इस ग्रन्थ का लाभ ही क्या ?

श्रावकवर्ग में इस ग्रन्थ के स्वाध्याय का प्रचार हो, इसी उद्देश्य से इस ग्रन्थ के अनुवाद हुए हैं । वि.सं.1995 में जैन विद्याशाला, अहमदाबाद की ओर से इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ था । आज इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है, यह हिन्दीभाषी वर्ग के लिए अत्यन्त ही आनन्द का विषय है ।

इस हिन्दी अनुवाद के प्रेरक हैं सिद्धान्त महोदधि सुविशुद्ध **ब्रह्मचारी पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज** के चरम शिष्यरत्न **पूज्य पंन्यासश्री कुलचन्द्रविजयजी गणिवर्य (वर्तमान में वैराग्यवारिधि पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय कुलचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.)** । आगमिक व दार्शनिक ग्रन्थों के वे कुशल अभ्यासी हैं । अध्ययन-अध्यापन में उन्हें विशेष रस है । उन्हीं की शुभप्रेरणा प्राप्त कर आज इस महान् ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ के अनुवादक हैं–जैन जगत् में **'पंन्यासजी महाराज'** के प्रिय नाम से सुप्रसिद्ध अजातशत्रु **पूज्य पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** के **चरम शिष्यरत्न पूज्य मुनिराज श्री रत्नसेनविजयजी महाराज (वर्तमान में पू.आचार्य श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरिजी म.सा.)** । ***उत्साह एवं स्फूर्ति उनके जीवन का मूलमंत्र है । हिन्दी साहित्यसृजन उनकी मुख्य प्रवृत्ति है । लेखन, वाचन व प्रवचन उनका दूसरा पर्याय है ।*** प्रस्तुत अनुवाद को सरस व सुबोध बनाने में आपने पूरा प्रयत्न किया है । ग्रन्थकार, प्रेरक व अनुवादक की सफलता पाठकों पर निर्भर है । अन्त में, इस ग्रन्थ का पठन-पाठन कर इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट आचारमार्ग को अपेन जीवन में आत्मसात् कर समस्त श्रावक-वर्ग आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़े यही शुभाभिलाषा है ।

भावानुवादकर्ता की कलम से...

—मरुधररत्न पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

यह संसार अनादि है । इस संसार में आत्मा और कर्म का संयोग अनादिकाल से है । इस कर्म-संयोग का मूल आत्मा के ही राग-द्वेष परिणाम (अध्यवसाय) हैं । राग-द्वेष के कारण आत्मा कर्म का बन्ध करती है और उसके फलस्वरप एक गति से अन्य गति में परिभ्रमण कर संसार में भटकती रहती है ।

अज्ञान और मोह सन्मार्ग की प्राप्ति में बाधक है और इसी कारण अज्ञान व मोह से ग्रस्त आत्माएँ सुख को पाने के लिए ज्यों-ज्यों चेष्टाएँ करती हैं, त्यों-त्यों वे दु:ख के गर्त में ही अधिकाधिक गिरती जाती हैं और नरक-तिर्यंच की घोरातिघोर यातनाओँ को सहन करती हैं ।

अज्ञान और मोह के गाढ़ अन्धकार में जहाँ-तहाँ भटकती हुई आत्माओं के उद्धार के लिए ही परम-करुणावतार तारक अरिहन्त परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं ।

अरिहन्त परमात्मा के द्वारा स्थापित यह शासन भव-सागर में जहाज के समान है । अरिहन्त परमात्मा इस शासन रूपी जहाज के निर्यामक हैं और साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ इस तीर्थ रूपी जहाज में बैठे हुए यात्रिकों के समान हैं ।

तारक अरिहन्त परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद प्रतिदिन प्रथम और अन्तिम प्रहर में धर्मदेशना देकर भव्यात्माओं को इस तीर्थ रूपी जहाज में प्रवेश कराते हैं । जो भव्यात्माएँ प्रतिबोध पाकर इस तीर्थ रूपी जहाज में प्रवेश पा लेती हैं, वे आत्माएँ अल्प भवों में ही भवसागर के पार प्राप्त होकर अजरामर, शाश्वत मोक्षपद को प्राप्त कर लेती हैं ।

मोह के जटिलबन्धन में से शीघ्र मुक्ति पाने के लिए तारक परमात्मा ने सर्वविरति स्वरूप साधु धर्म का उपदेश दिया है और जो आत्माएँ भौतिक सुख की कुछ आसक्ति एवं शारीरिक अशक्ति के कारण साधु धर्म का पालन करनें में सक्षम नहीं हैं, उनके उद्धार के लिए अरिहन्त परमात्मा ने देशविरति स्वरूप श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है ।

सर्वविरति अर्थात् साधुधर्म मोक्षप्राप्ति का मुख्य राजमार्ग है । इस मार्ग को स्वीकार करने वाली आत्माएँ उसी भव में अथवा दो-तीन-सात आदि भवों में मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं । परन्तु जो आत्माएँ साधुधर्म स्वरूप राजमार्ग को स्वीकार करने में हिचकिचाहट महसूस करती हों उनके उद्धार के लिए श्रावकधर्म है । श्रावकधर्म में इतना लचीलापन है कि भवबन्धन से मुक्त

बनने की इच्छा रखने वाली कोई भी आत्मा इस धर्म को स्वीकार कर उसका पालन कर सकती है ।

तारक अरिहन्त परमात्मा ने धर्मदेशना के माध्यम से श्रावक जीवन का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है । श्रावक किसे कहते हैं ? श्रावक का स्वरूप क्या है ? उसके कितने व्रत है ? उन व्रतों के कितने भेद-प्रभेद हैं ? श्रावक की दिनचर्या कैसी होनी चाहिए ? उसके दैनिक, रात्रिक, चातुर्मासिक, वार्षिक व जीवन सम्बन्धी कौन-कौन से कर्त्तव्य हैं ? श्रावक की भोजनविधि, व्यापार-विधि एवं जीवन-पद्धति कैसी होनी चाहिए ? इत्यादि समस्त बातों का समाधान अरिहन्त परमात्मा ने किया है कलिकाल सर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** ने **योगशास्त्र** में कहा है–

जिनो देवः कृपा धर्मो, गुरवो यत्र साधवः ।
श्रावकत्वाय कस्तस्मै, न श्लाघेताविमूढधीः ॥

जहाँ जिनेश्वर जैसे देव हैं, निर्ग्रन्थ साधु जैसे गुरु हैं और दयामय धर्म है, ऐसे श्रावकपने की कौन बुद्धिमान प्रशंसा नहीं करेगा ?

इस मोहाधीन संसार में जिस आत्मा को `श्रावक-धर्म' प्राप्त हुआ है, वह आत्मा भी बड़भागी है ।

तारक महावीर परमात्मा ने अपनी धर्मदेशना के माध्यम से श्रावकधर्म का जो स्वरूप समझाया, उसे गणधर भगवन्तों ने द्वादशांगी के अन्तर्गत उपासक-दशा सूत्र रूप में गूंथ लिया, जिसमें श्रावक धर्म का स्पष्ट स्वरूप हमें देखने, जानने व समझने को मिलता है ।

तत्पश्चात् अनेक पूर्वाचार्य महर्षियों ने भी **'श्रावक धर्म'** पर अनेक ग्रन्थो की रचना की है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

प्रस्तुत **'श्राद्धविधि'** ग्रन्थ के कर्ता तपागच्छीय **श्रीमद् रत्नशेखरसूरीश्वरजी महाराज** हैं । उनके जन्मस्थल, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख कहीं से भी नहीं मिले हैं । अतः उपा० धर्मसागरजी कृत **'तपागच्छ पट्टावली'** से प्राप्त जानकारी से ही सन्तोष करना पड़ेगा ।

उनका जन्म वि.सं.1457 में हुआ था । उनकी दीक्षा सं. 1463 में हुई थी । 26 वर्ष की लघुवय में उन्हें पण्डितपद, 36 वर्ष की उम्र में उपाध्याय पद तथा 45 वर्ष की वय में उन्हें आचार्यपद प्रदान किया गया था ।

स्तम्भनतीर्थ (खम्भात) में बाम्बी नाम के भट्ट ने उन्हें **'बाल सरस्वती'** का विरुद प्रदान किया था । उन्होंने बेदरपुर (दक्षिण) में ब्राह्मण भट्ट को शास्त्रार्थ में पराजित किया था ।

उनके शुभ सान्निध्य में जिनमन्दिर प्रतिष्ठा आदि अनेक शासन-प्रभावक कार्य सम्पन्न हुए थे ।

वि.सं.1517 पौष वद-6 के दिन उनका कालधर्म हुआ था ।

प्रस्तुत **'श्राद्धविधिप्रकरण'** ग्रन्थ के रचयिता पूज्य **रत्नशेखरसूरिजी महाराज** प्रतिभासम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान् थे । उन्होंने **'श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र'** पर अर्थदीपिका नामक टीका तथा **'आचारप्रदीप'** नामक ग्रन्थ की भी रचना की है ।

ग्रन्थकार महर्षि ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर श्राद्धविधि **कौमुदी** नामक अतिविस्तृत टीका की रचना वि.सं. 1506 में की है। यह टीका 6761 श्लोक प्रमाण है। मूल ग्रन्थ की रचना प्राकृत भाषा में है और उस पर विस्तृत टीका संस्कृत भाषा में है।

इस ग्रन्थ में उन्होंने श्रावक-जीवन का बहुत ही सुन्दर एवं विशद वर्णन किया है। प्रारम्भ में श्रावक के स्वरूप का वर्णन करने के बाद श्रावक के दिनकृत्य, रात्रिकृत्य, पर्वकृत्य, चातुर्मासिक कृत्य, वार्षिक कृत्य और जन्मकृत्यों का बहुत ही चित्ताह्लादक वर्णन किया है। प्रसंगानुसार उन्होंने अनेक प्रश्नों का अनेक शास्त्रों के साक्षीपाठ देकर युक्तिसंगत समाधान किया है।

श्रावकजीवन के प्रत्येक अंग-भोजन, व्यापार, लग्न, पारिवारिक जवाबदारी एवं चतुर्विध संघ के प्रति उत्तरदायित्व आदि का इतना विशद व स्पष्ट वर्णन हमें अन्य ग्रन्थों में देखने को कम मिलता है। कई बातों को उन्होंने अनेक प्राचीन एवं तत्कालीन दृष्टान्तों के माध्यम से भी समझाने का प्रयास किया है। जिनागम आदि पंचांगी तथा पूर्वाचार्यकृत लगभग 75 ग्रन्थों एवं वेद, पुराण स्मृति आदि अनेक शास्त्रपाठ हमें उनकी बहुश्रुतता का परिचय कराते है।

प्रस्तुत हिन्दी भावानुवाद

वि.सं. 2047 में जैन शासन की महान् प्रभावना करने वाले ऐतिहासिक तीन कार्य सम्पन्न हुए थे–

(1) पौष सुद-6 के मंगल दिन शत्रुंजय गिरिराज का भव्य अभिषेक।

(2) द्वि. वैशाख वद-6 के दिन अहमदाबाद में स्वर्गस्थ **पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** के पुनित सान्निध्य में आयोजित अतुलभाई की दीक्षा का भव्य कार्यक्रम।

(3) अत्यन्त समाधिपूर्वक देहत्याग करने वाले जिनशासन के महान् प्रभावक, **सुविशाल गच्छाधिपति पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** की आषाढ़ वद अमावस्या के दिन **'दर्शन'** बंगले से साबरमती तक की 22 कि.मी. की अन्तिम यात्रा।

वि.सं.2046 के पिंडवाड़ा चातुर्मास की समाप्ति के बाद शंखेश्वर महातीर्थ में सामुदायिक पौष दशमी के अट्ठम तप की आराधना कराकर पूज्य तपस्वी **मुनिश्री जिनसेनविजयजी महाराज** के साथ मैं भी गिरिराज के अभिषेक-प्रसंग पर पालीताणा पहुँचा था।

उस समय **'सौधर्म निवास'** धर्मशाला में **पूज्य मुनिश्री कुलचन्द्रविजयजी गणिवर्य** के सान्निध्य में नैनमलजी पिंडवाड़ावालों की ओर से गिरिराज की **'नवाणुयात्रा'** चल रही थी।

एक बार पूज्य गणिवर्यश्री से मिलने पर उन्होंने बात-ही-बात में **'श्राद्धविधि ग्रन्थ'** का हिन्दी भावानुवाद तैयार करने की प्रेरणास्पद दिशा दी।

पूज्य गणिवर्यश्री की इस प्रेरणा को प्राप्त कर **परम पूज्य वात्सल्यनिधि आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी महाराज साहेब** के पुनीत शुभाशीर्वाद से प्रायः पौष सुदी-13 के शुभ दिन मैंने इस महान् ग्रन्थ के हिन्दी भावानुवाद का कार्य प्रारम्भ किया।

उस समय पालीताणा में लगभग तीन मास की स्थिरता दरम्यान मेरी भी **'नवाणुयात्रा'** चालू होने से यद्यपि समय कम ही मिल पाता था, फिर भी जितना समय मिल पाता, उस समय में इस अनुवाद कार्य को मैं आगे बढ़ाता रहा । विहार आदि में भी इस कार्य को करता रहा । तत्पश्चात् उदयपुर चातुर्मास में **परम पूज्य वात्सल्यवारिधि जिनशासन के अजोड़ प्रभावक सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** की सतत कृपामयी अमीदृष्टि, मेरे संयम जीवन के सुकानी अध्यात्मयोगी **पूज्य गुरुदेव पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की कृपामयी दिव्यवृष्टि, **परम पूज्य सौजन्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा.** के शुभाशीर्वाद एवं **परम पूज्य वात्सल्यमूर्ति पंन्यासप्रवरश्री वज्रसेनविजयजी गणिवर्यश्री** की सत्प्रेरणा आदि के पुण्य प्रभाव से ही इस ग्रन्थ की मुख्य दो कथाओं को छोड़कर शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद का. शु.8, 2048 को पूर्ण करने में सक्षम बना था । तत्पश्चात् शेष दो कथाओं का अनुवाद भी उदयपुर से हालार की ओर विहार अवधि में पूरा किया था ।

इस ग्रन्थ के अनुवाद दरम्यान मैंने कुछ विषम स्थलों का अनुवाद छोड़ दिया था । उनके बाद इस अनुवाद के परिमार्जन हेतु मैंने यह सारी सामग्री **विद्वद्वर्य मुनिश्री यशोरत्नविजयजी महाराज** के पास भिजवा दी । उन्होंने पर्याप्त परिश्रमपूर्वक इस अनुवाद में रही क्षतिपूर्ति की । वे लिखते है कि इस अनुवाद के संशोधन आदि कार्य में **परम पूज्य मेवाड़देशोद्धारक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जितेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा., पूज्य मुनिश्री पुण्यरत्नविजयजी म.सा., मुनि श्री धर्मेशरत्नविजयजी म.** एवं **मुनिश्री धर्मरत्नविजयजी म.** का भी काफी सहयोग रहा है ।

इस प्रकार इस भगीरथ कार्य में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सहयोग देने वाले सभी का मैं अत्यन्त आभार मानता हूँ ।

ग्रन्थ के अनुवाद व मुद्रण आदि कार्य में **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी** का भी जो सराहनीय सहयोग रहा, उसे भी मैं कैसे भूल सकता हूँ ?

इस भावानुवाद के पठन-पठन द्वारा कोई एक भी श्रावक, अपने श्रावक-जीवन के कर्त्तव्य पालन में सुदृढ़ बनकर संयम के लिए उत्सुक बनकर मोक्षमार्ग में आगे कदम उठायेगा तो मैं अपना समस्त प्रयास सफल समझूंगा ।

अन्त में, मतिमन्दतादि दोष के कारण जिनाज्ञा एवं ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध कुछ भी लिखने में आया हो तो उसके लिए **त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।**

पन्नारूपा यात्रिक गृह,
पालीताणा
चैत्रपूर्णिमा, 2049

निवेदक
अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य-पादपद्मरेणु
मुनि रत्नसेनविजय
(वर्तमान में पू.आ.श्री रत्नसेनसूरि म.सा.)

'श्राद्धविधि' ग्रन्थ की टीका में साक्षीपाठ के रूप में

निर्दिष्ट ग्रन्थों की सूची

1. श्रावक प्रज्ञप्ति
2. ठाणांग सूत्र
3. ओघनिर्युक्ति
4. भगवती सूत्र
5. विवेकविलास
6. पंचाशक वृत्ति
7. श्राद्धदिनकृत्य
8. यति दिनचर्या
9. योगशास्त्र
10. प्रतिष्ठा पद्धति
11. ध्यानशतक
12. महानिशीथ
13. उपासकदशांग
14. व्यवहारभाष्य
15. स्वप्न चिन्तामणि
16. कल्पवृत्ति
17. श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र
18. पिण्डनिर्युक्ति
19. प्रवचनसारोद्धार
20. आचारांगसूत्रवृत्ति
21. पद्मचरित्र
22. भाष्य
23. नाग. पच्चक्खाण भाष्य
24. निशीथ चूर्णि
25. पन्नवणा सूत्र
26. विष्णुभक्ति चन्द्रोदय
27. व्यवहार भाष्य
28. अष्टक
29. उत्तरमीमांसा
30. षोडशक
31. निशीथ
32. चैत्य वन्दन भाष्य
33. पूजाविधि
34. बृहद्भाष्य
35. विचारसार प्रकरण
36. जीवाभिगम सूत्र
37. निशीथपीठ
38. ललित विस्तरा
39. वीरचरित्र
40. बृहद् शांतिस्तव
41. समरादित्य चरित्र
42. वीतरागस्तव
43. सम्यक्त्ववृत्ति
44. दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि
45. कामन्दकीय नीतिसार
46. मनुस्मृति
47. हितोपदेशमाला
48. आवश्यकचूर्णि
49. विचारामृत संग्रह
50. प्रतिक्रमणगर्भहेतु
51. अध्यात्मकल्पद्रुम
52. संघाचार वृत्ति
53. रायपसेणी सूत्र
54. आवश्यकनिर्युक्ति
55. वसुदेवहिंडी
56. पूजाप्रकरण
57. पद्मचरित्र
58. त्रिषष्टिचरित्र
59. कल्पभाष्य
60. दर्शनशुद्धि
61. आचारप्रदीप
62. सोमनीति
63. नीतिशास्त्र
64. पंचाख्यान
65. महाभारत
66. पाक्षिकचूर्णि
67. तीर्थोद्गार
68. आवश्यक वृत्ति
69. विष्णुपुराण
70. परिशिष्ट पर्व
71. श्राद्धजित कल्प
72. उत्तराध्ययनसूत्र
73. भविष्योत्तर पुराण
74. निरियावलीसूत्र

'श्राद्धविधि'-अनुक्रमणिका

विषय	पृ.सं.	विषय	पृ.सं.
प्रथम प्रकाश (1-200)		28. अनुष्ठान के भेद	78
1. मंगलाचरण	1	29. जिनमन्दिर की उचित चिन्ता	89
2. श्राद्धविधि ग्रन्थ के द्वार	2	30. विविध आशातनाएँ	90
3. श्रावक के 21 गुण	5	31. देवद्रव्य की वृद्धि	99
4. श्रावक का स्वरूप	7	32. उपदेश श्रवण से लाभ	116
5. श्रावक के व्रत-भंग (भेद)	8	33. ज्ञान और क्रिया का समन्वय	120
6. श्रावक के दिन-कृत्य	11	34. गोचरी-निमंत्रण	121
7. निद्रात्याग	11	35. ग्लान सेवा	123
8. नवकार गिनने की विधि	15	36. शास्त्र-अध्ययन	124
9. कायोत्सर्ग विधि	19	37. द्रव्य-उपार्जन	125
10. पच्चक्खाण का संकल्प	21	38. व्यापार-विधि	126
11. नियमग्रहण-विधि	23	39. आजीविका के सात उपाय	127
12. सचित्त-अचित्त और मिश्र वस्तुओं का स्वरूप	24	40. योग्य सेव्य कौन ?	130
13. पक्वान्न का काल नियम	27	41. व्यापार में व्यवहारशुद्धि	134
14. चौदह नियम	32	42. न्यास स्थापना	153
15. पच्चक्खाण विधि	33	43. आय के अनुसार व्यय	159
16. अशन, पान, खादिम व स्वादिम का स्वरूप	34	44. अन्य लोकविरुद्ध कार्य भी न करें	168
17. अणाहारी वस्तुएँ	35	45. धर्मविरुद्ध कार्य	169
18. जिनपूजा हेतु द्रव्यशुद्धि	37	46. उचित आचार	169
19. भाव-शुद्धि	46	47. मुर्ख के 100 लक्षण	184
20. जिनमन्दिर में प्रवेश	46	48. मध्याह्न पूजा व सुपात्रदान	192
21. पूजा के तीन प्रकार	52	49. सात्म्य (सात्त्विक) भोजन	195
22. पूजा के सत्रह भेद	62	50. संध्या कृत्य	199
23. इक्कीस प्रकार की पूजाएँ	63	**द्वितीय प्रकाश (200-213)**	
24. स्नात्र पूजा विधि	64	51. प्रतिक्रमण के पाँच भेद	202
25. प्रतिमा के विविध भेद	68	52. गुरु-सेवा	206
26. द्रव्यस्तव के भेद	73	53. शीलांगरथ का स्वरूप	206
27. भाव स्तव	75	54. स्वजन-उपदेश	208
		55. नीति-शास्त्र के अनुसार निद्राविधि	209

विषय	पृ.सं.	विषय	पृ.सं.
तृतीय प्रकाश (214-223)		65. विवाह	251
56. पर्व कृत्य	214	66. जिनमन्दिर निर्माणविधि	253
57. पर्व दिन	214	67. मन्दिर जीर्णोद्धार	254
58. तिथि की प्रामाणिकता	215	68. जिन-प्रतिमा	260
59. अहोरात्र पौषधविधि	217	69. प्रतिष्ठा-अंजनशलाका	263
चतुर्थ प्रकाश (224-229)		70. पुत्र-दीक्षा	264
60. चातुर्मासिक कृत्य	224	71. श्रुतज्ञान भक्ति	264
पंचम प्रकाश (229-244)		72. पौषधशाला	265
61. वार्षिक ग्यारह कृत्य	229	73. भाव श्रावक के लक्षण	266
छठा प्रकाश (245-271)		74. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ	268
62. जन्म कृत्य	245	75. अन्तिम आराधना	269
63. निवासस्थान	245	76. ग्रन्थकार की प्रशस्ति	271
64. विद्याग्रहण	251		

श्रावकधर्म-प्रतिपादक अन्य ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ		ग्रन्थकर्ता
श्रावकप्रज्ञप्ति	:	वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी
पंचाशक	:	श्री हरिभद्रसूरिजी
धर्मबिन्दु	:	श्री हरिभद्रसूरिजी
श्रावकधर्मविधि	:	श्री हरिभद्रसूरिजी
उपदेशपद	:	श्री हरिभद्रसूरिजी
धर्मरत्नप्रकरणम्	:	श्री शान्तिसूरिजी
श्राद्धदिनकृत्य	:	श्री देवेनेद्रसूरिजी
योगशास्त्र	:	श्री हेमचन्द्रसूरिजी
त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र	:	श्री हेमचन्द्रसूरिजी
धर्मविधिप्रकरणम्	:	श्री प्रभसूरिजी
उपदेशसप्ततिका	:	श्री सौधर्मगणि
श्राद्धगुण विवरण	:	श्री जिनमंडन गणि
श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति	:	श्री रत्नशेखरसूरिजी
आचारोपदेश	:	श्री लक्ष्मीसूरिजी

श्रीमत्तपोगणाधीशरत्नशेखराचार्य कृत

श्राद्धविधि प्रकरणम्

(कौमुदी टीका का भाषांतर)

1. मंगलाचरण

अर्हत्सिद्धगणीन्द्रवाचकमुनिप्रष्ठाः प्रतिष्ठास्पदं,
पञ्चश्रीपरमेष्ठिनः प्रददतां प्रोच्चैर्गरिष्ठात्मताम् ।
द्वैधान्पञ्च सुपर्वणां शिखरिणः प्रोद्दाममाहात्म्यत-
श्चेतश्चिन्तितदानतश्च कृतिनां ये स्मारयन्त्यन्वहम् ।।1।। (शार्दूलविक्रीडितछंद)

अपनी अपूर्व महिमा और मनोवांछित के दान से विद्वानों को प्रतिदिन पाँच मेरुपर्वत और पाँच प्रकार के कल्पवृक्षों •की इस प्रकार याद दिलाने वाले गौरवपात्र श्री अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु रूप पंचपरमेष्ठि-भगवन्त सर्वश्रेष्ठ आत्मदशा (मोक्ष) प्रदान करें ।

गणधर सहित वीर प्रभु, श्रुतवचन एवं सद्गुरुओं को प्रणाम कर स्वरचित **'श्राद्धविधि'** प्रकरण का कुछ विवेचन करता हूँ ।

टीका-प्रयोजन

युगप्रधान तपागच्छ-अग्रणी श्री सोमसुन्दर गुरुदेव की वाणी से तत्त्वों का बोध प्राप्त कर प्राणियों के हित के लिए प्रयत्न करता हूँ ।

मूलग्रन्थ का मंगलाचरण

सिरिवीरजिणं पणमिअ, सुआउ साहेमि किमवि सड्ढविहिं ।
रायगिहे जगगुरुणा, जह भणियं अभयपुट्ठेणं ।।1।। मूलगाथा - 1

राजगृही नगरी में अभयकुमार के पूछने पर वीर प्रभु ने श्रावकाचार (श्राद्धविधि) का जो वर्णन किया था, श्री वीर प्रभु को नमस्कार कर उसी श्राद्धविधि का श्रुतानुसार कुछ वर्णन करता हूँ ।

केवलज्ञान, अशोकवृक्ष आदि अष्ट महाप्रातिहार्य तथा वाणी के पैंतीस गुणों से युक्त चरम तीर्थंकर वीर प्रभु ने अपने पराक्रम से कर्मों को नष्ट किया है-इसलिए उनका **'वीर'** नाम सार्थक है । **कहा भी है–**

- `जो कर्मों को नष्ट करते हैं और तप से सुशोभित हैं, तप और वीर्य से युक्त होने के कारण **'वीर'** कहलाते हैं ।'
- राग आदि शत्रुओं को जीतने के कारण **'जिन'** कहलाते हैं ।
- वीर तीन प्रकार के होते हैं-दानवीर, युद्धवीर और धर्मवीर ।

जैसे कहा है–``करोड़ों स्वर्ण के (दान) द्वारा जगत् के दुःखदायी दारिद्र्य को दूर करके प्रभु

• पाँच दिव्य कल्पवृक्षों के नाम-1. कल्प 2. पारिजात. 3. मन्दार 4. हरिचन्दन और 5. सन्तानक ।

दानवीर बने । मोहादिवंश में उत्पन्न हुए गर्भस्थ (सत्ता में स्थित) शत्रुओं को भी समाप्त कर प्रभु युद्धवीर बने और निःस्पृह मन से केवलज्ञान में हेतुभूत तप करके प्रभु धर्मवीर बने; इस प्रकार तीनों प्रकार से वीर के यश को धारण करने वाले श्री वीर तीर्थपति विजय को प्राप्त हों ।''

मूल श्लोक में **'श्रीवीरजिन'** पद से प्रभु के चारों अतिशय (अपायापगमातिशय, पूजातिशय, ज्ञानातिशय और वचनातिशय) सूचित हो जाते हैं ।

2. श्राद्धविधि ग्रन्थ के द्वार

ग्रन्थ के द्वारः

दिण-रत्ति-पव्व-चउमासग-वच्छर-जम्मकिच्च-दाराइं ।

सड्ढाणणुग्गहट्ठा, सड्ढविहिए भणिज्जंति ।।2।। मूलगाथा - 2

श्रावकजन के अनुग्रह (उपकार) के लिए श्राद्धविधि ग्रन्थ में दिनकृत्य, रात्रिकृत्य, पर्वकृत्य, चातुर्मासिककृत्य और जन्मकृत्य रूप छह द्वार कहे जायेंगे ।

सड्ढत्तणस्स जुग्गो, भद्दगपगई विसेसनिउणमई ।

नयमग्गरई, तह दढनियवयणठिई विणिद्दिट्ठो ।।3।। मूलगाथा - 3

भावार्थ : 1 भद्रप्रकृति, 2 विशेष निपुणमति, 3 न्यायमार्गरति तथा 4 दृढ़निजवचनस्थिति; ऐसा पुरुष श्रावकत्व के योग्य है ।।3।।

धर्म के योग्य :

इसमें 1 भद्रप्रकृति-भद्रस्वभाववाला, किसी भी प्रकार का पक्षपात न रखकर मध्यस्थ रहना आदि गुणों को धारण करनेवाला होने से निष्कारण विवाद न करनेवाला । कहा है कि–

धर्म के अयोग्य :

रत्तो दुट्ठो मूढो पुव्वं वुग्गहिओ अ चत्तारि ।

एए धम्माणरिहा अरिहो पुण होई मज्झत्थो ।।

योग्य व्यक्ति को ही विद्या, राज्य तथा धर्म देना चाहिए, अतः मंगल का कथन करने के बाद अब श्राद्ध (श्रावक) धर्म के योग्य कौन है, इसका कथन करते हैं-

1. भद्र प्रकृति 2. विशेष निपुणमति 3. न्यायमार्गरति और 4. निजवचन में दृढ़ता-इन चार गुणों से युक्त व्यक्ति को सर्वज्ञ भगवन्तों ने श्रावकधर्म के योग्य कहा है । **कहा भी है**–'रक्त (रागी), दुष्ट (द्वेषी), मूढ़ और पूर्व में व्युद्ग्राहित-ये चार धर्म के लिए अयोग्य हैं और जो मध्यस्थ है, वह धर्म के लिए योग्य है ।'

(1) रक्त अर्थात् दृष्टिरागी । उदाहरणतः भुवनभानु केवली का जीव पूर्व भव में राजपुत्र विश्वसेन त्रिदण्डी का अत्यन्त भक्त था । सद्गुरु ने अत्यन्त कठिनाई से उसे प्रतिबोध दिया । धर्म में दृढ़ होने पर भी उसने पूर्व परिचित त्रिदण्डी की वाणी को सुनने से दृष्टिरागी बन कर सम्यक्त्व का त्याग कर दिया और अनन्त भवों तक संसार में भटका । अतः जो दृष्टिरागी है, वह धर्म के लिए अयोग्य है ।

(2) द्वेषी अर्थात् तीव्र द्वेष वाला-भद्रबाहु के भाई वराहमिहिर की भाँति ।

(3) मूढ़ अर्थात् वचन के भाव को नहीं समझने वाला ।

मुर्ख-धर्म के लिए अयोग्य

एक ग्रामीण युवक राजसेवा के लिए जाने लगा । तब उसकी माता ने उसे विनय करने के लिए समझाया । उसने पूछा-``विनय कैसे करना ?''

माँ ने कहा, ``नीचे देखकर चलना, राजा की इच्छानुसार चलना और नमस्कार करना'' उसे विनय कहते हैं ।

वह युवक राजसेवा के लिए अपने घर से निकल पड़ा । बीच मार्ग में कुछ शिकारी हरिणों के वध के लिए छिपकर बैठे हुए थे, तभी उस युवक ने जोर से बोलकर जुहार (नमस्कार) किया । उसकी आवाज सुनकर हरिण एकदम भाग गये । हरिणों को भागते देख उन शिकारियों ने उस ग्रामीण युवक को पीटा । सत्य बात कहने पर उन शिकारियों ने उसे समझाया कि ऐसे प्रसंग में गुप्त रूप से जाना चाहिए ।

आगे बढ़ने पर वह युवक धोबियों को देखकर चोर की भाँति धीमी गति से चलने लगा । कुछ समय पूर्व ही इन धोबियों के कपड़ों की चोरी हो गई थी, अतः उस युवक को इस प्रकार धीमी गति से चलते देखकर उनके मन में चोर की भ्रान्ति हुई...उन्होंने उसको पकड़ कर बाँध दिया । सत्य बात कहने पर उन धोबियों ने कहा-ऐसे प्रसंग पर तो `धोकर शुद्ध हो' ऐसा कहना चाहिए ।

वह युवक आगे बढ़ा । थोड़ी दूरी पर कुछ किसान खेत में बीज बो रहे थे । आकाश में बादल छाये हुए थे । उन्हें देखकर उस युवक ने कहा, **`धोकर साफ हो जाओ'**, अपशकुन की बुद्धि से किसानों ने भी पकड़ कर उसकी पिटाई की । सत्य बात कहने पर उन किसानों ने कहा-`ऐसे प्रसंग पर तो `बहुत-बहुत हो' ऐसा कहना चाहिए । इस बात को ध्यान में रखकर वह युवक आगे बढ़ा ।

आगे बढ़ने पर उसने एक मृतक को श्मशान घाट की ओर ले जाते हुए देखा । उस श्मशानयात्रा को देखकर वह ग्रामीण युवक जोर से बोला-**`ऐसा प्रसंग बहुत बार हो ।'** इन शब्दों को सुनकर अपशकुन की बुद्धि से लोगों ने उसकी पिटाई की । सत्य बात कहने पर उन लोगों ने समझाया कि ऐसे प्रसंग पर तो **`यह प्रसंग कभी न हो'** ऐसा बोलना चाहिए ।

कुछ ही दूरी पर लग्न का प्रसंग चल रहा था । उसे देखकर वह युवक बोला-`ऐसा प्रसंग कभी न हो ।' युवक के इन शब्दों को सुनकर लोगों को बड़ा गुस्सा आया । उन्होंने उसकी पिटाई कर दी । सत्य बात कहने पर लोगों ने उसे समझाया कि ऐसे प्रसंग पर तो **`यह प्रसंग हमेशा हो'** ऐसा कहना चाहिए ।

आगे बढ़ने पर उसने एक पुरुष के हाथ-पैरों में बेड़ियाँ डलते हुए देखी । उसे देखकर वह युवक बोला, **`ऐसा प्रसंग निरन्तर हो ।'** इन शब्दों को सुनते ही उस कैदी के सम्बन्धियों को बड़ा गुस्सा आया, उन्होंने युवक को खूब मारा । सत्य कहने पर लोगों ने उसे समझाया कि ऐसे प्रसंग पर **`जल्दी मुक्त बनो (अलग पड़ो)'** ऐसा कहना चाहिए ।

आगे बढ़ने पर उस युवक ने दो पुरुषों को परस्पर दोस्ती करते हुए देखा । उन्हें देखकर उसने जोर से कहा, **`जल्दी अलग पड़ो ।'** इन शब्दों को सुनते ही उन लोगों को गुस्सा आया और उन्होंने उसकी पिटाई कर दी । सत्य बात कहने पर लोगों ने उसे मुक्त कर दिया ।

आगे बढ़ते हुए वह किसी गाँव में पहुँचा और वहाँ एक कोतवाल के घर नौकरी करने लगा । एक बार दुष्काल के समय में उस कोतवाल के घर राब बनाई गई ।

कोतवाल किसी कार्यवश गाँव के चौंटे पर गया हुआ था । वहाँ पर काफी लोग थे । उसी समय वह युवक वहाँ पहुँच गया और जोर से बोला,-``चलो, घर चलो...राब ठण्डी हो जाएगी ।'' उस युवक के इन शब्दों को सुनकर वह कोतवाल शर्मिन्दा हुआ । घर आकर उसने उस युवक की बहुत पिटाई की और उसे समझाया कि ऐसी बात तो एकान्त देखकर धीरे से करनी चाहिए ताकि कोई सुन न ले ।

एक बार कोतवाल के घर में आग लग गई । उस समय कोतवाल चौंटे पर गया हुआ था । आग लगने की खबर देने के लिए वह युवक उस कोतवाल के पास आया, परन्तु उसने कोतवाल के आसपास बहुत से लोगों को देखा । भीड़ को देखकर वह एकान्त में खड़ा हो गया और सब लोगों के चले जाने पर कोतवाल के कान में धीरे से कहने लगा, **``घर में आग लग गई है ।''**

यह सुनते ही कोतवाल ने कहा, ``अरे ! इस बात में इतनी देरी क्यों की ? ऐसे प्रसंग पर तो तुरन्त ही धूल-मिट्टी और पानी डालकर आग को तुरन्त बुझा देना चाहिए । ''

कुछ समय बाद एक बार कोतवाल स्नान कर रहे थे । बालों को सुगन्धित करने के लिए कुछ धूप जलाया गया । उस धुएँ को देखकर उस ग्रामीण युवक ने तुरन्त ही कोतवाल के ऊपर कचरा आदि फेंक दिया ।

उसके इस मूर्खतापूर्ण व्यवहार को देखकर कोतवाल को अत्यन्त गुस्सा आ गया । उसने उसकी पिटाई की और मूर्ख समझ कर उसे घर से निकाल दिया ।

इस प्रकार वचन के रहस्य को नहीं समझने वाला मूर्ख व्यक्ति धर्म-प्राप्ति या धर्मोपदेश के लिए अयोग्य कहा गया है ।

(4) पहले से व्युद्ग्राहित व्यक्ति भी धर्म के लिए अयोग्य कहा गया है । जैसे-गोशाले के नियतिवाद से व्युद्ग्राहित व्यक्ति धर्मबोध के लिए अयोग्य कहे गए हैं ।

उपर्युक्त चारों दोषों से युक्त व्यक्ति धर्म के लिए अयोग्य कहे गये हैं ।

धर्म के लिए योग्य

1) जो तीव्र राग-द्वेष से रहित है और मध्यस्थ है, ऐसी भद्रक प्रकृति वाला व्यक्ति आर्द्रकुमार आदि की तरह धर्म के लिए योग्य कहा गया है ।

2) हेय-उपादेय के भेद को समझने के लिए जो विशिष्ट बुद्धि वाले हैं, परन्तु पूर्वोक्त दृष्टान्त में कहे गए ग्रामीण युवक की तरह मूढ़ बुद्धि वाले नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति धर्म के लिए योग्य कहे गये हैं ।

(3) न्यायमार्ग (व्यवहारशुद्धि के अधिकार में जिसका वर्णन किया जायेगा) में जिसको प्रीति है, ऐसे व्यक्ति धर्म के लिए योग्य कहे गये हैं ।

(4) अपने वचन में जो दृढ़प्रतिज्ञ हैं, किन्तु शिथिल नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति धर्म के लिए योग्य कहे गये हैं ।

इन चारों गुणों में आगम में निर्दिष्ट श्रावक के इक्कीस गुणों का भी संग्रह हो जाता है ।

3. श्रावक के 21 गुण

धम्मरयणस्स जुग्गो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो ।
लोगप्पिओ अक्कूरो, भीरू असढो सदक्खिण्णो ।।1।।

लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोमदिट्ठि गुणरागी ।
सक्कह सुपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू ।।2।।

वुड्ढाणुगो विणीओ, कयण्णुओ परहिअत्थकारी अ ।
तह चेव लद्धलक्खो, इगवीसगुणेहिं संजुत्तो ।।3।।

1. **अक्षुद्र :-** गम्भीर हो किन्तु तुच्छ हृदय वाला नहीं हो ।
2. **रूपवान :-** जिसकी पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण हों ।
3. **प्रकृतिसौम्य :-** स्वभाव से शान्त हो, पाप कर्म से दूर रहने वाला हो और सेवक वर्ग के लिए सुखपूर्वक सेव्य हो ।
4. **लोकप्रिय :-** दान, शील तथा विनय आदि से युक्त हो ।
5. **अक्रूर :-** जिसका चित्त ईर्ष्याग्रस्त न हो ।
6. **भीरु :-** पाप तथा लोकनिन्द्य कार्य करने में जिसे भय लगता हो ।
7. **अशठ :-** जो दूसरों को नहीं ठगता हो ।
8. **सदाक्षिण्य :-** दूसरे की प्रार्थना का भंग करने वाला न हो ।
9. **लज्जालु :-** अकार्य का त्याग करने वाला हो ।
10. **दयालु :-** सभी पर दया करने वाला हो ।
11. **मध्यस्थ :-** राग-द्वेष से रहित हो । अतः साम्यदृष्टि वाला होने से धर्म के बारे में बराबर विचार करके दोषों को त्यागने वाला हो ।
12. **गुणरागी :-** गुणवान का पक्ष करने वाला और गुणहीन की उपेक्षा करने वाला हो ।
13. **सत्कथ :-** धर्म सम्बन्धी वार्तालाप ही जिसे प्रिय हो ।
14. **सुपक्षयुक्त :-** सुशील और अनुकूल परिवार से युक्त हो ।
15. **सुदीर्घदर्शी :-** कार्य करने से पहले दीर्घदृष्टि से विचार करने वाला एवं अधिक लाभ और अल्प हानि के कार्य को करने वाला हो ।
16. **विशेषज्ञ :-** पक्षपात रहित होने से जो गुण-दोष के अन्तर को समझने वाला हो ।
17. **वृद्धानुसारी :-** आचारवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध का अनुसरण करने वाला हो ।

18. **विनीत :-** गुणीजनों का बहुमान करने वाला हो ।

19. **कृतज्ञ :-** दूसरों के द्वारा स्वयं पर हुए उपकार को भूलने वाला न हो ।

20. **परहितार्थकारी** निःस्पृह भाव से दूसरों का उपकार करने वाला हो ।

21. **लब्धलक्ष्य :-** धर्मकार्यों में पूर्णतया शिक्षित हो ।

भद्रकप्रकृति आदि उपर्युक्त चार गुणों की प्राप्ति होने पर प्रायः इन इक्कीस गुणों की भी प्राप्ति हो जाती है ।

निम्नलिखित प्रकार से इन चार गुणों में इक्कीस गुणों का समावेश कर सकते हैं–

(1) **भद्रकप्रकृति** गुण में 1. अक्षुद्रता 2. प्रकृतिसौम्य 3. अक्रूरत्व 4. दाक्षिण्य 5. दयालुता 6. मध्यस्थ-साम्यदृष्टि 7. वृद्धानुसारिता तथा 8. नम्रता-इन आठ गुणों का समावेश हो जाता है ।

(2) **विशेषनिपुणमति** गुण में 1. पंचेन्द्रियपूर्णता 2. दीर्घदर्शिता 3. विशेषज्ञता 4. कृतज्ञता 5. परोपकारिता तथा 6. लब्धलक्ष्यता आदि छह गुणों का समावेश होता है ।

(3) **न्यायमार्ग में रति** गुण में 1. पापभीरुता 2. शठता 3. लज्जा 4. गुणानुराग तथा 5. सत्कथा इत्यादि पाँच गुणों का समावेश हो जाता है ।

(4) **निजवचन में दृढ़स्थिति** गुण में 1. लोकप्रियता तथा 2. सुपक्षयुक्तता गुण का समावेश हो जाता है ।

इन चार गुणों में से प्रथम तीन गुणों से रहित पुरुष कदाग्रह से ग्रस्त होने के कारण, मूढ़ होने के कारण तथा दुर्नय में आसक्त होने के कारण श्रावकधर्म की प्राप्ति के योग्य नहीं हैं ।

दृढ़प्रतिज्ञत्व रूप चौथे गुण से रहित पुरुष श्रावकधर्म को स्वीकार तो करता है, परन्तु धूर्त की मैत्री, पागल व्यक्ति के सुन्दर वेष तथा बन्दर के गले में डाले गये हार की तरह वह अल्प काल ही टिकता है ।

जिस प्रकार सुन्दर व चिकनी दीवार पर चित्र दीर्घकाल तक टिकता है, मजबूत नींव के आधार पर महल दीर्घकाल तक टिकता है तथा सुघटित स्वर्ण के आभूषण के बीच माणिक्य रत्न दीर्घकाल तक टिकता है, उसी प्रकार उपर्युक्त चारों गुणों से युक्त श्रावक में ही शुद्धधर्म टिक सकता है अर्थात् इन चारों गुणों से युक्त श्रावक ही शुद्धधर्म का अधिकारी है ।

चुल्लक आदि दस दृष्टान्तों से दुर्लभ ऐसा सम्यग्दर्शन भी सद्गुरु का योग मिलने पर प्राप्त हो जाता है । ●

4. श्रावक का स्वरूप

नामाइ चउभेओ, सड्ढो भावेण इत्थ अहिगारो ।
तिविहो अ भावसड्ढो, दंसण-वय-उत्तरगुणेहिं ।।4।। मूलगाथा - 4

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से श्रावक के चार प्रकार हैं–

1. **नामश्रावक :-** श्रावक के गुणों से रहित हो किन्तु जिसका नाम **'श्रावक'** हो वह नाम श्रावक है । जैसे- किसी का नाम **'ईश्वर'** रखा हो किन्तु वास्तव में वह दरिद्र हो ।
2. **स्थापनाश्रावक :-** किसी श्रावक की काष्ठ अथवा पाषाण से बनी हुई प्रतिमा को **'स्थापना श्रावक'** कहते हैं ।
3. **द्रव्यश्रावक :-** भावरहित श्रावक की क्रिया करने वाला द्रव्यश्रावक कहलाता है । जैसे-चंडप्रद्योत राजा के आदेश से अभयकुमार को बन्धनग्रस्त करने के लिए वेश्या ने श्राविका के बाह्य आचार का पालन किया था ।
4. **भावश्रावक :-** भावपूर्वक श्रावक के आचार-पालन में तत्पर रहने वाला भावश्रावक कहलाता है ।

नाम, स्थापना और द्रव्य गाय से जिस प्रकार दूध की प्राप्ति नहीं होती है, उसी प्रकार नाम, स्थापना और द्रव्य श्रावक मुक्ति के साध्य को सिद्ध नहीं कर पाते हैं, अतः उनका वर्णन निष्प्रयोजन होने से इस ग्रन्थ में भावश्रावक के स्वरूप का वर्णन किया जाएगा ।

भावश्रावक के भेद

भावश्रावक के तीन भेद हैं-1. दर्शनश्रावक 2. व्रतश्रावक 3. उत्तरगुण श्रावक ।

1. **दर्शनश्रावक :-** केवल सम्यक्त्व को धारण करने वाला चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती श्रावक दर्शनश्रावक कहलाता है । जैसे-श्रेणिक, कृष्ण आदि ।
2. **व्रतश्रावक :-** सम्यक्त्व सहित पाँच अणुव्रतों को धारण करने वाला व्रतश्रावक कहलाता है ।

सुरसुन्दर कुमार की पाँच स्त्रियों की कथा

सुरसुन्दरकुमार के पाँच स्त्रियाँ थीं । वह गुप्त रूप से उनके चरित्र को देखता था । एक बार कोई मुनि भगवन्त गोचरी के लिए पधारे ।

मुनि भगवन्त ने उन स्त्रियों को उपदेश देते हुए कहा-``मेरी पाँच प्रतिज्ञाएँ स्वीकार करोगी तो तुम्हारे सब दुःख दूर होंगे ।'' मुनि की यह बात सुनकर गुप्त रूप से रहे सुरसुन्दर को गुस्सा आ गया और उसने मुनि के पाँच अंगों पर पाँच-पाँच प्रहार करने का निश्चय कर लिया ।

इसी बीच उन स्त्रियों ने पूछा-``आप कौनसी प्रतिज्ञाएँ स्वीकार कराना चाहते हैं ?''

मुनि ने कहा-``किसी भी निरपराध त्रस जीव को खत्म करने की बुद्धि से नहीं मारना ।''

इस बात को दृष्टान्तपूर्वक समझाने पर सभी स्त्रियों ने प्रथम अणुव्रत (प्रतिज्ञा) स्वीकार किया ।

यह बात सुनकर सुरसुन्दर ने सोचा, ``अहो ! इस महात्मा ने तो मेरी स्त्रियों को सुन्दर शिक्षा दी है-इस प्रतिज्ञा के कारण प्रसंगवश कुपित होने पर भी ये स्त्रियाँ मुझे तर्जना नहीं करेंगी'' इस प्रकार विचार कर सुरसुन्दर ने महात्मा को एक प्रहार कम करने का अर्थात् चार ही प्रहार करने का संकल्प किया ।

पुनः महात्मा के मुख से क्रमशः झूठ, चोरी, अब्रह्म एवं परिग्रह के संदर्भ में समुचित प्रतिज्ञाओं की बातें सुनकर पाँचों स्त्रियों ने शेष चारों अणुव्रत भी स्वीकार किये । इन बातों से सुरसुन्दर प्रसन्न होता गया और एक-एक प्रहार कम करता गया ।

अन्त में, सुरसुन्दर को लगा कि ये महात्मा तो निष्कामभाव से परोपकार करने वाले हैं, अतः पूज्य हैं । इस प्रकार विचार करते हुए उसने सोचा-``अहो ! मैं पापी हूँ । मैंने गलत विचार किया है ।''

इस प्रकार पश्चाताप कर वह तत्काल मुनि भगवन्त के पास गया और उनसे नमस्कारपूर्वक अपने अपराध की क्षमायाचना कर पाँचों स्त्रियों के साथ संयम धारण कर, आयु का अन्त होने पर स्वर्ग गया ।

इस प्रकार स्वेच्छा अथवा किसी की प्रेरणा से व्रत लेने वाला व्रतश्रावक कहलाता है ।

3. **उत्तरगुण श्रावक :-** श्रावक के पाँच अणुव्रतों के साथ-साथ तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को धारण करने वाला उत्तरगुण श्रावक कहलाता है । जैसे-सुदर्शन सेठ ने सम्यक्त्व सहित बारह व्रत ग्रहण किये थे ।

व्रतश्रावक एवं उत्तरगुण श्रावक

1. **व्रतश्रावक :-** सम्यक्त्व सहित एक, दो, तीन से लेकर बारह व्रत तक ग्रहण करने वाला व्रतश्रावक कहलाता है ।
2. **उत्तरगुणश्रावक :-** सम्यक्त्व सहित बारह व्रतधारी, सर्वथा सचित्तपरिहारी, एकाहारी (एक बार भोजन करने वाला), तिविहार-चोविहार का पच्चक्खाण करने वाला, ब्रह्मचारी, भूमिशयनकारी, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को वहन करने वाला तथा अन्य अनेकविध अभिग्रहों को धारण करने वाला उत्तरगुण श्रावक कहलाता है; जैसे-आनन्द, कामदेव, कार्तिकसेठ आदि ।

5. श्रावक के व्रत-भंग (भेद)

उत्तरगुणधारी एवं अविरत श्रावक रूप दो भेद सहित, द्विविध (करना-कराना), त्रिविध (मन, वचन, काया) आदि भंगों से योजित बारह व्रतों के एकसंयोगी, द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी, चतुष्कसंयोगी आदि भंगों से श्रावक के बारह व्रतों के तेरह सौ चौरासी करोड़, बारह लाख, सत्यासी हजार, दो सौ (13841287200) भंग होते हैं । एक उत्तरगुणधारी एवं एक केवल सम्यक्त्वधारी के दो भंग मिलाने पर 13841287202 भंग होते हैं । यहाँ पर उत्तरगुण यानी विविध तप और अभिग्रह; इन भंगों का विस्तार लोकप्रकाश के तीसवें सर्ग में है ।

प्रश्न :- श्रावक के उपर्युक्त भंगों में मन, वचन और काया के करण एवं करावण के ही भंगों का समावेश किया गया है-अनुमोदन के नहीं । ऐसा क्यों ?

उत्तर :- श्रावक के सभी पच्चक्खाण द्विविध-त्रिविध भंग के ही (छह कोटि) होते हैं त्रिविध-त्रिविध (नवकोटि) के नहीं ।

श्रावक के लिए, व्रत लेने के पूर्व स्वयं अथवा पुत्र आदि के द्वारा प्रारम्भ किये गये व्यापार आदि में लाभ होने पर उसके अनुमोदन का त्याग शक्य नहीं है । इसी कारण श्रावक के व्रतों में अनुमोदन का पच्चक्खाण नहीं होता है ।

फिर भी **'प्रज्ञप्ति'** आदि ग्रन्थों में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का आश्रय कर श्रावक के लिए विशेष पच्चक्खाण के रूप में त्रिविध-त्रिविध का भी विधान किया गया है । जैसे-कोई दीक्षा का अभिलाषी हो परन्तु पुत्र आदि सन्तति के पालन के कारण उसे विलम्ब होता हो और इस कारण प्रतिमा स्वीकार करता हो अथवा कोई स्वयम्भूरमण समुद्र आदि में रहे मत्स्यों के मांस आदि या मनुष्यक्षेत्र से बाहर स्थूल हिंसादि का त्याग करता है अथवा अवस्था विशेष से प्रत्याख्यान करता है तो वह त्रिविध-त्रिविध पच्चक्खाण कर सकता है, किन्तु वह पच्चक्खाण अल्पवस्तु विषयक होने के कारण उसकी विवक्षा नहीं की गई है ।

महाभाष्य में भी कहा गया है-कुछ आचार्यों का ऐसा भी मत है कि गृहस्थों को त्रिविध-त्रिविध पच्चक्खाण नहीं है । परन्तु **प्रज्ञप्तिसूत्र** में निम्नलिखित कारण उपस्थित होने पर श्रावकों को त्रिविध-त्रिविध पच्चक्खाण करने का विधान किया गया है ।

`कुछ आचार्यों का कथन है कि किसी गृहस्थ को दीक्षा की इच्छा हो किन्तु किसी कारण अथवा किसी के आग्रह से पुत्र आदि संतति के पालन के लिए काल-विलम्ब करना पड़े तो श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा-वहन के समय जो कुछ भी त्रिविध-त्रिविध पच्चक्खाण करना पड़े तो उन्हें करने की छूट है ।'

विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि बिना प्रयोजन वाली वस्तु अर्थात् कौए आदि के मांस का पच्चक्खाण, अप्राप्य वस्तु अर्थात् मनुष्यक्षेत्र से बाहर रहे हाथीदांत अथवा चीते आदि के चर्म तथा स्वयम्भूरमण समुद्र में उत्पन्न मत्स्यों के मांस-भक्षण आदि का पच्चक्खाण त्रिविध-त्रिविध करने की छूट है ।

श्रावकों के अन्य भेद

ठाणांग (स्थानांग) सूत्र में श्रावक चार प्रकार के कहे गये हैं-

1. माता-पिता के समान, 2. भाई के समान, 3. मित्र के समान और 4. सौत के समान

अथवा

1. दर्पण के समान, 2. पताका के समान, 3. स्थाणु के समान और 4. खरंटक के समान ।

प्रश्न :- इन भेदों का नाम आदि चार भेदों में से किस भेद में अवतरण कर सकते हैं ?

उत्तर :- व्यवहार नय के मत से तो तद्रूप व्यवहार होने से वे **भावश्रावक** कहलाते हैं परन्तु निश्चय नय के मत से वे सौत के समान और खरंटक के समान मिथ्यादृष्टि जैसे होने से द्रव्यश्रावक हैं और शेष भावश्रावक हैं । **कहा भी है–**

- साधु के कार्य आदि करते हों, साधु के प्रमादाचरण को देखकर भी जो साधु पर स्नेहरहित नहीं बनते हों, यतिजन पर सदा वत्सल रहते हों, ऐसे श्रावक **'माता-पिता'** के समान कहलाते हैं ।
- साधु के विनय-कर्म में मन्द आदर वाला हो परन्तु हृदय में स्नेहभाव रखता हो एवं आपत्ति के समय सहायता करने वाला हो, ऐसा श्रावक **'भाई'** के समान कहलाता है ।
- बिना पूछे काम करने वाले मुनि पर जो गुस्सा करता है, किन्तु स्वजन से भी साधु की अधिक कीमत करता है, ऐसा श्रावक **'मित्र'** के समान कहलाता है ।
- स्वयं अभिमानी हो, सदैव साधु के छिद्र ही देखता हो और कुछ भी छिद्र दिखने पर हमेशा जोर से चिल्लाता हो और साधु को तृण समान गिनता हो, ऐसा श्रावक **'सौत'** (सपत्नी) के समान श्रावक कहलाता है ।

द्वितीय चतुष्क के श्रावक

- गुरु के द्वारा कहे गये सूत्र और अर्थ को उसी रूप में हृदय में धारण करता हो, ऐसे श्रावक को शास्त्र में **'दर्पण'** के समान सुश्रावक कहा गया है ।
- पवन से अस्थिर ध्वजा की तरह जो मूढ़जनों से भ्रमित हो जाता हो और गुरु के वचन पर जो विश्वास नहीं रखता हो, उसे **'पताका'** समान श्रावक कहते हैं ।
- गीतार्थ के समझाने पर भी जो अपने कदाग्रह को नहीं छोड़ता हो परन्तु मुनिजन पर द्वेष नहीं करता हो, उसे **'स्थाणु'** समान श्रावक कहते हैं ।
- सच्ची बात कहने पर भी जो अपने गुरु को ``तुम उन्मार्गदर्शक हो, निह्नव हो, मूढ़ हो और मन्दधर्मी हो''-इस प्रकार दुर्वचन रूप मल से बिगाड़ता हो, उसे **'खरंटक'** समान श्रावक कहते हैं । जिस प्रकार प्रवाही अशुचि पदार्थ को छूने से ही मनुष्य का शरीर बिगड़ता है उसी प्रकार हितशिक्षा देने वाले को ही जो ठपका देता है, उसे **'खरंटक'** समान श्रावक कहते हैं ।

  निश्चयनय मत से खरंटक और सपत्नी (सौत) श्रावकों को मिथ्यात्वी कहा गया है, परन्तु जिनमन्दिर-दर्शन आदि के कारण उन्हें व्यवहारनय से श्रावक कहा गया है ।

श्रावक शब्द का अर्थ

स्रवन्ति यस्य पापानि, पूर्वबद्धान्यनेकशः ।
आवृतश्च व्रतैर्नित्यं, श्रावकः सोऽभिधीयते ।।1।।

संपत्तदंसणाई, पइदिअहं जइजणा सुणेइ अ ।
सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं बिंति ।।2।।

श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तनाद्धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम् ।
किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवनादतोऽपि तं श्रावकमाहुरुत्तमाः ।।3।।

श्रद्धालुतां श्राति श्रृणोति शासनं, दानं वपत्याशु वृणोति दर्शनम् ।
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहरमी विचक्षणाः ।।4।।

अर्थ : दान, शील, तप और भावना आदि शुभ योग से जो आठ प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है अथवा जो साधुओं के पास सम्यग् सामाचारी का श्रवण करता है, उसे **'श्रावक'** कहते हैं । श्रावक शब्द का यह अर्थ भावश्रावक में ही घटता है । जैसे–

1. जिसके पूर्वोपार्जित पापकर्म क्षीण होते रहते हैं और जो नित्य व्रतों से युक्त है, वह **श्रावक** कहलाता है ।

2. सम्यक्त्व आदि से युक्त और प्रतिदिन साधुजन की सामाचारी का श्रवण करने वाला **श्रावक** कहलाता है ।

3. तत्त्वों के चिन्तन से अपनी श्रद्धा को दृढ़ करता है । निरन्तर पात्र में धन का वपन करता है और सुसाधुजन की सेवा के द्वारा पाप का नाश करता है, उसे **श्रावक** कहते हैं । **अथवा**

श्रद्धा को दृढ़ करता है, प्रवचन का श्रवण करता है, दान देता है, सम्यग्दर्शन से युक्त होता है, पाप का नाश करता है और संयम का आचरण करता है, उसे विचक्षण पुरुष **श्रावक** कहते हैं ।

`जिसकी सच्चे धर्म में दृढ़ श्रद्धा है, वह श्राद्ध (श्रावक) कहलाता है ।' यह श्राद्ध शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।

6. श्रावक के दिन कृत्य

नवकारेण विबुद्धो, सरेइ सो सकुलधम्मनियमाई ।
पडिक्कमिअ सुई पूइअ, गिहे जिणं कुणइ संवरणं ।।5।। मूलगाथा - 5

7. निद्रात्याग

'नमो अरिहंताणं' आदि पदों के स्मरण से जागृत बना हुआ श्रावक अपने कुल के योग्य धर्मकृत्य-नियम आदि को याद करता है ।

विशेषार्थ-प्रारम्भ से ही श्रावक को स्वल्प निद्रा वाला होना चाहिए । एक प्रहर रात्रि शेष रहने पर अथवा उससे कुछ कम शेष रहने पर निद्रा का त्याग करना चाहिए । इस प्रकार करने से इस लोक और परलोक सम्बन्धी अनेक कार्यों की सिद्धि होती है । ऐसा न करे तो उपर्युक्त लाभ नहीं होते हैं ।

लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि कर्मकर (नौकर आदि) लोग यदि जल्दी उठेंगे तो उन्हें धन की प्राप्ति होगी । धर्मी लोग यदि जल्दी उठेंगे तो उन्हें पारलौकिक (प्रतिक्रमण आदि) कृत्यों का लाभ मिलेगा । **जो लोग सूर्योदय होने पर भी नहीं उठते हैं, उन्हें बुद्धि और आयुष्य की हानि होती है ।**

अतिनिद्रा के स्वभाव के कारण यदि बहुत जल्दी उठना शक्य न हो तो भी कम-से-कम चार घड़ी (96 मिनट) रात्रि शेष रहने पर-ब्राह्ममुहूर्त्त में तो नवकार के स्मरणपूर्वक अवश्य उठ जाना चाहिए ।

उठने के बाद द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का उपयोग करना चाहिए । जैसे-द्रव्य से `मैं कौन हूँ ?' श्रावक अथवा अन्य ? क्षेत्र से `मैं कहाँ हूँ ?' स्वगृह में अथवा अन्यत्र ? घर के उपरि भाग में अथवा नीचे के भाग में ? काल से क्या है ? दिन अथवा रात्रि ? भाव से `मेरी क्या स्थिति है ?' लघुनीति आदि से पीड़ित हूँ अथवा नहीं ?

इस प्रकार विचार करने पर भी यदि निद्रा दूर न हो तो नाक को क्षणभर के लिए बन्द कर निद्रारहित बनना चाहिए । इस प्रकार निद्रामुक्त बनने के बाद मकान के दरवाजे को ध्यान से देखकर लघुनीति (पेशाब) व बड़ीनीति (मलत्याग) आदि से निवृत्त होना चाहिए ।

साधु को लक्ष्य में रखकर **'ओघनिर्युक्ति'** में कहा है-``रात्रि में मल-मूत्र आदि की शंका हो तो सर्वप्रथम जागृत होकर द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से अपनी स्थिति का विचार करें । उसके बाद भी निद्रारहित न बने हों तो नाक बन्द कर श्वास को रोक कर निद्रारहित बनें । उसके बाद ही मल-मूत्र आदि की शंका का निवारण करें ।''

रात्रि में यदि कोई काम आ पड़े और किसी से बातचीत करनी पड़े तो मन्द स्वर से ही करें । रात्रि में खाँसी, खखारना, हुंकार आदि भी धीमे स्वर से करें, जोर से नहीं । रात्रि में जोर से आवाज अथवा खाँसी आदि करने से छिपकली आदि हिंसक जीव मक्खी आदि को मारने का प्रयत्न करेंगे । पड़ौसी यदि जग गये तो वे आरम्भ-समारम्भ का कार्य करेंगे । जैसे-पानी भरने वाली, रसोई बनाने वाली, व्यापार करने वाले, शोक करने वाले, मुसाफिर (यात्रिक), किसान, माली, रहट चलाने वाले, चक्की आदि यंत्र चलाने वाले, पत्थर तोड़ने वाले, चक्र घुमाने वाले (तेली), धोबी, कुम्हार, लुहार, सुथार, जुआरी, शस्त्र-निर्माता, शराब बनाने वाले, मच्छीमार, कसाई, जाल फेंकने वाले, शिकारी, हिंसा करने वाले, परस्त्रीगमन करने वाले, तस्कर तथा डाकू आदि परम्परा से अपने-अपने कार्य (हिंसादि) को करेंगे, अतः निरर्थक उन सब दोषों के भागी बनते हैं और इस प्रकार अनर्थदण्ड की प्राप्ति होती है ।

'भगवती सूत्र' में कहा है-वच्छ देश के महाराजा की बहिन जयन्ती श्राविका के पूछने पर भगवान महावीर प्रभु ने कहा-``धर्मी का जगना और पापी का सोना'' लाभ के लिए होता है ।

नींद से जगने पर जाँच करनी चाहिए कि निद्रा-भंग के समय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों में से कौनसा तत्त्व चल रहा था ? कहा भी है–

1) जल और पृथ्वीतत्त्व में निद्राविच्छेद लाभदायी है और आकाश, वायु और अग्नितत्त्व में निद्राविच्छेद हानिकारक है ।

2) शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से तीन दिन तक प्रातःकाल सूर्योदय के समय चन्द्रनाड़ी लाभकारी है और कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से तीन दिन तक सूर्योदय के समय सूर्यनाड़ी लाभकारी है ।

3) शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से तीन-तीन दिन सूर्योदय के समय चन्द्रनाड़ी बहती हो और कृष्णपक्ष में सूर्यनाड़ी बहती हो तथा उस समय यदि वायुतत्त्व हो तो वह दिन शुभ समझो और इससे विपरीत हो तो वह दिन अशुभ समझना चाहिए ।

4) वायुतत्त्व में चन्द्रनाड़ी बहती हो और सूर्योदय हो तथा सूर्यनाड़ी बहती हो और सूर्यास्त हो तथा सूर्यनाड़ी के समय सूर्योदय और चन्द्रनाड़ी के समय सूर्यास्त हो तो शुभ समझना चाहिए ।

- कुछ आचार्यों के मत से वार के क्रम से सूर्य-चन्द्र का उदय माना है । उनके मत से रवि, मंगल, गुरु और शनि ये चार सूर्यनाड़ी के वार और सोम, बुध और शुक्र चन्द्रनाड़ी के वार हैं ।
- कुछ आचार्यों के मत से संक्रान्ति का भी अनुक्रम है । जैसे-मेष संक्रान्ति में सूर्यनाड़ी और वृष संक्रान्ति में चन्द्रनाड़ी-इस प्रकार अनुक्रम से बारह संक्रान्तियों में सूर्य-चन्द्रनाड़ी की गणना करनी चाहिए ।

5) सूर्योदय के समय जो नाड़ी बहती है, वह ढाई घड़ी के बाद बदल जाती है । चन्द्र से सूर्य और सूर्य से चन्द्र-इस प्रकार अरघट्ट-घटी के न्याय से दिन भर नाड़ी बदलती रहती है ।

6) छत्तीस गुरु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतना समय वायु को एक नाड़ी से दूसरी नाड़ी में जाने में लगता है ।

तत्त्वों का अवबोध

पवन ऊपर चढ़ता हो तो अग्नितत्त्व, पवन नीचे जाता हो तो जलतत्त्व, पवन तिरछा बहता हो तो वायुतत्त्व, नासिका के दो पट में पवन बहता हो तो पृथ्वीतत्त्व और सर्व दिशाओं में पवन फैलता हो तो आकाशतत्त्व समझना चाहिए ।

तत्त्वों का अनुक्रम

सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी में क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और आकाशतत्त्व निरन्तर रहते हैं ।

तत्त्वों की समय-मर्यादा

पृथ्वीतत्त्व पचास पल, जलतत्त्व चालीस पल, अग्नितत्त्व तीस पल, वायुतत्त्व बीस पल और आकाशतत्त्व दस पल के बाद बदलता रहता है ।

तत्त्वों में करने योग्य कार्य

पृथ्वी और जलतत्त्व में शान्ति-कार्य करने से फल की प्राप्ति होती है और अग्नि, वायु और आकाशतत्त्व में तीव्र और अस्थिर आदि कार्य करने से लाभ होता है ।

तत्त्वों का फल

जीवन, जय, लाभ, वर्षा, धान्य-उत्पत्ति, पुत्रप्राप्ति, युद्ध, गमन, आगमन आदि के प्रश्नसमय यदि पृथ्वी या जल तत्त्व हो तो लाभ होता है और वायु, अग्नि और आकाशतत्त्व हो तो हानि होती है । अर्थसिद्धि और स्थिर कार्यों में पृथ्वीतत्त्व और शीघ्र करने योग्य कार्यों में जलतत्त्व लाभकारी है ।

चन्द्रनाड़ी के समय करने योग्य कार्य

चन्द्रनाड़ी बहती हो तब देवपूजन, व्यापार, लग्न, दुर्ग, नदी उतरना, गमनागमन, जीवन के

प्रश्न, घर, क्षेत्र-संग्रह, क्रय-विक्रय, वर्षा, नौकरी, खेती, शत्रु-जय, विद्याभ्यास, पट्टाभिषेक आदि कार्य लाभकारी होते हैं ।

- किसी भी कार्य का प्रारम्भ करते समय या प्रश्न करते समय यदि स्वयं की चन्द्रनाड़ी बहती हो या नासिका में पवन प्रवेश करता हो तो उस कार्य की निःशंक सिद्धि समझनी चाहिए ।

सूर्यनाड़ी के समय करने योग्य कार्य

कैदी, रोगी, पद-भ्रष्ट, प्रश्न, युद्ध, शत्रुमिलन, अचानक भय, स्नान, जलपान, भोजन, खोई वस्तु को ढूंढने, पुत्र, मैथुन, विवाद तथा कष्टप्रद कार्य में सूर्यनाड़ी शुभ मानी गई है ।

- कुछ आचार्यों के मत से विद्यारम्भ, दीक्षा, शस्त्राभ्यास, विवाद, राजदर्शन, गीत-आरम्भ, मंत्र-यंत्रादि साधना में सूर्यनाड़ी शुभ है ।
- बायीं नासिका का पवन चलता हो तब बायाँ पैर और दायीं नासिका का पवन चलता हो तब दायाँ पैर पहले उठाकर अपने घर से प्रयाण करना चाहिए ।
- देनदार, शत्रु, चोर और लड़ाई करने वाले को शून्यांग की ओर (बायीं ओर) करने से स्वयं को सुख, लाभ और जय की प्राप्ति होती है ।
- जो कार्यसिद्धि का इच्छुक है वह स्वजन, स्वामी, गुरु, माता-पिता तथा हितचिन्तक आदि को अपनी दायीं ओर रखे ।
- शुक्लपक्ष हो या कृष्णपक्ष हो परन्तु दायीं या बायीं जो नासिका पवन से भरी हुई हो, सर्वप्रथम वह पैर धरती पर रखकर शयन का त्याग करना चाहिए ।

उपर्युक्त विधि से निद्रा का त्याग कर अत्यन्त बहुमानपूर्वक परम मंगलकारी नवकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए । **कहा भी है–**

- ``शय्या में रहकर नवकार मंत्र का स्मरण करना हो तो सूत्र के अविनय के निवारण के लिए मन में ही गिनना चाहिए ।''
- कुछ आचार्यों का मत है कि किसी भी अवस्था में नमस्कार महामंत्र का पाठ (स्मरण) कर सकते हैं ।

(ये दोनों मत **आद्य पंचाशक सूत्र** की टीका में बतलाये गये हैं ।)

'श्राद्धदिनकृत्य' में तो इस प्रकार कहा है-

शय्या-स्थान को छोड़कर भूमि पर बैठकर भावबन्धु जगन्नाथ नवकार-मंत्र का पाठ करना चाहिए ।

'यतिदिनचर्या' में कहा है-

रात्रि के अन्तिम प्रहर में बाल-वृद्ध सभी लोग जग जाते हैं, उस समय सात-आठ बार परमेष्ठि-परम मंत्र पढ़ना चाहिए ।

8. नवकार गिनने की विधि

करआवत्ते जो पंचमंगलं साहुपडिमसंखाए ।
नववारा आवत्तइ छलंति तं नो पिसायाई ।।1।।

अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं, यज्जप्तं मेरुलङ्घने ।
व्यग्रचित्तेन यज्जप्तं, तत्प्रायोऽल्पफलं भवेत् ।।1।।

सङ्कुलाद्विजने भव्यः सशब्दात्मौनवान् शुभः ।
मौनजापान्मानसः श्रेष्ठो, जापः श्लाघ्यः परः परः ।।2।।

मन में नवकार मंत्र को याद करते हुए शयन का त्याग कर पवित्र भूमि में खड़े-खड़े अथवा पद्मासन आदि आसन में बैठकर पूर्व अथवा उत्तर दिशा के सम्मुख अथवा जिनप्रतिमादि के सम्मुख चित्त की एकाग्रता के लिए कमलबन्ध अथवा कर-जाप आदि से नवकार गिनने चाहिए ।

हृदय में आठ पंखुड़ी वाले कमल की कल्पना करनी चाहिए । उसमें कर्णिका के स्थान पर **नमो अरिहंताणं** पद की एवं पूर्व आदि चार दिशाओं में क्रमशः **नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं**-इन चार पदों की एवं आग्नेय आदि चार विदिशाओं में क्रमशः **एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं**-इन चार पदों की स्थापना करनी चाहिए ।

◆ **श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी म.** ने **योगशास्त्र** के आठवें प्रकाश में नवकार-जाप की उपर्युक्त विधि बताकर इतना विशेष कहा है कि-``मन, वचन और काया की शुद्धिपूर्वक एक सौ आठ नवकार गिनने वाला मुनि भोजन करते हुए भी उपवास का फल प्राप्त करता है ।''

नंद्यावर्त और शंखावर्त आदि से किया गया कर-जाप इष्टसिद्धि आदि बहुत फल देने वाला है । **कहा भी है**– ``जो व्यक्ति हाथ के नंद्यावर्त आदि आवर्त्तों पर नवकार मंत्र को बारह की संख्या से नौ बार गिनता है, उसे पिशाच आदि छल नहीं सकते ।''

◆ विपरीत शंखावर्त, नंद्यावर्त अथवा विपरीत अक्षर एवं विपरीत पद से जो एक लाख आदि नवकार का जाप करता है, उसके बन्धन आदि कष्ट शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ।

कर-जाप यदि शक्य न हो तो सूत, रत्न या रुद्राक्ष आदि की माला, अपने हृदय की समश्रेणी में रखकर, माला के मेरु का उल्लंघन किये बिना गिननी चाहिए । विशेषतः माला अपने शरीर एवं पहने हुए वस्त्रों से दूर रखनी चाहिए । **कहा भी है**–

``अंगुलि के अग्रभाग से, मेरु का उल्लंघन करने से एवं व्यग्रचित्त से किया गया जाप प्रायः अल्प फल वाला होता है ।

◆ भीड़ के बजाय एकान्त में जाप करना विशेष लाभकारी है । उच्चारण की अपेक्षा मौन जाप विशेष लाभदायी है । मौन जाप से भी मानसिक जाप विशेष हितप्रद है ।

◆ `जाप से थकावट लगने पर ध्यान और ध्यान से थकने पर जाप करना चाहिए और दोनों से थकने पर स्तोत्र-पाठ करना चाहिए ।' इस प्रकार गुरुवचन है ।

पादलिप्त सूरि कृत **प्रतिष्ठाकल्प** में कहा है-जाप तीन प्रकार का है-मानस, उपांशु और भाष्य ।

1. **मानस जाप :-** जहाँ केवल मन की ही प्रवृत्ति है और जो स्व-संवेदनगम्य है, उसे मानस जाप कहते हैं ।
2. **उपांशु जाप :-** जिसे दूसरे न सुन सकें किन्तु जो अन्तर्जल्पाकार हो, उसे उपांशु जाप कहते हैं ।
3. **भाष्य जाप :-** जिस जाप को दूसरे सुन सकें, उसे भाष्य जाप कहते हैं ।

इन तीनों जाप में भाष्य से उपांशु और उपांशु से मानस जाप श्रेष्ठतर है ।

शान्ति के लिए मानस जाप श्रेष्ठ है, पुष्टि के लिए उपांशु जाप श्रेष्ठ है और आकर्षण, मारण आदि कार्यों के लिए भाष्य जाप श्रेष्ठ है ।

मानस जाप प्रयत्नसाध्य है । भाष्य जाप का विशेष फल न होने से उपांशु जाप का प्रयत्न करना चाहिए ।

◆ नवकार के पाँच पद और नौ पद की अनानुपूर्वी भी चित्त की एकाग्रता के लिए गिननी चाहिए ।

'योगप्रकाश' के आठवें प्रकाश में कहा है-`अरिहंत, सिद्ध, आयरिय, उवज्झाय, साहू'-इन सोलह अक्षर की विद्या का दो सौ बार जाप करने से एक उपवास का फल मिलता है ।

'अरिहंत-सिद्ध'-इन छह अक्षरों का मंत्र तीन सौ बार । **'अरिहंत'**-इन चार अक्षरों का मंत्र चार सौ बार और **अरिहंत** के सिर्फ **'अ'** का पाँच सौ बार जो योगी जाप करता है, उसे एक उपवास का फल मिलता है ।

जाप में प्रवृत्ति के उद्देश्य से ही उपर्युक्त फल बताया गया है । वास्तव में, तो जाप का फल स्वर्ग और मोक्षप्राप्ति है ।

पंचाक्षर मंत्र-जाप की विधि

नाभिकमल में **'विश्वतोमुखम्'** `अ' का ध्यान करना चाहिए । मस्तककमल में `सि' का ध्यान करना चाहिए । मुखकमल में `आ' का ध्यान करना चाहिए । हृदयकमल में `उ' का ध्यान करना चाहिए और कण्ठ पिंजरे में `सा' का ध्यान करना चाहिए ।

सर्वकल्याणकर `अ सि आ उ सा'-बीजाक्षर मंत्र और `नमः सर्वसिद्धेभ्यः'-मंत्राक्षरों का भी ध्यान करना चाहिए ।

◆ इस लोक में फल के इच्छुक को `ॐ' कार पूर्वक और मोक्ष के इच्छुक को ॐकार रहित जाप करना चाहिए ।

इस प्रकार अरिहंतादि के ध्यान में लीन बनने के लिए मंत्र-विद्या के वर्ण और पदों मे क्रम से विश्लेष करना चाहिए ।

जाप आदि का फल

पूजा से कोटि गुणा लाभ स्तोत्र में, स्तोत्र से कोटि गुणा लाभ जाप में, जाप से कोटि गुणा लाभ ध्यान में और ध्यान से कोटि गुणा लाभ लय में होता है ।

(पूजा की पराकाष्ठा स्तोत्र में, स्तोत्र की पराकाष्ठा जाप में, जाप की पराकाष्ठा ध्यान में और ध्यान की पराकाष्ठा लय में है ।)

ध्यान की सिद्धि के लिए जिनेश्वर भगवन्त के जन्म आदि कल्याणक-भूमियों में जाना चाहिए अथवा जिस स्थान में ध्यान में स्थिरता आती हो ऐसे एकान्त स्थान में जाना चाहिए ।

ध्यानशतक में कहा है–ध्यान के लिए साधु पुरुषों को वास्तव में स्त्री, पशु, नपुंसक तथा कुशील से रहित एकान्त-स्थल का आश्रय करना चाहिए, निश्चल मन एवं स्थिर योग वाले मुनि के लिए तो गाँव, नगर, वन और एकान्त स्थल में कोई विशेष भेद नहीं है ।

जहाँ अपने मन, वचन और काया के योगों की समाधि रहती हो और जहाँ जीवों का घात नहीं होता हो ऐसे स्थल में रहकर ध्यान करना चाहिए ।

ध्यान के लिए काल (समय) भी वही उचित है, जिस समय मन, वचन और काया के योगों की समाधि रहती हो । ध्यान हेतु मन की स्थिरता के लिए दिन-रात का कोई विशेष विधान नहीं है ।

◆ शरीर की जिस अवस्था में ध्यान शक्य हो, उस अवस्था में रहकर ध्यान करना चाहिए । सोते हुए, बैठे-बैठे अथवा खड़े-खड़े का कोई एकान्त नियम नहीं है ।

देश-काल की सभी अवस्थाओं में उत्तम मुनियों ने केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त किया है और सभी पापरहित बने हैं अतः ध्यान के लिए शास्त्र में देश-काल व चेष्टादि का कोई विशेष नियम नहीं है । जिस प्रकार और जिस अवस्था में अपने मन, वचन और काया के योगों की समाधि रहती हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिए ।

नवकार मंत्र की महिमा

नासेइ चोरसावय-विसहरजलजलणबंधणभयाइं ।
चिंतिज्जंतो रक्खसरणरायभयाइं भावेण ।।1।।

अन्यत्रापि-जाएवि जो पढिज्जइ, जेणं जायस्स होइ फलरिद्धी ।
अवसाणे वि पढिज्जइ, जेण मओ सुग्गइं जाइ ।।1।।

आवइहिंपि पढिज्जइ, जेण य लंघेइ आवइसयाइं ।
रिद्धीए वि पढिज्जइ, जेण य सा जाइ वित्थारं ।।2।।

नवकारइक्कअक्खरपावं फेडेइ सत्त अयराणं ।
पन्नासं च पएणं, पंचसयाइं समग्गेणं ।।3।।

जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहीइ जिणनमुक्कारं ।
तित्थयरनामगोअं, सो बंधइ नत्थि संदेहो ।।4।।

अट्ठेव य अट्ठ सया अट्ठसहस्सं च अट्ठ कोडीओ ।
जो गुणइ अट्ठ लक्खे, सो तइअभवे लहइ सिद्धिं ।।5।।

यह नवकार मंत्र इस लोक और परलोक दोनों में उपकारी है । **'महानिशीथ सूत्र'** में कहा है-

``भाव से नमस्कार मंत्र का स्मरण करने से चोर, सिंह, सर्प, जल, अग्नि, बंधन, राक्षस, युद्ध तथा राजभय आदि नष्ट हो जाते हैं ।''

अन्यत्र भी कहा है-पुत्र आदि के जन्म-समय भी नवकार गिनना चाहिए, जिससे पुत्र ऋद्धिमान् होता है । मृत्यु के समय भी नवकार सुनाना चाहिए, जिससे मृतक सद्गतिगामी बनता है । ।।1।।

आपत्ति के समय भी नवकार का स्मरण करना चाहिए । नवकार प्रभाव से सैकड़ों आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं । ऋद्धिमान् को भी नवकार का स्मरण करना चाहिए, जिससे उसकी ऋद्धि का विस्तार हो । ।।2।।

नवकार के एक अक्षर से सात सागरोपम के पाप नष्ट होते हैं । नवकार के एक पद से पचास सागरोपम और सम्पूर्ण नवकार से पाँच सौ सागरोपम के पाप नष्ट होते हैं । ।।3।।

विधिपूर्वक जिनेश्वर भगवन्त की पूजा करके जो पुण्यात्मा एक लाख नवकार का जाप करती है, वह आत्मा तीर्थंकरनामगोत्र का बन्ध करती है-इसमें कोई सन्देह नहीं है । ।।4।।

आठ करोड़ आठ लाख आठ हजार आठ सौ आठ नवकार गिननेवाला प्राणी तीसरे भव में मोक्षपद प्राप्त करता है । ।।5।।

नवकार का चमत्कार

जुआ आदि व्यसनों में आसक्त बने शिवकुमार को उसके पिता ने मृत्यु के समय सलाह दी कि आपत्ति के समय नवकार गिने । पिता की मृत्यु के बाद दुर्व्यसनों के जाल में फँसा शिवकुमार निर्धन हो गया । धन के लोभ में वह किसी दुष्ट योगी के जाल में फँस गया । योगी के कहने से वह शिवकुमार उत्तरसाधक बना और चौदस की रात्रि में श्मशान भूमि में आकर हाथ में तलवार लेकर योगी की सूचनानुसार मृतक-देह (मुर्दे) के पैर में मालिश करने लगा । उसी समय मन में भय पैदा होने से पिता की हितशिक्षा को याद कर नवकार मंत्र का स्मरण करने लगा । दो-तीन बार वह शव शिवकुमार को मारने के लिए उछला, परन्तु नवकार के प्रभाव से शिवकुमार का बाल भी बांका नहीं हुआ । अन्त में, उस शव ने योगी का ही वध कर डाला । वह योगी स्वर्ण-पुरुष के रूप में रूपान्तरित हो गया । नवकार के प्रभाव से शिवकुमार को स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति हुई । महाऋद्धिमान् शिवकुमार ने अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कर आत्मकल्याण किया ।

नवकार से पारलौकिक फल

भरुच के पास किसी वन में किसी शिकारी ने अपने बाणप्रहार से एक चील को बींध डाला । वह चील नीचे गिर पड़ी । उसी समय पास में रहे साधु भगवन्त ने उसको नवकार मंत्र सुनाया । नवकार के प्रभाव से वह चील मरकर सिंहल देश के राजा की पुत्री बनी । वह कन्या यौवन वय को प्राप्त हुई । एक बार छींक आने पर पास में खड़े सेठ ने **'नमो अरिहंताणं'** कहा । इसे सुनते ही राजकुमारी को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । जातिस्मरण ज्ञान से वह अपने पूर्व भव को जानकर माल से भरे पाँच सौ वाहनों के साथ भरुच आई और उस वन में जहाँ उसकी मृत्यु हुई थी उसने **'शमली विहार'** नाम का मुनिसुव्रतस्वामी भगवान का मन्दिर बनवाया ।

इस कारण उठते समय नमस्कार-महामंत्र का स्मरण करना चाहिए और उसके बाद धर्म-जागरिका करनी चाहिए ।

धर्म-जागरिका

`मैं कौन हूँ ?' `मेरी कौनसी जाति है ?' `मेरा कौनसा कुल है ?' `मेरे देव कौन हैं ?' `मेरे गुरु कौन हैं ?' `मेरा धर्म कौनसा है ?' `मेरे कौनसे अभिग्रह हैं ?' `मेरी कौनसी अवस्था है ?'

`मैंने अपना कौनसा कर्तव्य पालन किया है और कौनसा नहीं ?' `शक्ति होते हुए भी प्रमाद के वश होकर किन कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर रहा हूँ ?' `मेरे विषय में अन्य लोगों का क्या अभिप्राय है ?' और `मैं कैसा हूँ ?' यानी `मेरा जीवन कैसा है ?' `अपने में रहे कौन से दोषों का मैं त्याग नहीं कर पा रहा हूँ ?'

`आज कौनसी तिथि है ?' `क्या आज किसी अरिहन्त परमात्मा का कल्याणक है ?' `आज मुझे क्या करना चाहिए ?'

इस धर्मजागरिका में भाव से स्व कुल, धर्म और व्रतादि का स्मरण करना चाहिए । द्रव्य से गुरु आदि का, क्षेत्र से अपने देश, गाँव-नगर का और काल से प्रभात आदि का विचार करना चाहिए ।

इस प्रकार नित्य धर्मजागरिका करने से जीव सावधान बनता है । किये हुए पापों और दोषों का स्मरण करने से उनके त्याग की और लिये हुए नियमों के पालन की वृत्ति पैदा होती है । इस प्रकार चिन्तन करने से नये गुणों का एवं धर्म का उपार्जन होता है ।

आनन्द-कामदेव आदि श्रावक भी धर्मजागरिका करते थे और उससे प्रतिबोध पाकर श्रावक की विशेष प्रतिमाओं को वहन करने में तत्पर बने थे ।

प्रातःकाल में धर्मजागरिका करने के बाद यदि प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने का नियम हो तो प्रतिक्रमण करना चाहिए । (प्रतिक्रमण की विधि आगे बतायेंगे)

9. कायोत्सर्ग विधि

यदि प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने का नियम न हो तो भी रागादिमय कुस्वप्न और द्वेषादिमय दुःस्वप्न एवं अनिष्टतासूचक स्वप्न के प्रतिघात के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए । रात्रि में स्त्री-सेवन का कुस्वप्न देखा हो तो 108 श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

(108 श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग के लिए **'सागरवरगंभीरा'** तक चार बार लोगस्स सूत्र गिनना चाहिए ।)

'व्यवहार भाष्य' में कहा है-`स्वप्न में प्राणि-वध, झूठ, चोरी, परिग्रह और स्त्रीसेवन कराया हो या अनुमोदन किया हो तो एक सौ श्वासोच्छ्वास प्रमाण (**'चंदेसु निम्मलयरा'**) तक चार लोगस्स का) कायोत्सर्ग करना चाहिए और स्वप्न में स्त्री-सेवन किया हो तो एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

'चंदेसु निम्मलयरा' तक लोगस्स सूत्र पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण है । ऐसे चार लोगस्स अथवा दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में कहे गये महाव्रतों का चिन्तन अथवा अन्य किन्हीं पच्चीस श्लोकों का चिन्तन करना चाहिए ।

प्रथम 'पंचाशक' की टीका में कहा है-यदि मोहोदय से स्वप्न में स्त्री-सेवन रूप कुस्वप्न देखा हो तो तुरन्त ही जागकर **'ईरियावही'** करके एक सौ आठ श्वासोच्छ्वासप्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

कायोत्सर्ग करने के बाद भी यदि प्रातः (राई) प्रतिक्रमण में बहुत देर हो और पुनः दीर्घ समय तक नींद आ जाय तो पुनः उसी प्रकार से कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

कदाचित् दिन में नींद आ जाय और उस नींद में कुस्वप्न देखें तो भी कायोत्सर्ग करना चाहिए । परन्तु वह कायोत्सर्ग उसी समय करें या संध्या-प्रतिक्रमण के समय-इसका निर्णय बहुश्रुतज्ञ के पास से करना चाहिए ।

'विवेक विलास' ग्रन्थ में कहा है-सुन्दर स्वप्न देखने के बाद नहीं सोना चाहिए और दिन में सद्गुरु को वह स्वप्न कहना चाहिए । यदि खराब स्वप्न आया हो तो पुनः सो जाना चाहिए और किसी को नहीं कहना चाहिए ।

सम धातु (वायु, पित्त और कफ का प्रमाण बराबर हो), प्रशान्त, धर्मी, नीरोग और इन्द्रिय-विजेता पुरुष को शुभ-अथवा अशुभ स्वप्न फलदायी बनते हैं ।

स्वप्न नौ प्रकार से आते हैं- (1) अनुभव से (2) श्रवण से (3) देखने से (4) प्रकृति के विकार से (5) स्वभाव से (6) चिन्ता से (7) देव-प्रभाव से (8) धर्म-कर्म के प्रभाव से और (9) पाप की तीव्रता से ।

प्रारम्भ के छह कारणों से आये हुए स्वप्न, शुभ हों अथवा अशुभ, निष्फल माने गये हैं । अन्तिम तीन कारणों से आये हुए स्वप्न अवश्य फलदायी होते हैं ।

◆ रात्रि के प्रथम प्रहर में आया हुआ स्वप्न एक वर्ष में, दूसरे प्रहर में आया हुआ स्वप्न छह मास में, तीसरे प्रहर में आया हुआ स्वप्न तीन मास में, सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व आया हुआ स्वप्न दस दिन में और सूर्योदय के समय देखा गया स्वप्न शीघ्र फलदायी बनता है ।

एक ही साथ अनेक स्वप्न देखे हों, दिन में स्वप्न देखा हो, आधि-व्याधि तथा मल-मूत्र की पीड़ा से उत्पन्न स्वप्न देखा हो तो वे सब स्वप्न निरर्थक गिने गये हैं ।

पहले अशुभ स्वप्न देखा हो और बाद में शुभ स्वप्न देखा हो अथवा पहले शुभ स्वप्न देखा हो और बाद में अशुभ स्वप्न देखा हो तो अन्तिम स्वप्न का फल समझना चाहिए । खराब स्वप्न देखा हो तो शान्तिकर्म करना चाहिए ।

'स्वप्नचिन्तामणि' ग्रन्थ में कहा है-अशुभ स्वप्न देखने के बाद, थोड़ी भी रात्रि शेष हो तो पुनः सो जाना चाहिए । वह खराब स्वप्न किसी को भी नहीं कहना चाहिए । इस प्रकार करने से वह स्वप्न निष्फल हो जाता है ।

खराब स्वप्न देखने के बाद जो प्रातः जिनेश्वर भगवन्त का ध्यान करता है, अथवा उनकी स्तुति करता है, अथवा नमस्कार महामंत्र को याद करता है उसके खराब स्वप्न का फल नष्ट हो जाता है ।

जो परमात्मा की पूजा करता है, अपनी शक्ति अनुसार तप करता है और सतत धर्म में लीन रहता है, उसको आया दुःस्वप्न भी सुस्वप्न का फल देता है ।

देव-गुरु, तीर्थ और आचार्य भगवन्त के नाम-स्मरणपूर्वक जो सोता है, उसे कभी खराब स्वप्न नहीं आते हैं ।

उसके बाद स्वयं को दाद (एक प्रकार का चर्मरोग) आदि हो तो उस पर थूक घिसना चाहिए और शरीर के अवयवों की दृढ़ता के लिए हाथों से व्यायाम करना चाहिए ।

◆ प्रातःकाल में पुण्यप्रकाशक होने से पुरुष अपना दाहिना हाथ और स्त्री अपना बायाँ हाथ देखे ।

◆ माता-पिता आदि वृद्धों को जो नमस्कार करता है, उसे तीर्थयात्रा का फल प्राप्त होता है, अतः प्रतिदिन माता-पितादि को नमस्कार करना चाहिए । जो वृद्धों की सेवा नहीं करता है, उससे धर्म दूर रहता है, जो राजा की सेवा नहीं करता है, उससे धन दूर रहता है और जो वेश्या का संग करता है, उससे आनन्द दूर रहता है ।

10. पच्चक्खाण का संकल्प

◆ प्रतिक्रमण करने वाले को पच्चक्खाण के पूर्व चौदह नियम धारण करने चाहिए ।

◆ जो प्रतिक्रमण नहीं करता है उसे भी सूर्योदय से पूर्व चौदह नियम धारण करने चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार नवकारसी, गंठसी, एकासना, बियासना आदि तथा देशावगासिक का पच्चक्खाण करना चाहिए ।

◆ सद्गुरु के पास विवेकी पुरुष को सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रतों को स्वीकार करना चाहिए । देशविरति के पालन से सर्वविरति की प्राप्ति सुलभ बनती है ।

विरति महाफलदायी है और विरतिरहित को निगोद के जीवों की तरह मन, वचन और काया के व्यापार का अभाव होने पर भी भयंकर अशुभ कर्म का बंध होता है । कहा भी है–

भावयुक्त जिस भव्य प्राणी ने थोड़ी भी पाप से विरति की है, उसे देवता भी चाहते हैं, क्योंकि देवता विरतिधर्म के पालन में असमर्थ हैं ।

◆ कवलाहार नहीं करने पर भी विरतिपरिणाम के अभाव के कारण एकेन्द्रिय जीव उपवास का फल प्राप्त नहीं करते हैं ।

◆ मन, वचन और काया से पाप-प्रवृत्ति नहीं करने पर भी एकेन्द्रिय जीव अनन्तकाल एकेन्द्रिय अवस्था में रहते हैं, वह अविरति का ही फल है ।

◆ पूर्व भव में यदि विरतिधर्म का पालन किया होता तो तिर्यंचों को चाबुक, अंकुश और वध, बन्धन, मारण आदि सैकड़ों दुःख नहीं होते ।

अविरति का तीव्र उदय होने पर गुरु-उपदेश आदि का योग मिलने पर भी देवता आदि की तरह विरति की प्राप्ति नहीं होती है । जैसे-श्रेणिक महाराजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने पर भी अविरति के उदय के कारण प्रत्यक्ष भगवान महावीर प्रभु की वाणी का श्रवण करने पर भी कौए आदि के मांस के त्याग का भी पच्चक्खाण नहीं कर सके ।

पच्चक्खाण (विरति) से ही अविरति जीती जाती है । विरति का पालन अभ्यास से साध्य है । लेखन, पठन, संख्यान, गान, नृत्य आदि सभी कलाओं में अभ्यास से कुशलता आती है, यह बात सभी के अनुभव-सिद्ध है । कहा भी है–

``अभ्यास से सभी क्रियाएँ शक्य हैं, अभ्यास से सभी कलाओं में निपुणता आती है । अभ्यास से ही ध्यान-मौन की साधना शक्य बनती है । अभ्यासी के लिए कोई वस्तु दुष्कर नहीं है ।''

निरन्तर विरति-परिणाम के अभ्यास से परलोक में भी उसकी प्राप्ति सुलभ बनती है । कहा भी है–

``इस जन्म में जीव जिस गुण-दोष का अभ्यास करता है, उस अभ्यास के योग से परलोक में भी उस गुण-दोष को प्राप्त करता है ।''

इस कारण विवेकी पुरुष को अपनी इच्छानुसार बारह व्रतों को स्वीकार करना चाहिए । यहाँ श्रावक-श्राविका के योग्य इच्छा-परिमाण की विस्तृत व्याख्या करनी चाहिए, ताकि सम्यग्बोधपूर्वक नियमों को स्वीकार करे तो नियम-भंग आदि दोष नहीं होंगे ।

नियम, विचार पूर्वक उतने ही ग्रहण करने चाहिए, जिनका पालन शक्य हो ।

◆ सभी नियमों में सहसात्कार, अनाभोग आदि चार आगार (अपवाद) अवश्य रखने चाहिए, ताकि अनाभोग आदि से व्रत के विपरीत आचरण होने पर भी नियम भंग न हो, अतिचार ही लगे ।

जानबूझ कर व्रत से विपरीत आचरण करने पर तो व्रत का भंग ही होता है ।

परवशता के कारण यदि जानबूझ कर भी नियम भंग हो जाय तो भी भविष्य में तो उस नियम का अवश्य पालन करना चाहिए ।

पंचमी, चतुर्दशी आदि तिथि के दिन उपवास करने का नियम हो...और दूसरी तिथि की भ्रान्ति से पंचमी आदि के दिन भूल से यदि सचित्त जल, तांबूल आदि मुँह में डाल दिया हो और बाद में आराध्य तिथि का ख्याल आ जाय तो मुख में रही वस्तु को भी निगलना नहीं चाहिए और उसे थूक कर अचित्त जल से मुखशुद्धि करके तप आराधना करनी चाहिए । हाँ ! यदि भूल से पूरा भोजन ही कर लिया हो तो दूसरे दिन दण्डनिमित्त वह तप करना चाहिए और उस तप की पूर्णाहुति में उतना तप अधिक कर लेना चाहिए । इस प्रकार करने से सिर्फ अतिचार ही लगता है, व्रत-भंग नहीं होता है ।

तप के आराध्य दिन को जानने के बाद भी अन्न निगल ले तो नियमभंग का दोष लगता है, जो नरकादि का हेतु बनता है ।

आज तप का दिन है या नहीं ? अथवा यह वस्तु ले सकते हैं या नहीं ? इस प्रकार सन्देहात्मक स्थिति हो तो कल्प्य के ग्रहण में भी नियमभंग का दोष लगता है ।

गाढ़ बीमारी में, भूत-पिशाच आदि की पराधीनता में अथवा सर्पदंश आदि से असमाधि के कारण तप न कर सके तो भी चौथे आगार (अपवाद) के उच्चारण के कारण नियमभंग नहीं होता है । इस प्रकार सभी नियमों में समझ लेना चाहिए । कहा भी है-

वयभंगे गुरुदोसो, थोवस्सवि पालणा गुणकरी अ ।
गुरु लाघवं च नेअं, धम्मंमि अओ अ आगारा ।।1।।

''व्रतभंग में महान् दोष है, थोड़े भी व्रत का पालन गुणकारी है । धर्म के विषय में गुरुलाघव का अवश्य विचार करना चाहिए । इसी कारण पच्चक्खाण में आगार (अपवाद) रखे गये हैं ।''

नियम-पालन का महान् फल है । कमल श्रेष्ठी ने कौतुक से `पास में रहे कुम्भकार की टाल देखे बिना भोजन नहीं करूंगा' का नियम लिया था । मात्र कौतुक से लिये नियम का पालन करने पर भी उसे निधान की प्राप्ति हुई थी तो फिर पुण्य हेतु से जो नियम करेगा उसे तो कितना महान् फल मिलेगा ! कहा भी है–

``पुण्य के अभिलाषी को थोड़ा बहुत भी नियम अवश्य लेना चाहिए । वह थोड़ा भी नियम कमल श्रेष्ठी की तरह अधिक लाभ के लिए होता है ।''

परिग्रह-परिमाण व्रत की दृढ़ता पर रत्नसार का दृष्टान्त आगे कहेंगे ।

11. नियमग्रहण-विधि

- प्रथम मिथ्यात्व का त्याग करना चाहिए ।
- नित्य एक, दो या तीन बार जिनदर्शन, जिनपूजा, देववन्दन और चैत्यवन्दन का नियम करना चाहिए ।
- गुरु का योग हो तो बृहद् अथवा लघु वन्दन और गुरु का योग न हो तो उनके (गुरु के) नाम ग्रहणपूर्वक भाव से वन्दन करना चाहिए ।
- प्रतिदिन, वर्षा-चातुर्मास में अथवा पाँच पर्वतिथियों में अष्टप्रकारी पूजा करनी चाहिए ।
- जीवन पर्यन्त नवीन धान्य, पक्वान्न और नवीन फल आदि को प्रभु समक्ष चढ़ाये बिना ग्रहण नहीं करना चाहिए ।
- प्रतिदिन परमात्मा के सामने सुपारी आदि नैवेद्य रखना चाहिए ।
- प्रतिदिन अथवा कार्तिक, फागुन और आषाढ़ी चातुर्मासिक दिन, दीपावली और पर्युषण आदि पर्वदिनों में प्रभु-समक्ष अष्ट मंगल की रचना करनी चाहिए ।
- प्रतिदिन/पर्वदिनों में अथवा वर्ष में कभी-कभी खादिम-स्वादिम आदि उत्तम वस्तुएँ प्रभु-समक्ष नैवेद्य के रूप में रखकर अथवा गुरु को बहोराकर ही भोजन करना चाहिए ।
- प्रतिवर्ष अथवा प्रतिमास महाध्वजा-प्रदान आदि द्वारा भव्य स्नात्र महोत्सव का आयोजन करना चाहिए ।
- प्रतिवर्ष या प्रतिमास रात्रिजागरण करना चाहिए ।

- प्रतिदिन अथवा वर्षा में कभी-कभी जिनमन्दिर की शुद्धि तथा मरम्मत आदि करानी चाहिए ।
- प्रतिवर्ष अथवा प्रतिमास मन्दिर में अंगलूंछन, दीप के लिए रुई, मन्दिर की व्यवस्था के लिए दीप, तैल, चन्दन आदि देना चाहिए ।
- उपाश्रय में श्रावकों की आराधना के लिए मुखवस्त्रिका (मुहपत्ती), माला (नवकारवाली), आसन, चरवला आदि रखने चाहिए ।
- वर्षाकाल में (उपाश्रय में) श्रावक आदि के बैठने के लिए कुछ पाट-पाटले कराने चाहिए ।
- प्रतिवर्ष उत्तम वस्त्र आदि से और न हो तो कम-से-कम सूत की वस्तु से भी संघपूजा और अपनी शक्ति अनुसार साधर्मिक-वात्सल्य करना चाहिए ।
- प्रतिदिन कुछ **'लोगस्स'** आदि का कायोत्सर्ग एवं तीन सौ गाथा आदि का स्वाध्याय करना चाहिए ।
- प्रतिदिन दिन में कम-से-कम नवकारसी और रात्रि में चौविहार आदि का पच्चक्खाण करना चाहिए ।
- प्रतिदिन उभय-काल (सुबह-शाम) प्रतिक्रमण आदि का नियम करना चाहिए ।

इसके बाद श्रावक के बारह व्रतों को स्वीकार करना चाहिए । सातवें भोगोपभोग व्रत में सचित्त, अचित्त और मिश्र का व्यवस्थित बोध होना चाहिए ।

12. सचित्त-अचित्त और मिश्र वस्तुओं का स्वरूप

प्रायः सभी प्रकार के धान्य, धनिया, जीरा, अजमा, सौंफ, सुआ, राई, खसखस आदि सभी जाति के दाने, सभी जाति के फल, पत्ते, नमक, खारी, पापड़खारा, लालसिंधव, संचल, प्राकृतिक खार, मिट्टी, खड़ी, हिरमजी आदि, आर्द्र दातुन आदि व्यवहार से सचित्त समझने चाहिए ।

पानी में भिगोये गये चने, गेहूँ आदि अनाज तथा चना, मूंग आदि की दालें पानी में भिगोयी हों तो भी उन्हें मिश्र समझना चाहिए । क्योंकि कई बार पानी में भिगोयी गयी दालों में अंकुर फूट निकलते हैं ।

पहले से नमक व बाष्प दिये बिना तथा रेती बिना सेके गये चने तथा गेहूँ, ज्वार आदि की धाणी, धान्य, क्षार आदि दिये बिना कटे हुए तिल, होला (भुने हुए हरे चने), हरी बालों को आँच पर सेक कर निकाले हुए दाने, भुने हुए हरे धान्य, सेकी हुई फली, सेम की फली तथा काली मिर्च, राई के बघार आदि से ही संस्कार किये हुए चीभड़े तथा जिनमें सचित्त बीज हों ऐसे पके हुए फलों को मिश्र समझना चाहिए ।

जिस दिन तिलकुट्टी (अग्नि पर सेके बिना तिल को कूटकर गुड़ के मिश्रण से जो बनायी जाती है) बनायी हो उस दिन मिश्र समझनी चाहिए परन्तु रोटी, पूड़ी आदि में डाली हो तो उसे दो घड़ी बाद प्रासुक समझनी चाहिए । दक्षिण और मालवा आदि देश में अत्यधिक गुड़ डालकर बनायी गयी तिलकुट्टी को उसी दिन प्रासुक मानने का व्यवहार है ।

वृक्ष से तत्काल अलग किये गये गोंद, लाख, छाल, आदि तथा नारियल, नींबू, नीम, आम, गन्ना, नारंगी, दाड़िम आदि का तत्काल निकाला हुआ रस, तिल का तत्काल निकाला हुआ तेल, तत्काल फोड़ा हुआ नारियल, सिंघोड़ा, सुपारी आदि फल, तत्काल बीज से अलग किये गये पके फल,

अत्यन्त मर्दित एवं पूरे कणरहित जीरा, अजमा आदि को दो घड़ी तक मिश्र समझना चाहिए, उसके बाद उन्हें अचित्त मानने का व्यवहार है ।

अन्य भी अनेक पदार्थ जो प्रबल अग्नि के योग बिना अचित्त किये गये हों, उन्हें भी दो घड़ी तक मिश्र और उसके बाद अचित्त समझना चाहिए । जैसे-प्रासुक जल आदि । कच्चे फल, कच्चे धान्य तथा अत्यन्त गाढ़ मर्दित नमक आदि भी प्रायः अग्नि आदि प्रबल शस्त्र के बिना प्रासुक नहीं होते हैं । जैसा कि **भगवती सूत्र** के इक्कीसवें शतक के तीसरे उद्देश्य में कहा है-

``वज्रमय शिला के ऊपर वज्रमय पत्थर से थोड़े पृथ्वीकाय को इक्कीस बार पीसा जाय तो भी उसमें कुछ जीव स्पर्श बिना के रह जाते हैं (अर्थात् इक्कीस बार पीसने पर भी वह पृथ्वीकाय का टुकड़ा सचित्त रह सकता है) ।''

सौ योजन दूर से आई हुई हरड़, खारक, किशमिश, द्राक्ष, खजूर, काली मिर्च, पीपल, जायफल, बादाम, बायबिडंग, अखरोट के मीजा, जरदालू, पिस्ता, चीणीकबाब, स्फटिक के समान उज्ज्वल सैंधव आदि तथा साजी, भट्टी में पकाया गया नमक, कृत्रिम क्षार, कुम्भकार द्वारा मर्दित मिट्टी, इलायची, लौंग, जावित्री, शुष्क मोथा, कोंकण देश में पकाये हुए केले, उबाले हुए सिंघोड़े तथा सुपारी आदि सबको अचित्त मानने का व्यवहार देखा जाता है । **श्री बृहत्कल्प** में कहा है-

``नमक आदि सचित्त वस्तु जहाँ उत्पन्न हुई हो वहाँ से एक सौ योजन जमीन उल्लंघन करने के बाद वस्तु स्वतः अचित्त हो जाती है ।''

प्रश्न :- प्रबल अग्नि आदि शस्त्र के अभाव में एक सौ योजन जाने मात्र से ही वह वस्तु अचित्त कैसे हो जाती है ?

उत्तर :- जो जीव जिस क्षेत्र में उत्पन्न हुए हैं, वे उसी क्षेत्र में जीते हैं । वहाँ से अलग हो जाने पर मार्ग में आहार आदि का अभाव होने से भी अचित्त हो जाते हैं । एक वाहन से दूसरे वाहन में डालने से, एक गोदाम से दूसरे गोदाम में गिराने से भी वे अचित्त हो जाते हैं । पवन, अग्नि, धूम आदि से भी लवण आदि अचित्त हो जाते हैं । लवण के साथ `आदि' पद से यह अभिप्राय है कि हरिताल, मनःशिला, पीपर, खजूर, द्राक्ष, हरड़ आदि वस्तुएँ भी एक सौ योजन से आने पर अचित्त हो जाती हैं ।

इनमें से कुछ आचीर्ण हैं और कुछ अनाचीर्ण हैं । पीपर, हरड़ आदि आचीर्ण कहलाती हैं तथा खजूर, द्राक्ष आदि अनाचीर्ण होने से ग्रहण नहीं की जाती हैं ।

वस्तु-परिणमन के कारण

गाड़ी में अथवा बैल आदि की पीठ पर से बारंबार नमक आदि को उतारने-चढ़ाने से, लवण आदि के भार के ऊपर मनुष्यों के बैठने से तथा बैल आदि के शरीर की गर्मी से भी उन वस्तुओं का परिणमन होता है । उन वस्तुओं के आहार का उच्छेद होने से भी उन वस्तुओं का परिणमन होता है ।

जब किसी को कुछ भी उपक्रम-शस्त्र लगता है, तब उसका परिणामान्तर होता है । शस्त्र तीन प्रकार के हैं- (1) स्वकाय शस्त्र, (2) परकाय शस्त्र और (3) उभयकाय शस्त्र ।

1) **स्वकाय शस्त्र :-** खारे पानी के लिए मीठा पानी शस्त्र है । पीली मिट्टी के लिए काली मिट्टी शस्त्र है ।

2) **परकाय शस्त्र :-** पानी का शस्त्र मिट्टी है और मिट्टी का शस्त्र पानी है ।

3) **उभयकाल शस्त्र :-** मिट्टी में मिला जल निर्मल जल का शस्त्र है । ये सब सचित्त को अचित्त बनाने के कारण हैं ।

कहा भी है– ``उत्पल और कमल (उदकयोनि होने से) एक प्रहर मात्र भी धूप को सहन नहीं कर पाते हैं अतः अचित्त हो जाते हैं और मोगरा और जूही के फूल उष्णयोनि वाले होने से धूप में भी लम्बे समय तक सचित्त रह पाते हैं ।''

``मोगरे के फूल पानी में डालने से एक प्रहर भी सचित्त नहीं रह पाते हैं और उत्पल और कमल पानी में डालने से लम्बे समय तक सचित्त रह पाते हैं ।''

कहा है– पत्ते, पुष्प तथा सरडूफल (जिस फल का गुठली बीज तैयार नहीं हुआ हो) तथा हरी बथुआ आदि की भाजी तथा सामान्य से सभी वनस्पति के बींट यानी मूलनाल के कुम्हलाने पर उन्हें अचित्त समझना चाहिए । इस प्रकार **बृहत्कल्प** की टीका में कहा गया है ।

शालि आदि धान्य के सचित्त-अचित्त विभाग को समझाते हुए **भगवती सूत्र** के छठे शतक के सातवें उद्देशक में कहा है-

``हे भगवन् ! शालि, वीहि, गेहूँ, जौ तथा विशेष प्रकार के जौ, ये धान्य गोदाम में भरकर रखे हों, कोठी में भरकर रखे हों, टोकरी में बाँधकर रखे हों, मंच या मंजिल पर बाँधकर रखे हों, कोठी में डालकर उसके मुख को बाहर से बन्द कर दिया गया हो, चारों ओर से लेपन कर दिया गया हो, ढक्कन से मजबूत बाँधे गये हों, ऊपर मुहर लगा दी गयी हो, इत्यादि प्रकार से संचय किये गये धान्यों की कितने समय तक योनि बनी रहती है ?''

भगवान ने कहा-``हे गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन वर्ष तक उसकी योनि रहती है । उसके बाद वह योनि नष्ट हो जाती है । बीज अजीव रूप बन जाता है ।''

पुनः पूछते हैं-``हे भगवन् ! त्रिपुट, मसूर, तिल, मूंग, उड़द, वाल, कुलथी, चँवले, तुअर, चना इत्यादि धान्यों को पूर्वोक्त प्रकार से रखने पर कितने काल तक उनकी योनि रहती है ?''

``उनकी योनि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से पाँच वर्ष तक रहती है । उसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से अचित्त हो जाते हैं ।''

``हे भगवन् ! अलसी, कुसुम्भ, कोद्रव, पीले चावल, वरट्ट, रालग, कोझ विशेष, सरसों, शण, मलक नाम के शाक के बीज आदि धान्यों की योनि कितने वर्ष तक रहती है ?''

``हे गौतम ! उनकी योनि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से सात वर्ष तक सचित्त रहती है । उसके बाद वे बीज अबीज रूप हो जाते हैं ।

कपास के बीज तीन वर्ष तक सचित्त रहते हैं । इस संदर्भ में **बृहद् कल्प भाष्य** में कहा है- ``कपास के बीज तीन वर्ष बाद अचित्त होते हैं, उसके बाद ही उन्हें ग्रहण करना चाहिए ।''

आटे की सचित्त-अचित्त-मिश्रता

``नहीं छना हुआ आटा श्रावण व भाद्रपद मास में पाँच दिन तक, आसो एवं कार्तिक मास में चार दिन तक, मार्गशीर्ष और पौष मास में तीन दिन तक, माघ और फाल्गुण मास में पाँच प्रहर तक, चैत्र और वैशाख मास में चार प्रहर तक तथा जेठ और आषाढ़ मास में तीन प्रहर तक मिश्र रहता है, उसके बाद अचित्त गिना जाता है और छना हुआ आटा तो दो घड़ी बाद अचित्त हो जाता है ।''

शंका :- अचित्त बना हुआ आटा अचित्तभोजी को कितने दिन तक कल्पता है ?

उत्तर :- यहाँ दिन की मर्यादा सिद्धान्त (शास्त्र) में सुनने में नहीं आती है फिर भी द्रव्य से नये-पुराने धान्य, क्षेत्र से सरस-नीरस क्षेत्र, काल से वर्षा, शीत व गर्मी तथा भाव से जब तक उसके वर्ण, गन्ध, रस आदि विकृत न हों तब तक पक्ष, मास आदि तक और उसमें ईलिका आदि जीवों की उत्पत्ति न हो तब तक कल्पता है ।

साधु को आश्रय करके **कल्पवृत्ति** के चौथे खण्ड में इस प्रकार कहा गया है- ``जिस देश में सत्तू आदि में जीवों की उत्पत्ति होती हो, उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए । निर्वाह नहीं होता हो तो उसी दिन का किया हुआ ग्रहण करना चाहिए । फिर भी यदि निर्वाह नहीं होता हो तो दो-तीन दिन के अलग-अलग ग्रहण करने चाहिए । चार-पाँच आदि दिन के किये हुए तो सभी एक साथ ग्रहण करने चाहिए । उसकी यह विधि है-

रजस्त्राण को नीचे बिछाकर उसके ऊपर पात्रबन्धन (झोली) बिछाना । उसके ऊपर सत्तू बिखेर कर पात्रबन्धन को दो छोर से ऊपर उठाना । उसके ऊपर जो उरणिका (जीव विशेष) लगे, उन्हें ठीकरे में रखना । इस प्रकार नौ बार करना । अगर जीव न दिखे तो वापरना । अगर दिखे तो वापस नौ बार करना । इस प्रकार यदि शुद्ध हो जाय तो वापरे अन्यथा परठ ले । निर्वाह न होता हो तो तब तक पडिलेहना करे जब तक शुद्ध न हो जाय । जहाँ अनाज का बहुत सा भूसा हो वहाँ उरणिका आदि को रखे । ऐसा स्थान न हो तो ठीकरे आदि में थोड़ा सत्तू डालकर फिर उन जीवों को डालकर उन्हें सुरक्षित स्थान में रखे, ताकि वे भी जीवित रह सकें ।

13. पक्वान्न का काल नियम

वासासु पनरदिवसं, सीउण्हकालेसु मास दिणवीसं ।
ओगाहिमं जईणं, कप्पइ आरब्भ पढमदिणा ।।1।।

जइ मुग्गमासपभिई, विदलं कच्चंमि गोरसे पडइ ।
ता तसजीवुप्पत्तिं, भणंति दहिए वि दुदिणुवरिं ।।1।।

जंमि उ पीलिज्जंते, नेहो नहु होइ बिंति तं विदलं ।
विदले वि हु उप्पन्नं, नेहजुअं होइ नो विदलं ।।2।।

पक्वान्न सम्बन्धी काल-मर्यादा इस प्रकार कही गई है-

``वर्षाऋतु में पक्वान्न की कालमर्यादा पन्द्रह दिन की, शीतऋतु में एक मास की और ग्रीष्म ऋतु में बीस दिन की है ।''

कुछ आचार्यों का मत है कि उपर्युक्त गाथा कौनसे ग्रन्थ की है-यह निश्चय नहीं होने से जब तक पक्वान्न के वर्ण, गन्ध, रसादि नहीं बदलते हैं, तब तक वे कल्प्य हैं ।

दूध-दही की काल मर्यादा

कच्चे (बिना गर्म किये हुए) दूध, दही में मूंग, उड़द, चँवले, आदि द्विदल गिरते हैं तो उसमें तत्काल त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है ।

दो दिन के बाद के दही में भी त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं ।

`दो दिन' के बदले `तीन दिन के बाद'-यह पाठ बराबर नहीं लगता है, क्योंकि **योगशास्त्र** में **हेमचन्द्र सूरिजी म.** ने भी दो दिन का ही उल्लेख किया है ।

द्विदल का स्वरूप :- जिस धान्य को पीलने से तैल नहीं निकलता हो और जिसके बराबर दो टुकड़े (फाड़) हो सकते हों उसे द्विदल कहते हैं, परन्तु जिसमें से तैल निकलता हो उसे द्विदल नहीं कहते हैं ।

अन्य अभक्ष्य :- बासी द्विदल, नरम पूड़ी तथा केवल जल में पकाये बंटी, मकाई की घाट आदि (दूसरे दिन अभक्ष्य हैं) तथा अन्य भी सड़ा हुआ धान्य, फूलने वाले चावल, पक्वान्न आदि अभक्ष्य होने से त्याज्य हैं ।

(बाईस अभक्ष्य और बत्तीस अनन्तकाय का स्वरूप ग्रन्थकार द्वारा विरचित श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र की टीका से समझ लें ।)

बहुत बीज और जीवों से व्याप्त होने आदि के कारण बैंगन, मिट्टी, टिंबरु, जामुन, बिल्वफल, आर्द्र पीलु पके करमदे, गुंदीफल, पीचू, महुडे, आम्र-महोर, होला, बड़े बोर, कच्चे कोठीबड़े, खसखस, तिल तथा सचित्त नमक आदि का भी अभक्ष्य की तरह त्याग करना चाहिए । खून आदि के समान जिनका भद्दा रंग हो ऐसे पके गोलक, पके कंकोडे, पनस फल तथा जिस देश में जो-जो लोकविरुद्ध हो ऐसे कादतुंबक, कुष्मांड (कुम्हडा) आदि का भी त्याग करना चाहिए । उन वस्तुओं का त्याग नहीं करने से जिनधर्म की अपभ्राजना का प्रसंग आता है ।

अभक्ष्य और अनन्तकाय वस्तु अन्य किसी के घर में प्रासुक (अचित्त) मिले तो भी सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि उसका त्याग नहीं करने से हृदय में निर्दयता पैदा होती है और उसके खाने वालों में भी वृद्धि होने की सम्भावना रहती है । इसी कारण से उबाले हुए शुष्क अनन्तकाय, पकाये गये आर्द्रक, सूरण, बैंगन आदि का भी गलत परम्परा को रोकने के लिए त्याग करना चाहिए । मूली के तो पाँचों अंग त्याज्य हैं ।

सूंठ और हल्दी तो नाम और स्वाद में परिवर्तन हो जाने से कल्प्य हैं ।

अचित्त जल की मर्यादा

गर्म पानी तीन बार उफान आने के पूर्व तक मिश्र गिना जाता है । **पिंडनिर्युक्ति** में कहा है-

``जब तक उबाले हुए पानी में तीन बार उफान न आ जाय तब तक वह पानी मिश्र कहलाता है, उसके बाद अचित्त कहलाता है ।''

जहाँ अनेक लोगों का आवागमन होता हो वहाँ गिरा हुआ वर्षा का जल जब तक परिणत नहीं होता है, तब तक मिश्र कहलाता है । उसके बाद अचित्त हो जाता है-जंगल की भूमि में गिरा हुआ वर्षा का जल तत्क्षण मिश्र होता है, उसके बाद गिरता हुआ पानी सचित्त होता है ।

चावल के धोवण के विषय में आदेशत्रिक को छोड़कर जब तक तंदुलोदक मलिन होता है, तब तक मिश्र कहलाता है और जब वह निर्मल हो जाता है, तब अचित्त कहलाता है ।

आदेशत्रिक – (1) कुछ आचार्यों का मत है कि चावल का धोवण चावल को धोने से बर्तन से दूसरे बर्तन में डालने पर जो छींटे उड़ते हैं, वे जब तक नहीं सूख जाते हैं, तब तक वह जल मिश्र होता है ।

(2) एक बर्तन से दूसरे बर्तन में चावल का धोवण डालने पर जो परपोटे पैदा होते हैं, वे जब तक नहीं फूटते हैं, तब तक उसे मिश्र समझना चाहिए ।

(3) कुछ आचार्यों का मत है कि वे चावल जब तक पकते नहीं हैं, तब तक वह जल मिश्र कहलाता है ।

ये तीनों आदेश प्रमाणभूत नहीं हैं । क्योंकि बर्तन सूखा हो, पवन और अग्नि की विद्यमानता व अविद्यमानता के अनुसार उन जल-बिन्दुओं के सूखने व चावल के पकने आदि में कम-ज्यादा समय लगता है, अत:इससे निश्चित कालमर्यादा सिद्ध नहीं होती है ।

अत:जब तक वह धोवण का जल एकदम स्वच्छ न हो जाय तब तक उसे मिश्र समझना चाहिए और उसके बाद उसे अचित्त समझना चाहिए ।

नीव्र (छत का किनारा) का पानी, धूम से काले एवं सूर्य की किरणों से तपे हुए नीव्र के सम्पर्क से अचित्त हो जाता है, इसलिए उसे लेने में कोई विराधना नहीं है । कोई कहते हैं कि-ऐसे पानी को अपने पात्रों में लेना । आचार्य कहते हैं कि अशुचि होने से अपने पात्रों में नहीं लेना चाहिए, अत:गृहस्थ के कुंडी आदि भाजन में लेना चाहिए ।

वर्षा चालू हो तब वह पानी मिश्र होता है । वर्षा रुक जाने के अन्तर्मुहूर्त बाद उसे ले सकते हैं । वह पानी अचित्त हो जाने पर, तीन प्रहर के बाद पुन:सचित्त हो जाता है अत: उसमें क्षार डालना चाहिए । ऐसा करने से पानी स्वच्छ भी हो जाता है और सचित्त भी नहीं होगा । इस प्रकार **'पिंडनिर्युक्ति टीका'** का कथन है ।

कुछ समय पहले ही किया हुआ चावल का पहला, दूसरा और तीसरा धोवन मिश्र होता है । अधिक समय तक पड़ा हुआ हो तो वह धोवन अचित्त होता है । चौथी, पाँचवीं बार किया हुआ धोवन बहुत समय तक पड़ा रहा हो तो भी सचित्त ही होता है ।

सचित्त जल का काल-मान

उसिणोदयं तिदंडुक्कलिअं फासुअजलं जईकप्पं ।
नवरि गिलाणाइकए, पहरतिगोवरिवि धरियव्वं ।।1।।

जायइ सचित्तया से, गिम्हासु पहरपंचगस्सुवरिं ।
चउपहरुवरिं सिसिरे, वासासु जलं तिपहरुवरिं ।।2।।

प्रासुक जल के काल-मान को बताते हुए **'प्रवचनसारोद्धार'** आदि में कहा है-

तीन बार उफान आया हुआ (उबाला हुआ) प्रासुक गर्म जल मुनियों के लिए कल्प्य है । ग्रीष्म ऋतु में रुक्षकाल होने से वह जल पाँच प्रहर तक अचित्त रहता है । शीतकाल में स्निग्धता होने से चार प्रहर और वर्षाऋतु में अतिस्निग्धता होने से तीन प्रहर तक वह जल अचित्त रहता है, उसके बाद वह जल सचित्त हो जाता है । ग्लान आदि के लिए वह जल उपर्युक्त कालमर्यादा से अधिक रखना पड़े तो उसमें क्षार (चूना) पदार्थ डाल देना चाहिए, ताकि वह जल सचित्त न हो ।

बाह्य किसी शस्त्र के सम्बन्ध बिना जो जल स्वभाव से ही अचित्त हो गया है, उसे अपने ज्ञान से केवलज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी और अवधिज्ञानी और श्रुतज्ञानी अचित्त जानते हुए भी अपने उपयोग में नहीं लेते हैं, क्योंकि उससे अनवस्था (गलत परम्परा) की सम्भावना रहती है ।

दृष्टान्त – एक बार महावीर प्रभु शिष्यों के साथ विहार कर रहे थे । उन्होंने अपने ज्ञानबल से शैवाल, मत्स्य, कछुए आदि से रहित अचित्त जल से भरे सरोवर को देखा । उनके शिष्य तृषापीड़ित थे । उनके प्राण संकट में होने पर भी प्रभु ने उन्हें उस जल को पीने की अनुमति नहीं दी ।

इसी प्रकार भूख से पीड़ित होने पर भी, अचित्त तिल से भरी गाड़ी समीप होने पर भी अनवस्थादोष-निवारण और श्रुतज्ञान की प्रामाणिकता के लिए प्रभु ने अपने शिष्यों को शुष्क भूमि पर उन अचित्त तिलों को वापरने (खाने) की अनुमति नहीं दी ।

सामान्य श्रुतज्ञानी बाह्य शस्त्र के सम्पर्क के बिना जल को अचित्त नहीं मानता है, अत:बाह्य शस्त्रप्रयोग से वर्ण, गन्ध आदि में परिवर्तन पाये हुए अचित्त जल का ही उपयोग करना चाहिए ।

कंकटुक, मूंग तथा हरड़े आदि अचित्त होने पर भी अविनष्ट योनि होने के कारण उसके रक्षण के लिए तथा अपने कठोर परिणाम के निवारण के लिए उन्हें दाँत आदि से नहीं तोड़ना चाहिए ।

ओघनिर्युक्ति की पचहत्तरवीं गाथा की टीका में किसी के प्रश्न का जवाब देते हुए कहा गया है-

प्रश्न :- अचित्त वनस्पति की यतना रखने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :- यद्यपि वह अचित्त है फिर भी कुछ वनस्पतियों की योनि अविनष्ट होती है । जैसे- गिलोय, कंकटुक, मूंग आदि । गिलोय सूखी हो फिर भी जल के सिंचन से पुन:हरी हो जाती है । इसी प्रकार कंकटुक, मूंग आदि भी । अत: योनिरक्षण के लिए अचित्त वनस्पति की भी यतना रखनी चाहिए ।

इस प्रकार सचित्त-अचित्त वस्तु के स्वरूप को अच्छी तरह से समझकर सातवें व्रत को ग्रहण करते समय सचित्त आदि सर्वभोग्य वस्तुओं की मर्यादा कर आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों की तरह व्रत स्वीकार करना चाहिए ।

यदि उतना शक्य न हो तो सामान्य से प्रतिदिन एक, दो, चार सचित्त, दस-बारह आदि द्रव्य तथा एक-दो-चार आदि विगई का नियम करना चाहिए ।

परन्तु इस प्रकार प्रतिदिन कुछ-कुछ अन्य-अन्य सचित्त के ग्रहण से क्रमश:सर्व सचित्त का ग्रहण भी हो जाता है । इससे विशेष विरति नहीं होती है । अत:नामग्रहण पूर्वक सचित्त की निश्चितता का अभिग्रह करने से उन्हें छोड़कर अन्य सभी सचित्त के त्याग का जीवन पर्यन्त स्पष्ट ही अधिक लाभ मिलता है ।

कहा भी है– ``फल-फूल के रस, मांस-मदिरा तथा स्त्री के भोग को जानते हुए भी जो उनका त्याग करते हैं, ऐसे दुष्कर कारकों को मैं वन्दन करता हूँ ।''

सर्वसचित्त पदार्थों में भी नागरबेल के पान का त्याग दुष्कर है । क्योंकि अन्य सब सचित्त वस्तुओं को अचित्त करने पर भी उनका स्वाद ले सकते हैं-विशेष करके आम आदि का ।

नागरबेल के पान निरन्तर पानी में पड़े रहने के कारण उनमें नील, फूल, कुंथु आदि के अंड की अत्यधिक विराधना होती है अत:पापभीरु व्यक्ति को वे पान रात में तो खाने ही नहीं चाहिए । कदाचित् कोई खाता हो तो भी दिन में बराबर देख करके ही उनका उपयोग करना चाहिए । ये पान कामोत्तेजक होने से ब्रह्मचारी व्यक्ति को तो विशेष करके इनका त्याग करना चाहिए ।

प्रत्येक वनस्पतिकाय के सचित्त पत्ते व फल में असंख्य जीवों की विराधना की सम्भावना है । आगम में भी कहा है–

पर्याप्ता की निश्रा में असंख्य अपर्याप्ता जीव उत्पन्न होते हैं । जहाँ एक पर्याप्ता जीव है, वहाँ असंख्य अपर्याप्ता जीव होते हैं । यह तो बादर एकेन्द्रिय में कहा गया है ।

आचारांग वृत्ति में कहा है–जहाँ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्ता जीव होते हैं, वहाँ निश्चय से असंख्य पर्याप्ता जीव होते हैं ।

इस प्रकार एक पत्ते आदि से असंख्य जीवों की विराधना होती है और उसके आश्रित नीलकाई आदि की सम्भावना होने पर अनन्त जीवों की विराधना हो जाती है । जल, लवण आदि तो असंख्य जीव-स्वरूप ही हैं ।

आर्षवाणी है– ``जिनेश्वर भगवन्त ने जल की एक बूंद में जितने जीव कहे हैं वे सरसों जितने हो जाँय तो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में भी नहीं समा सकते ।''

''आर्द्र आँवले प्रमाण पृथ्वीकाय के टुकड़े में जितने जीव होते हैं, वे कबूतर जितने हो जाँय तो जंबूद्वीप में भी नहीं समा सकते ।''

सर्व सचित्त-त्यागी अंबड़ परिव्राजक

अंबड़ परिव्राजक के 700 शिष्य थे-वे सब सर्वसचित्त के त्यागी थे । उन्होंने श्रावकधर्म स्वीकार किया था । अन्य के द्वारा दिये गये अचित्त अन्न-जल का ही वे उपभोग करते थे ।

एक बार ग्रीष्म ऋतु में गंगा के किनारे जंगल में भटकते हुए वे एकदम तृषातुर हुए परन्तु सचित्त और अदत्त जल के त्याग का नियम होने से उन्होंने नदी के जल का उपयोग नहीं किया और अन्त में उन सात सौ परिव्राजकों ने अनशन द्वारा देहत्याग किया । वे मरकर ब्रह्मदेवलोक में इन्द्र समान ऋद्धि वाले सामानिक देव बने ।

इस प्रकार श्रावक को सचित्तत्याग के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

14. चौदह नियम

जिसने पहले चौदह नियम ग्रहण किये हों, उसे प्रतिदिन उनका संक्षेप करना चाहिए और जिसने पहले नहीं लिये हों, उसे भी यथाशक्ति ग्रहण करने चाहिए । ये चौदह नियम निम्नांकित हैं-

1) **सचित्त :-** मुख्यतया तो श्रावक को सचित्त का त्याग ही करना चाहिए । जो सम्पूर्ण त्याग न कर सके उसे नामग्रहण पूर्वक सामान्यतया एक-दो आदि की छूट रखकर नियम करना चाहिए ।
कहा है- ``सुश्रावक निरवद्य, निर्जीव और परिमित आहार के द्वारा निर्वाह करने वाले होते हैं । सचित्त (मांस) खाने की इच्छा से मत्स्य (तंदुलिया) मरकर 7वीं नरक भूमि में जाता है अत:मन से भी सचित्त आहार ग्रहण करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए ।

2) **द्रव्य :-** जो मुख में डाला जाता है, वह द्रव्य कहलाता है । जैसे खिचड़ी, रोटी, निवीयाते लड्डू, लपसी, (तिल) पापड़ी, चूरमा, करंबा, खीर, आदि तथा अनेक धान्य आदि से बनी एक वस्तु या जिसका एक नाम प्रचलित हो, वह भी एक द्रव्य कहलाता है तथा एक धान्य की ही बनी हुई पतली रोटी, जाड़ी रोटी, पराठे, खाखरे, घूघरी, ढोकले, थूली, बाट, कणिक्क,आदि अलग-अलग नाम व स्वाद के कारण अलग-अलग द्रव्य कहलाते हैं । फली (चँवले आदि की) और फलिका (मूँग आदि की) में नाम की समानता होने पर भी स्वाद अलग होने से और अलग-अलग स्वाद वैसे ही रहने से अलग-अलग द्रव्य गिने जाते हैं । द्रव्य की गिनती में सचित्त और विगई की पृथक् गिनती नहीं की जाती है । जैसे लड्डू में घी और शक्कर मिली हुई है तो भी द्रव्य एक ही कहलाता है । यहाँ द्रव्य की गिनती में घी और शक्कर की अलग गिनती नहीं की जाती है । अथवा नियम लेने वाले के अभिप्रायानुसार व सम्प्रदाय के अनुसार द्रव्यों की गणना कर सकते हैं । धातु की सली, हाथ की अंगुली आदि की गिनती द्रव्य में नहीं होती है ।

3) **विगई :-** भक्ष्य विगइयाँ छह हैं-दूध, दही, घी, तैल, गुड़ और पक्वान्न । इन छह में से प्रतिदिन एक, दो या तीन के त्याग का नियम कर सकते हैं ।

4) **उपानह :-** पैर में पहिनने के जूते, चप्पल, बूट, मौजे आदि । काष्ठपादुका आदि से तो अनेक जीवों की विराधना की सम्भावना होने से श्रावक को पहिनना योग्य नहीं है ।

5) **तंबोल :-** पान, सुपारी, खैरसार, कत्था आदि स्वादिम कहलाते हैं, उनका नियम करना चाहिए ।

6) **वस्त्र :-** पाँचों अंगों पर पहिनने का वेष । धोती, पौतिक, आदि रात्रि के वेष संख्या में नहीं गिनते हैं ।

7) **कुसुम :-** मस्तक, कण्ठ, शय्या, तकिये के पास रखने योग्य फूलों का परिमाण निश्चित करना । स्व उपभोग में नियम होने पर भी देवपूजा के लिए फूल उपयोग में ले सकते हैं ।

8) **वाहन :-** रथ, घोड़ा, पाड़ा, पालकी, (रेल, मोटर, साइकिल, बस, टैक्सी) आदि की संख्या निश्चित करना ।

9) **शयन :-** खाट, (पलंग, कुर्सी), आदि की संख्या निश्चित करना ।

10) **विलेपन :-** चन्दन, जवा, चुआ, कस्तूरी आदि का अपने शरीर के उपभोग के लिए नियम करना, परन्तु देवपूजा में तिलक, हस्तकंकण, धूप आदि में कल्प्य है ।

11) **ब्रह्मचर्य :-** दिन या रात्रि में पत्नी आदि के अनुसार ब्रह्मचर्य का संकल्प करना ।

12) **दिशा परिमाण :-** चारों दिशाओं में अथवा अमुक दिशा में क्रोश, योजन, कि.मी. आदि द्वारा जाने की सीमा निश्चित करना ।

13) **स्नान :-** तैल-मालिशपूर्वक कितनी बार स्नान करना, उसकी मर्यादा करना ।

14) **भोजन :-** पकाये हुए अनाज और पक्वान्न आदि वस्तुओं की तीन सेर, चार सेर आदि का परिमाण निश्चित करना । खरबूजा आदि फल हों तो ज्यादा सेर होंगे ।

यहाँ सचित्त की तरह द्रव्य आदि का भी नामग्रहणपूर्वक अथवा सामान्य से उसके परिमाण को यथाशक्ति निश्चित करना चाहिए । उपलक्षण से अन्य भी शाकफल, धान्य आदि का नियम और औसार आदि से होने वाले आरम्भ का नियम यथाशक्ति करना चाहिए ।

15. पच्चक्खाण विधि

इस प्रकार नियम ग्रहण करने के बाद यथाशक्ति पच्चक्खाण लेना चाहिए । नवकारसी, पोरिसी आदि काल पच्चक्खाण सूर्योदय के पूर्व ही उच्चरित किये हों तो शुद्ध होते हैं, अन्यथा नहीं । अन्य पच्चक्खाण सूर्योदय के बाद भी हो सकते हैं ।

नवकारसी का पच्चक्खाण सूर्योदय से पूर्व लिया हो तो वह पच्चक्खाण आने पर अन्य भी पोरिसी आदि का पच्चक्खाण, पच्चक्खाण का समय आने के पहले ले सकते हैं । नवकारसी को उच्चरे बिना सूर्योदय के बाद कालपच्चक्खाण शुद्ध नहीं होता है ।

यदि सूर्योदय के पूर्व नवकारसी के बिना पोरिसी आदि का पच्चक्खाण किया हो तो उस पच्चक्खाण की पूर्ति के ऊपर दूसरा कालपच्चक्खाण शुद्ध नहीं होता है परन्तु उसके अन्दर तो शुद्ध होता है । यह वृद्धव्यवहार है । थोड़े ही आगार होने के कारण नवकारसी का पच्चक्खाण दो घड़ी का होता है, एक मुहूर्त के बाद भी नवकार के पाठ बिना भोजन करने पर पच्चक्खाण का भंग ही होता है, क्योंकि इसके पच्चक्खाण में नवकारसहित का उच्चारण किया जाता है ।

प्रमादत्यागी को क्षण भर भी पच्चक्खाण बिना नहीं रहना चाहिए । नवकारसी आदि पच्चक्खाण पूर्ण होते ही ग्रन्थिसहित (गंठसी) आदि पच्चक्खाण कर लेना चाहिए । अनेक बार औषध आदि लेने वाले बाल-ग्लान आदि भी गंठसी आदि पच्चक्खाण कर सकते हैं । निरन्तर अप्रमत्तता का हेतु होने से यह पच्चक्खाण अत्यन्त लाभकारी है ।

नित्य मांस आदि में आसक्त एक बुनकर ने एक बार गंठसी पच्चक्खाण किया था, जिसके फलस्वरूप वह मरकर कपर्दीयक्ष बना था ।

कहा भी है– ``जो अप्रमत्त प्राणी ग्रन्थिसहित पच्चक्खाण कर गाँठ बाँधते हैं, सचमुच उन्होंने स्वर्ग व अपवर्ग के सुख अपनी गाँठ में बाँध रखे हैं ।''

``जो प्राणी भूले बिना नित्य नवकार गिनकर ग्रन्थिसहित (गंठसी) पच्चक्खाण करते हैं, उन्हें धन्य है,क्योंकि वे ग्रन्थिसहित पच्चक्खाण करते हुए अपने कर्म की गाँठ को भी छोड़ते हैं ।''

``यदि मोक्षगमन की इच्छा हो तो ग्रन्थिसहित (गंठसी) पच्चक्खाण का अभ्यास करो । शास्त्रज्ञों ने इसे अनशन के सदृश पुण्योपार्जन का उपाय बतलाया है ।''

रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करने वाला और दिन में बैठकर एक ही बार भोजन के साथ तांबूल आदि लेकर मुखशुद्धि कर जो गंठसी (ग्रन्थिसहित) पच्चक्खाण करता है, उसे एक मास में उनतीस उपवास और दो बार भोजन (बियासना) करने वाले को अट्ठाईस चौविहार उपवास का लाभ मिलता है, इस प्रकार वृद्ध पुरुष कहते हैं ।

भोजन, तांबूल, पानी आदि के उपभोग में प्रतिदिन दो घड़ी जितना समय लगता है, अत:एक बार भोजन करने वाले को एक माह में उनतीस उपवास और दो बार भोजन करने वाले को (प्रतिदिन चार घड़ी भोजन-पानी में जाने से) अट्ठाईस उपवास का लाभ मिलता है । **पद्मचरित्र** में कहा है-

जो प्राणी नियम से प्रतिदिन दो ही बार भोजन करता है, (उसे प्रतिदिन भोजन में चार घड़ी की सम्भावना होने से) अट्ठाईस उपवास का लाभ मिलता है ।

जो व्यक्ति प्रतिदिन दो घड़ी तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है, उसे एक मास में एक उपवास का फल मिलता है । अगर वह व्यक्ति अन्य देव का भक्त हो तो वह दस हजार वर्ष के आयुष्य को बाँधता है, जिनेश्वर निर्दिष्ट उतने ही तप से वह कोटि पल्योपम प्रमाण देवायु का बंध करता है ।

इस प्रकार प्रतिदिन एक, दो या तीन मुहूर्त की वृद्धि करने से एक उपवास, दो उपवास और तीन उपवास का फल बताया है । जो व्यक्ति यथाशक्ति त्याग करता है, उसको वैसा फल मिलता है ।

इस प्रकार युक्तिपूर्वक पूर्वकथित गंठसी आदि पच्चक्खाण का फल समझना चाहिए ।

जो भी पच्चक्खाण किया हो उसे बारंबार याद करना चाहिए और जो पच्चक्खाण लिया हो उसका काल पूरा होने पर `मेरा अमुक पच्चक्खाण पूरा हुआ'- इस प्रकार याद करना चाहिए । भोजन के समय भी उसे पुन:याद करना चाहिए अन्यथा पच्चक्खाण-भंग की सम्भावना रहती है ।

16. अशन, पान, खादिम व स्वादिम का स्वरूप

1) **अशन :-** भूख को शान्त करने में समर्थ अन्न, पक्वान्न, मंडक तथा सत्तू आदि अशन कहलाता है ।

2) **पान :-** छाछ, पानी, दूध आदि पेय पदार्थ ।

3) **खादिम :-** सभी प्रकार के फल, ईख, होला, सुखड़ी आदि खाद्य ।

4) **स्वादिम-** सूंठ, हरड़े, पीपर, काली मिर्च, जीरा, अजमा, जायफल, जावित्री, कसेला, कत्था, खदिरवटी, जेठीमधु, तज, तमालपत्र, इलायची, लौंग, कोठी, विडंग, बिड़लवण, अजमोद, कुलिंजन, पीपरामूल, चीणीकबाब, कचूरा, मोथा, कंटासेलिआ, कपूर, संचल, हरड़-बहेड़ा, कुंभठ, बबूल, धव, खैर, शमी के छाल, पत्र, सुपारी, हिंगाष्टक, हिंगुलतेर्हसा, पंचकूल, पुष्करमूल, जवासकमूल, बावची, तुलसी, कपूरीकन्द आदि। **पच्चक्खाणभाष्य** तथा **प्रवचनसारोद्धार** के अभिप्राय से जीरा स्वादिम है और कल्पवृत्ति के अनुसार जीरा खाद्य है। कुछ आचार्यों के मत से अजवायन खाद्य है।

सभी प्रकार के स्वादिम, इलायची, कपूर आदि का पानी दुविहार के पच्चक्खाण में कल्प्य है।

बेसन, सौंफ, सोवा, कउठवड़ी, आमलगंठी, आम्रगुठली, कोठापत्र, निंबुपत्र आदि खादिम होने के कारण दुविहार में नहीं कल्पते हैं। तिविहार में सिर्फ जल ही कल्पता है। वह भी फूंका पानी, सीकरी, कपूर, इलायची, कत्था, खेरसार, कसेल्लक, पाड़ल आदि का पानी निथरा हुआ अथवा छना हुआ ही काम आता है उसके बिना नहीं।

यद्यपि शास्त्र में मधु, गुड़, शक्कर, खांड, पतासा आदि स्वादिम में गिने गये हैं और अंगूर का पानी, शक्कर का पानी और छाछ पानी में गिने हुए हैं, फिर भी दुविहार आदि के पच्चक्खाण में वे नहीं कल्पते हैं।

नागपुरीय गच्छ के प्रत्याख्यान भाष्य में कहा है कि श्रुत में द्राक्ष के पानी को पानी में तथा गुड़ आदि को स्वादिम में गिना गया है, फिर भी तृप्तिकारक होने से उनके उपभोग का निषेध है।

स्त्री के सम्भोग से चौविहार का भंग नहीं होता है परन्तु बालक आदि के होठ का चर्वण (चुम्बन) करने से चौविहार (एवं तिविहार) का भंग होता है, परन्तु दुविहार का भंग नहीं होता है।

ये पच्चक्खाण कवलाहार सम्बन्धी ही हैं, लोमाहार सम्बन्धी नहीं हैं। इसीलिए उपवास, आयंबिल आदि में शरीर पर तैलमर्दन करने एवं घाव आदि पर आटा आदि बाँधने पर भी पच्चक्खाण का भंग नहीं होता है। लोमाहार की तो निरन्तर सम्भावना रहती है, अत:यदि लोमाहार से पच्चक्खाण भंग माना जाय तब तो पच्चक्खाण ही नहीं हो सकेगा।

17. अणाहारी वस्तुएँ

नीम के पाँचों अंग (मूल, पत्र, फूल, फल और छाल), मूत्र, गिलोय, कडु, चिरायता, अतिविष, कुड़ा, चीड़, चंदन, राख, हल्दी, रोहिणी, ऊपलोट, वंज, त्रिफला, बबूल की छाल (किसी के मत से), धमासा, नाव्य, आसंध, रिंगणी, एलिओ, गूगल, हरड़ेदल, वण, बोरड़ी, कंथेरी, केरड़ामूल, पूंआड़, बोड़, थेरी, आछी, मजीठ, बोल, बीओ, कुंवारि, चित्रक, कुंदरु आदि जिनका स्वाद अनिष्ट-अप्रिय हो, वैसी वस्तुएँ अणाहारी मानी जाती हैं। रोगादि के प्रसंग पर चौविहार में भी ये ले सकते हैं।

कल्पवृत्तिके के चौथे खण्ड में कहा है- रात्रि में स्थापित आहार की विचारणा करनी चाहिए।

प्रश्न :- हम इतना भी नहीं जानते हैं कि आहार किसे कहते हैं और अणाहार किसे कहते हैं ?

उत्तर :- जो स्वयं भूख-प्यास को शान्त करता है, उसे आहार कहते हैं। अशन, पान, खादिम और स्वादिम के भेद से वह चार प्रकार का है। अथवा उस आहार में जो नमक आदि डाला जाता है, उसे भी आहार समझना चाहिए। अशन में कूर (भात) स्वयं क्षुधा शान्त करता है। पान में छाछ आदि, खादिम में फल आदि और स्वादिम में गुड़ आदि भी आहार का कार्य करते हैं।

क्षुधा के शमन में असमर्थ होने पर भी आहार में जिसका उपयोग किया जाता है, वह भी, आहार से मिश्रित अथवा स्वतन्त्र आहार होता है। अशन में नमक, हींग, जीरा आदि; पानी में कपूर आदि, आम्र आदि फल में सुत्त आदि, सूंठ में गुड़ आदि का उपयोग किया जाता है। ये कपूर आदि क्षुधा को शान्त करने में समर्थ नहीं होने पर भी आहार आदि में उपकारक होने से आहार कहलाते हैं। ``अथवा, भूख से पीड़ित व्यक्ति अपनी भूख को शान्त करने के लिए कीचड़ जैसी भी जो कोई वस्तु पेट में डालता हो, वह वस्तु आहार कहलाती है। औषधि में से कुछ आहाररूप हैं और कुछ अणाहाररूप। औषधि में शक्कर आदि आहार कहलाती है और सर्प से काटे हुए व्यक्ति को जो मिट्टी आदि खिलाई जाती है, वह अणाहार रूप है।''

अथवा, जो पदार्थ खाने से भूखे व्यक्ति को स्वाद आता हो, वह सब आहार कहलाता है और भूखे व्यक्ति को भी जो पदार्थ खाने-पीने में अप्रिय लगता हो वह अणाहार कहलाता है। मूत्र, नीम आदि की छाल, पंचमूलादि जड़ें, आँवला, हरड़े, बहेड़ा आदि फल अणाहार समझने चाहिए, ऐसा चूर्णि में कहा है।

निशीथ चूर्णि में तो लिखा है- `नीम आदि की छाल और उन्हीं की निम्बोली आदि फल और उन्हीं की जड़ें अणाहारी हैं।'

पच्चक्खाण के पाँच स्थान

1) नवकारसी आदि कालपच्चक्खाण प्रायः चौविहार करने चाहिए।
2) दूसरे स्थान में एकादि विगईत्याग और नीविआयंबिल का पच्चक्खाण लिया जाता है। जिसे विगई का त्याग न हो उसे भी प्रायःअभक्ष्य महाविगई (मद्य, मांस, मधु व मक्खन) का त्याग होने से विगई का पच्चक्खाण करना चाहिए।
3) तीसरे स्थान में एकासना, बियासना, दुविहार, तिविहार व चौविहार का पच्चक्खाण लेना चाहिए।
4) चौथे स्थान में पानी का पच्चक्खाण लेना चाहिए।
5) पाँचवें स्थान में पूर्वगृहीत सचित्त आदि चौदह नियमों के संक्षेप रूप देशावगासिक का पच्चक्खाण प्रातः एवं सायंकाल में लेना चाहिए।

उपवास, आयंबिल, निवी आदि प्रायः तिविहार या चौविहार होती हैं परन्तु अपवाद से नीवि प्रमुख पोरिसी आदि के पच्चक्खाण दुविहार भी होते हैं। **कहा भी है कि**– साधु को रात्रि में चौविहार होता है और नवकारसी चौविहार होती है।

भवचरिम, उपवास और आयंबिल पच्चक्खाण तिविहार व चौविहार दोनों प्रकार के होते हैं। शेष पच्चक्खाण दुविहार, तिविहार और चौविहार होते हैं। इस प्रकार पच्चक्खाण में आहार का विवरण समझना चाहिए।

निवी और आयंबिल आदि में कल्प्य और अकल्प्य विभाग के अनुसार सिद्धात आदि अपनी-अपनी सामाचारी से समझना चाहिए।

पच्चक्खाण भाष्य से अनाभोग, सहसात्कार आदि के आगारों का स्वरूप अच्छी तरह से समझकर हृदय में स्थापित करना चाहिए अन्यथा पच्चक्खाण की शुद्धि आदि नहीं हो सकती।

18. जिनपूजा हेतु द्रव्यशुद्धि

शुचि अर्थात् मलोत्सर्ग करना, दाँत साफ करना, जीभ की शुद्धि करना, जीभ खुरचना, कुल्ला करना, सर्वस्नान, देशस्नान आदि से पवित्र होना।

◆ यह अनुवाद-वाक्य है। क्योंकि मल-मूत्र विसर्जन आदि लोकप्रसिद्ध होने से इसके लिए उपदेश करने की आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु लोकसंज्ञा से प्राप्त नहीं होती है, उसी वस्तु का उपदेश करने में शास्त्र की सफलता है।

``मलिन पुरुष को स्नान करना चाहिए और भूखे व्यक्ति को भोजन करना चाहिए''- ऐसी बातों में शास्त्र के उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती है। लोक-संज्ञा से अप्राप्त, इसलोक और परलोक के लिए हितकारी धर्ममार्ग का उपदेश करने में ही शास्त्र की सफलता है। अन्य स्थल में भी यह बात समझ लेनी चाहिए। सावद्य-आरम्भ की प्रवृत्ति में तो वाचिक अनुमोदना करना भी उचित नहीं है। **कहा भी है**– ``सावद्य और निरवद्य वचन के भेद को जो नहीं समझता है, उसको तो बोलना भी उचित नहीं है तो फिर उपदेश की तो बात ही कहाँ रही ?''

सावज्जाणवज्जाणं, वयणाणं जो न जाणइ विसेसं।
वोत्तुंपि तस्स न खमं, किमंग पुण देसणं काउं ? ।।1।।
मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुनं स्नानभोजने।
सन्ध्यादिकर्म पूजां च, कुर्याज्जापं च मौनवान् ।।1।।

मलोत्सर्ग मौनपूर्वक और निरवद्य स्थान में विधिपूर्वक करना चाहिए। **कहा भी है**– ``लघुनीति, बड़ीनीति (मल-मूत्र), मैथुन, स्नान, भोजन, संध्याकर्म, पूजा और जाप आदि क्रियायें मौनपूर्वक करनी चाहिए।''

विवेक विलास में कहा है- मौनपूर्वक और वस्त्र सहित होकर दिन में और उभय संध्या (सुबह-शाम) में मल-मूत्र करना हो तो मुख उत्तर दिशा सम्मुख करना चाहिए और रात्रि में मल-मूत्र करना हो तो दक्षिण दिशा सम्मुख मुँह करना चाहिए।

प्रभात-संध्या काल–सभी नक्षत्र तेजरहित बन गये हों और सूर्य का अर्द्ध उदय न हुआ हो, तब तक का काल प्रभात-संध्या काल कहलाता है।

सायं काल–आधा सूर्य अस्त हो गया हो और जब तक दो-तीन नक्षत्र दिखाई न दे, तब तक का काल संध्या काल कहलाता है ।

मल-मूत्र योग्य स्थल

राख अथवा गोबर का ढेर हो, गाय के बैठने और बाँधने का स्थान हो, वल्मीक (दीमकों से बनाया गया मिट्टी का टीला) वाला स्थान हो, अनेक लोगों ने जहाँ मल-मूत्र किया हो, आम्रगुलाब आदि उत्तम वृक्ष जहाँ हो, अग्नि हो, आने-जाने का मार्ग हो, पानी का स्थान हो, श्मशान आदि भयंकर स्थान हो, नदी का किनारा हो, स्त्री तथा पूज्य पुरुष की दृष्टि पड़ती हो इत्यादि स्थानों को छोड़कर मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए । मल-मूत्र का तीव्र आवेग हो तो उस समय की उचित परिस्थिति को देखकर मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए ।

अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए ।
समे अझुसिरे वावि, अचिरकालकयंमि अ ।।1।।
विच्छिन्ने दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवज्जिए ।
तसपाणबीअरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ।।2।।
मुत्तनिरोहे चक्खू, वच्चनिरोहे अ जीवियं चयइ ।
उड्ढनिरोहे कुट्ठं, गेलन्नं वा भवे तिसु वि ।।3।।

ओघनिर्युक्ति में साधु को उद्देशित कर लिखा है- (1) जहाँ कोई अचानक नहीं आता हो, जहाँ कोई देखता न हो, (2) जहाँ बैठने से लोक में निन्दा अथवा मारपीट नहीं होती हो, (3) जहाँ की भूमि समतल हो, (4) घास आदि से ढकी हुई न हो क्योंकि ऐसे स्थान पर बिच्छू, सर्प आदि हों तो काटते हैं तथा चींटी आदि पर पानी गिरने से उन्हें पीड़ा या विराधना होती है, (5) अग्नि आदि से ताजा अचित्त बनी हुई भूमि पर शौच करें । दो मास के बाद वही भूमि मिश्र हो जाती है यानी अचित्त नहीं रहती है । जिस स्थान पर वर्षाकाल तक ग्राम बसा हो वह स्थान 12 साल तक अचित्त रहता है, (6) जघन्य से एक हाथ चौड़ा हो, (7) नीचे की जमीन अग्नि आदि के ताप से जघन्य से चार अंगुल अचित्त होनी चाहिए, (8) महल, बगीचे के पास शौच न करें, सख्त हाजत हो तो पास में शौच कर सकते हैं, (9) स्थान बिल आदि रहित होना चाहिए, (10) त्रसजीव तथा बीज नहीं होने चाहिए ।

दिशा, पवन, ग्राम, सूर्य तथा छाया का विवरण नीचे है । जगह का तीन बार प्रमार्जन कर **'अणुजाणह-जस्सुग्गह'**- पाठ बोलकर मल-मूत्र को वोसिराना चाहिए और शुद्धि करनी चाहिए ।

- उत्तर और पूर्व दिशा पूज्य होने से उस दिशा के सम्मुख मल-मूत्र नहीं करना चाहिए ।
- दक्षिण दिशा में रात को पीठ नहीं करनी क्योंकि रात को भूत-पिशाच दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा में जाते हैं, ऐसा लोक में कहा जाता है ।
- पवन को पीठ देने पर नाक में बदबू घुसने से नाक में खीला रोग होते हैं ।

- सूर्य और गाँव के सम्मुख बैठने से लोक में निन्दा होती है ।
- जिसके मल में कृमि निकलते हों, उसे छाया में मलत्याग करना चाहिए । कारणवश धूप में करना पड़े तो दो घड़ी तक छाया करके खड़े रहना चाहिए ।
- मूत्र रोकने से चक्षु को नुकसान होता है, मल रोकने से जीवन की हानि होती है । वमन को रोकने से कोढ़ रोग होता है अथवा इन तीनों को रोकने से अनेक रोग पैदा होते हैं ।
- मल-मूत्र तथा श्लेष्मादि का जहाँ त्याग करना हो, वहाँ पहले **'अणुजाणह जस्सुग्गहो'** कहकर वोसिराना चाहिए और तुरन्त **'वोसिरे-वोसिरे-वोसिरे'** तीन बार मन में बोलना चाहिए ।
- श्लेष्म आदि को तुरन्त धूल आदि से ढकना चाहिए; अन्यथा उसमें असंख्य सम्मूर्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होने से उन सबकी विराधना का दोष लगता है ।

सम्मूर्छिम-जीवों के उत्पत्ति-स्थल

प्रज्ञापना-सूत्र के प्रथम पद में कहा है- **''हे भगवन् ! सम्मूर्छिम मनुष्य कहाँ उत्पन्न होते हैं ?''**

``हे गौतम ! पैंतालीस लाख योजन प्रमाण ढाई द्वीप रूप मनुष्यक्षेत्र की पन्द्रह कर्मभूमियों में और छप्पन अन्तर्द्वीपों में, गर्भज मनुष्य के मल में, पेशाब में, बलगम में, श्लेष्म में, वमन में, पित्त में, वीर्य में, वीर्य और रक्त के संयोग में, बाहर निकले वीर्य-पुद्गल में, निर्जीव कलेवर में, स्त्री-पुरुष के संयोग में, नगर की गटर में तथा सभी अशुचि स्थानों में सम्मूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं ।

``ये सम्मूर्छिम मनुष्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अवगाहना वाले, असंज्ञी, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, अपर्याप्त तथा अन्तर्मुहूर्त आयुष्य वाले होते हैं ।'' टीका में ऐसा भी कहा गया है कि मनुष्य के संसर्ग से दूसरे भी अशुचि स्थान होते हैं, उनमें भी सम्मूर्छिम मनुष्य पैदा होते हैं ।''

- दाँत साफ करने हों तो निर्दोष स्थान में प्रासुक, जाने हुए और कोमल दंतकाष्ठ से अथवा दाँत की दृढ़ता के लिए तर्जनी अंगुली से दाँत साफ करने चाहिए । दाँत के मैल पर भी धूल डाल देनी चाहिए ।

  'व्यवहार शास्त्र' में तो इस प्रकार कहा है- `दाँतों को मजबूत करने के लिए तर्जनी अंगुली से सर्वप्रथम मसूड़ों को मलना चाहिए । उसके बाद दाँत साफ करने चाहिए । अगर प्रथम कुल्ले में से एक बिन्दु गले में चला जाए तो शीघ्र ही उत्तम भोजन प्राप्त होता है ।'

  एक स्थान पर बैठकर, उत्तर अथवा पूर्व सम्मुख होकर दाँतों और मसूड़ों को पीड़ा नहीं करता हुआ स्वस्थ एवं तल्लीन होकर जो टेढ़ा नहीं हो, गाँठ बिना का हो, जिसका कूँच अच्छा हो सके, सूक्ष्म अग्र वाले, दस अंगुल लम्बे, कनिष्ठा के जैसे मोटे, जाने हुए वृक्ष के, अच्छी भूमि में उत्पन्न ऐसे दातुन को कनिष्ठा एवं अनामिका के बीच में लेकर दाईं या बाईं दाढ़ा के तल को स्पर्श करते हुए मौनपूर्वक दाँतों को रगड़ें । वह दातुन दुर्गंधित, पीला, सूखा हुआ, स्वादिष्ट, खट्टा, नमकीन नहीं होना चाहिए ।

- व्यतिपात, रविवार, संक्रान्ति दिन, ग्रहण दिन, प्रतिपदा, कृष्णपक्ष की चतुर्दशी, अष्टमी, नवमी, पूर्णिमा और अमावस्या के दिन दातुन नहीं करना चाहिए ।
- दातुन नहीं हो तो 12 कुल्लों से मुखशुद्धि करनी चाहिए । जीभ हर रोज खुरचनी चाहिए । जीभ को निर्लेखिनी से धीरे-धीरे खुरचने के बाद, दातुन को अच्छे स्थान पर साफ करके आगे फेंकना चाहिए । शान्त दिशाओं में एवं अपने आगे अगर दातुन पड़े और वह खड़ा रहे तो सुखकारी है । इससे विपरीत पड़े तो दु:खदायी होता है । अगर एक क्षण के लिए खड़े रहकर नीचे गिरे तो शास्त्र के ज्ञाता `उस दिन उस व्यक्ति को मिष्टान्न की प्राप्ति होती है' ऐसा बताते हैं ।
- खांसी, श्वास, बुखार, अजीर्ण, शोक, प्यास, मुखपीड़ा, मस्तक, नेत्र, हृदय, तथा कान की पीड़ा वाले रोगी को दातुन नहीं करना चाहिए ।
- प्रतिदिन स्थिर होकर मस्तक के बाल दूसरे के पास साफ कराने चाहिए- परन्तु स्वयं अपने दोनों हाथों से बाल साफ न करें ।
- तिलक करने के लिए और मंगल के लिए अपना मुख दर्पण में देखना चाहिए । जिस दिन दर्पण में मस्तक रहित अपना धड़ दिखाई दे, उस दिन से पन्द्रह दिन बाद अपनी मृत्यु समझनी चाहिए ।
- उपवास, पोरिसी आदि पच्चक्खाण वाले को दाँत साफ करने की आवश्यकता नहीं है, उसके बिना भी शुद्धि समझनी चाहिए, क्योंकि तप महाफलदायी है ।

  लोक में भी उपवास आदि में दंतशोधन बिना ही देव-पूजा आदि की जाती है ।

  'विष्णुभक्ति चन्द्रोदय' में कहा है- प्रतिपदा, अमावस्या, छठ, मध्याह्न, नवमी और संक्रान्ति के दिन दन्तशोधन नहीं करना चाहिए ।
- उपवास तथा श्राद्ध में दंतशोधन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन दिनों दाँत और काष्ठ का संयोग सात कुलों का नाश करता है ।
- किसी भी व्रत में ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सत्य का पालन करना चाहिए तथा मांस का त्याग अवश्य करना चाहिए ।
- बार-बार पानी पीने से, तांबूल खाने से, दिन में सोने से और मैथुन का सेवन करने से उपवास दूषित होता है ।

जहाँ चींटी के बिल न हों; नीलफूल, शैवाल, कुंथु आदि जीव पैदा नहीं होते हों; जहाँ की भूमि विषम न हो, नीचे की जमीन छिद्र वाली न हो, ऐसी भूमि पर संपातिम जीवों की यतनापूर्वक छने हुए परिमित जल से स्नान करना चाहिए । **'दिनकृत्य'** में कहा है- त्रस आदि जीवों से रहित विशुद्ध भूमि पर अचित्त या छने हुए सचित्त जल से विधिपूर्वक स्नान करना चाहिए ।

व्यवहार शास्त्र में तो इस प्रकार कहा है-

- **नग्न होकर स्नान नहीं करना चाहिए ।**
- रोग से पीड़ित हों तो स्नान नहीं करना चाहिए ।
- **परदेश से आकर तुरन्त स्नान नहीं करना चाहिए ।**
- सभी वस्त्रों के साथ स्नान नहीं करना चाहिए ।
- **भोजन करने के बाद तुरन्त स्नान नहीं करना चाहिए ।**
- आभूषण आदि श्रृंगारसहित स्नान नहीं करना चाहिए ।
- **भाई आदि को पहुँचाने गये हों तो आकर तुरन्त स्नान नहीं करना चाहिए ।**
- कोई भी मंगल करने के बाद तुरन्त स्नान नहीं करना चाहिए ।
- **अज्ञात जल में, जिसमें प्रवेश कठिन हो ऐसे जल में, मलिन लोकों से दूषित जल में, वृक्ष से छन्न तथा शैवाल युक्त जल में स्नान नहीं करना चाहिए ।**
- ठण्डे जल से स्नान करने के बाद गर्म भोजन और गर्म जल से स्नान करने के बाद ठण्डा भोजन तथा स्नान के बाद तैल से मालिश करना योग्य नहीं है ।
- **स्नान करने के बाद देह की कान्ति विकृत हो जाय, परस्पर दाँतों का घर्षण हो, देह में मृतक जैसी दुर्गन्ध आती हो तो तीन दिन बाद मृत्यु समझनी चाहिए ।**
- स्नान करते ही हृदय और दोनों पैर तुरन्त सूख जायें तो छठे दिन नि:संशय मृत्यु समझनी चाहिए ।
- **मैथुनसेवन के बाद, वमन के बाद, चिता के धुएँ का स्पर्श हुआ हो, दु:स्वप्न देखा हो तब तथा हजामत कराने के बाद शुद्ध एवं छने हुए जल से स्नान करना चाहिए ।**
- तैल मालिश करने के बाद, स्नान के बाद, भोजन करने के बाद, वस्त्र-अलंकार पहनने के बाद, प्रयाण की आदि में, युद्ध में जाते समय, विद्या-मंत्र के प्रारम्भ के समय, रात्रि में, संध्या समय, पर्व के दिन तथा नौवें दिन (जिस दिन हजामत की हो, उसके नौवें दिन) हजामत नहीं करानी चाहिए ।
- **रोम, दाढ़ी तथा मूछ के बालों की हजामत एवं नाखूनों की कटाई पक्ष में एक ही बार करनी चाहिए । उत्तम पुरुषों को अपने दाँतों द्वारा अपने नाखून नहीं काटने चाहिए और अपने हाथों से दाढ़ी आदि नहीं करनी चाहिए ।**

स्नान, शरीर की पवित्रता और सुखकारी आदि होने से भावशुद्धि का हेतु है ।

'द्वितीय अष्टप्रकरण' में कहा है- ``जल से देह के आंशिक भाग (चमड़ी) की ही क्षण भर के लिए शुद्धि होती है । जल देह की एकान्तशुद्धि का हेतु भी नहीं है, क्योंकि रोग-ग्रस्त को जल से थोड़ी भी शुद्धि नहीं होती है । शरीर में रहे अन्य अंगों कान, नाक आदि में रहा मैल दूर न होने से तथा अप् काय सिवाय दूसरे जीवों का वध नहीं करते हुए जलस्नान, द्रव्यस्नान कहलाता है ।''

जो गृहस्थ विधि से स्नान करके देव-गुरु की पूजा करता है, उसके लिए द्रव्यस्नान भी शोभनीय है ।

द्रव्यस्नान भावशुद्धि का हेतु है, यह बात अनुभवसिद्ध है । अप्काय की विराधना आदि का दोष होने पर भी सम्यक्त्व की शुद्धि का हेतु होने से द्रव्यस्नान शुभ है ।

कहा भी है– ``पूजा में अप् काय आदि की हिंसा होती है और शास्त्रों में हिंसा का निषेध है, फिर भी जिनपूजा सम्यक्त्व की शुद्धि का हेतु होने से निरवद्य है ।'' देवपूजा के लिए ही गृहस्थ को द्रव्यस्नान की अनुमति है । इससे `द्रव्यस्नान पुण्य के लिए है', इस प्रकार का जो मत है, उसका निरास हो जाता है । तीर्थ में, किये गये स्नान से भी देह की ही शुद्धि होती है, परन्तु आत्मा के तो एक अंश मात्र की भी शुद्धि नहीं होती है ।

स्कन्दपुराण के काशीखण्ड के छठे अध्ययन में कहा है- ``हजारों बार मिट्टी से, जल से भरे सैकड़ों घड़ों से तथा सैकड़ों तीर्थों में स्नान करने से भी दुराचारी पुरुषों की शुद्धि नहीं होती है ।''

जलचर प्राणी जल में ही उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, परन्तु मन की मलिनता दूर नहीं होने के कारण वे मरकर स्वर्ग में नहीं जाते हैं ।

गंगा-स्नान बिना भी शम-दम आदि से चित्त की शुद्धि होती है, सत्य वचन से मुख की शुद्धि होती है और ब्रह्मचर्यपालन से काया की शुद्धि होती है । जिसका चित्त राग आदि से कलुषित है, असत्य बोलने से मुख मलिन है और जीवहिंसा से काया मलिन है, ऐसे से गंगा पराङ्मुख रहती है यानी गंगा भी उसे पवित्र नहीं करती । गंगा भी कहती है- ``परस्त्री, परद्रव्य और परद्रोह से रहित व्यक्ति कब आकर के मुझे पावन करेगा ।''

कुलपुत्र

कोई कुलपुत्र गंगा-स्नान के लिए जा रहा था, तब उसकी माता ने कहा- ``बेटा ! जहाँ तू स्नान करे वहाँ मेरे इस तूंबड़े को भी स्नान करा देना ।'' इस प्रकार कहकर माँ ने वह तूंबड़ा बेटे को सौंप दिया ।

बेटा गंगातट पर पहुँचा । वहाँ उसने स्नान किया । उसके साथ उस तूंबड़े को भी नहला दिया ।

कुछ दिनों के बाद वह कुलपुत्र अपने घर लौटा । माँ ने उसी तूंबड़े का साग बनाया और अपने बेटे को परोसा ।

बेटे ने ज्यों ही वह साग मुँह में डाला...तुरन्त ही थुत्कार करने लगा और बोला, ``माँ ! साग बहुत कडुवा है ।''

माँ ने कहा- ``बेटा ! सैकड़ों बार गंगास्नान से भी इसकी कटुता दूर न हुई तो उन स्नानों से तेरे पाप कैसे दूर होंगे ? पाप का नाश तो तप आदि से होगा ।''

माँ की यह बात सुनकर कुलपुत्र को प्रतिबोध हुआ और वह श्रद्धापूर्वक तप आदि करने लगा ।

स्नान करने से जल के असंख्य जीवों की तथा शैवाल आदि के अनन्त जीवों की विराधना होती है । बिना छने पानी से स्नान करने पर जल के आश्रित पोरे आदि त्रस जीवों की विराधना होती है, अत:जलस्नान दोषरूप ही है । **`जल स्वयं जीवमय है'**- इस बात को लोग भी स्वीकार करते हैं ।

उत्तरमीमांसा में कहा है- ``मकड़ी के मुख से निकलती लार के जैसे महीन वस्त्र से छने हुए पानी के एक बिन्दु में जितने जीव हैं, उन सब सूक्ष्म-प्राणियों का शरीर भ्रमर प्रमाण हो जाय तो वे त्रिभुवन में भी नहीं समाते हैं ।''

भाव-स्नान का स्वरूप

ध्यान रूपी जल से, जीव के कर्म रूपी मल की शुद्धि का जो कारण बनता है, उसे भावस्नान कहते हैं ।

स्नान करने के बाद भी यदि घाव में से पीप आदि निकलता हो तो उसे अपने चन्दन-पुष्प आदि से प्रभु की द्रव्यपूजा दूसरों के व्दारा करानी चाहिए और अग्रपूजा एवं भावपूजा स्वयं करनी चाहिए । क्योंकि शरीर की अपवित्रता में प्रभुपूजा करने से आशातना की सम्भावना रहती है, इस कारण ऐसे व्यक्ति को प्रभु की अंगपूजा करने का निषेध है ।

कहा भी है– ``आशातना की उपेक्षा कर अपवित्र शरीर से और भूमि पर गिरे हुए फूलों से प्रभुपूजा करने वाले भवान्तर में चाण्डाल बनते हैं ।''

पुण्यसार राजा

कामरूप नगर में किसी चाण्डाल के घर एक पुत्र पैदा हुआ । पूर्वभव के वैरी किसी व्यन्तर ने उस नवजात बालक का अपहरण कर उसे किसी जंगल में छोड़ दिया । उस समय कामरूप नगर का राजा वन में परिभ्रमण के लिए आया हुआ था । उसने उस बालक को देखा और स्वयं पुत्ररहित होने से वह उसे उठाकर अपने महल में ले आया ।

राजा ने उसे पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया और उसका **'पुण्यसार'** नाम रखा । क्रमश:पुण्य-सार यौवनवय को प्राप्त हुआ ।

राजा ने पुण्यसार को राजगद्दी सौंप दी और स्वयं ने दीक्षा ले ली । सुन्दर संयमधर्म के प्रभाव से मुनि को केवलज्ञान पैदा हुआ । वे केवली भगवन्त क्रमश: विहार करते हुए कामरूपनगर में पधारे ।

पुण्यसार राजा और नगरवासी लोक केवली भगवन्त को वन्दन करने के लिए पधारे । उस समय पुण्यसार को जन्म देनेवाली चाण्डालिनी भी वहाँ आई । राजा को देखते ही उसके स्तन में से दूध की धारा बहने लगी । यह देख राजा को अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ ।

राजा के पूछने पर केवली भगवन्त ने कहा- ``हे राजन् ! तुम्हें जन्म देने वाली यह तुम्हारी माता है । तू तो मुझे वन में मिला था ।''

राजा ने पूछा- ``भगवन्त ! किस कर्म के उदय से मैं चाण्डाल हुआ ?''

केवली भगवन्त ने कहा- ``पूर्वभव में तू एक व्यापारी था । एक बार जिनेश्वर की पूजा करते समय एक पुष्प जमीन पर गिर गया था, उसे पूजा के लिए अयोग्य जानते हुए भी अवज्ञापूर्वक तूने वह फूल प्रभु को चढ़ाया । बस, इसी पाप के कारण तू चाण्डाल बना है ।''

कहा भी है– ``जो कीट आदि के द्वारा खण्डित फल, फूल और बिगड़े हुए नैवेद्य प्रभु को चढ़ाता है, वह आगामी जन्म में नीच गोत्र में पैदा होता है। पूर्व भव में तुम्हारी जो माता थी, उसने रजस्वला होने पर भी प्रभुपूजा की थी- इस कारण वह मरकर चाण्डालिनी बनी है।''

अपने पूर्व भव को सुनकर वैराग्य-वासित बने राजा ने दीक्षा स्वीकार की और शीघ्र आत्म-कल्याण किया।

भूमि पर गिरे हुए सुगन्धित पुष्प को भी प्रभु पर नहीं चढ़ाना चाहिए और थोड़ी भी अपवित्रता होने पर प्रभुपूजा नहीं करनी चाहिए। विशेषकर मासिक धर्म के दिनों में अपवित्रता के कारण स्त्रियों को प्रभुपूजा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से भयंकर आशातना आदि होती हैं।

पूजा के वस्त्र

पूर्वोक्त रीति से स्नान करने के बाद पवित्र सुकोमल गंधकाषायिक आदि वस्त्र से शरीर को पोंछकर भीगे वस्त्र को युक्तिपूर्वक उतार कर और शुद्ध वस्त्र को पहिन कर, गीले पैरों से भूमि का स्पर्श किये बिना पवित्र स्थान में आकर उत्तरदिशा सम्मुख खड़े रहकर मनोहर, नये, बिना फटे हुए और बिना जोड़े हुए दो चौड़े सफेद वस्त्र पहिनने चाहिए।

कहा भी है – ``मर्यादित जल आदि से शरीर को शुद्ध कर धूप से सुगन्धित, धोये हुए दो शुद्ध श्वेत वस्त्र पहिनने चाहिए।'' **लोक में भी कहा गया है**– ``हे राजन्! देवपूजा में साँधा हुआ, जला हुआ, फटा हुआ और दूसरे का वस्त्र नहीं पहिनना चाहिए।'' एक बार भी जिस वस्त्र को पहिनकर मल-मूत्र तथा मैथुनसेवन किया हो, उस वस्त्र का प्रभुपूजा में त्याग करना चाहिए।

एक वस्त्र पहिनकर भोजन और देव-पूजा नहीं करनी चाहिए तथा स्त्री को कंचुक पहिने बिना पूजा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार पुरुष को दो और स्त्री को तीन वस्त्र के बिना प्रभुपूजा आदि नहीं करनी चाहिए।

देवपूजा में धोये हुए वस्त्र, मुख्यतया सफेद ऐसे अतिविशिष्ट क्षीरोदकादि का ही उपयोग करना चाहिए। **निशीथ** आदि में उदायन राजा की रानी प्रभावती आदि के धोये हुए सफेद वस्त्र की ही बात आती है।

दिनकृत्य में भी कहा है- ``सफेद वस्त्र पहिनकर प्रभुपूजा करनी चाहिए। क्षीरोदक आदि वस्त्र पहिनने में असमर्थ व्यक्ति को महीन बढ़िया सूती धोती आदि का उपयोग करना चाहिए।''

पूजा षोड़शक में कहा है- ``सफेद और शुभ वस्त्र से पूजा करनी चाहिए। शुभ से तात्पर्य सफेद के अलावा अन्य लाल-पीले वर्ण वाले रेशमी वस्त्र आदि।''

``एक शाटिक उत्तरासंग करना चाहिए'' इस आगम प्रमाण के कारण उत्तरासंग अखण्ड ही होना चाहिए, परन्तु जुड़ा हुआ या साँधा हुआ नहीं होना चाहिए। ``भोजन आदि करने पर भी रेशमी वस्त्र सदैव पवित्र ही होते हैं'' इस लोकोक्ति को प्रभुपूजा में स्वीकार नहीं करना चाहिए।

पूजा के रेशमी वस्त्रों को भी भोजन, मल-मूत्र और अशुचि स्पर्श आदि से दूर ही रखना चाहिए ।

पूजा में उपयोग के बाद पुन:पुन उन वस्त्रों को धोना चाहिए और धूप से सुवासित करना चाहिए । उनका उपयोग अल्पकाल के लिए ही करना चाहिए । पूजा के वस्त्र से पसीने तथा श्लेष्म आदि को साफ नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे अपवित्रता होती है ।

बाल, वृद्ध स्त्री आदि के तथा स्वयं के उपयोग में लिये हुए अन्य वस्त्रों से पूजा के वस्त्र दूर रखने चाहिए ।

कुमारपाल राजा

एक बार कुमारपाल के मंत्री बाहड़ के छोटे भाई चाहड़ ने कुमारपाल राजा के पूजा के वस्त्र अपने उपयोग में ले लिये ।

राजा ने मंत्री को कहा- ``मुझे नये वस्त्र दो ।'' मंत्री ने कहा- ``नये रेशमी वस्त्र भी सपादलक्ष देश की बम्बेरा नगरी में ही बनते हैं । परन्तु वहाँ का राजा नये वस्त्रों को एक दिन पहिनने के बाद ही यहाँ भेजता है ।''

यह बात सुनकर कुमारपाल ने बम्बेरा के राजा से बिना उपयोग में लिया वस्त्र मांगा, परन्तु उस राजा ने वस्त्र नहीं दिया ।

तब राजा ने चाहड़ को बुलाकर कहा- ``तू सैन्य सहित बम्बेरा नगरी जा और पटोला बनाने वाले कारीगरों को लेकर आ । तू दान देने में उदार है, परन्तु ज्यादा खर्च मत करना ।'' इतना कहकर राजा ने सैन्य सहित मंत्री को भेजा ।

तीसरे प्रयाण में मंत्री ने कोषाध्यक्ष से एक लाख द्रव्य मांगा परन्तु राजा के आदेशानुसार उसने नहीं दिया अत:मंत्री ने उसे बाहर निकाल दिया ।

तत्पश्चात् भण्डार में से यथेच्छ द्रव्य का व्यय किया । बाद में जल्दी ही बम्बेरा पहुँचा । चौदह सौ सांडनियों पर दो-दो शस्त्रधारी सैनिकों के साथ रात्रि में बम्बेरा नगरी के चारों ओर घेरा डाला । परन्तु उसी रात्रि में सात सौ कन्याओं के विवाह का महोत्सव चालू होने से उनको विघ्न न हो इसलिए एक रात्रि विलम्ब कर प्रात:काल में उसी किले को अपने अधीन कर लिया । मंत्री ने वहाँ के खजाने में से सात करोड़ सोना मोहर और ग्यारह सौ घोड़े ले लिये । किले को तोपों से नष्ट कर दिया और उस देश में अपने स्वामी की आज्ञा प्रवर्ता कर सात सौ सालवियों को महोत्सवपूर्वक पाटण ले आये ।

राजा ने कहा, • `` तुम्हारी उदारता ही एक बड़ा दोष है । परन्तु तुम्हारी यह उदारता ही बुरी नजर नहीं लगने में मन्त्र समान है । तुमने मुझसे भी अधिक धन खर्च कर दिया ?''

मंत्री ने कहा- ``मेरे व्यय में तो मेरे स्वामी का पीठबल है अर्थात् मैंने अपनी शक्ति के बल पर नहीं, आपकी शक्ति के बल पर धन खर्च किया है । आपके पास किसका बल है ?''

• **देखिये 'प्रबन्धचिन्तामणि ' के राजघरट्टचाहड़प्रबन्ध में -**
``तव स्थूल लक्ष्यतैव महद्दूषणं रक्षामन्त्र:, नो वा चक्षुर्दोषेणोद्ध्र्व एव विदीर्यसे ।
यं व्ययं भवान् कुरुते तादृशं कर्त्तुमहमपि न प्रभूष्णु:।''

यह बात सुनकर राजा बड़ा खुश हुआ और उसने सम्मान सहित उस मंत्री को **'राजघरट्ट'** का बिरुद प्रदान किया ।

द्रव्य शुद्धि

अच्छे स्थान में उत्पन्न, अच्छे चरित्रवान कुशल व्यक्ति के पास मंगाये हुए, पवित्र बर्तन में भर के ढक कर लाये हुए, मार्ग में अशुचि व्यक्ति या वस्तु के स्पर्श बिना लाये हुए पानी, पुष्प आदि का उपयोग करना चाहिए । पानी लाने वाले को उचित मूल्य देकर खुश करना चाहिए ।

उसके बाद मुखकोश को बाँध कर पवित्र भूमि पर बैठ कर जीवरहित साफ किये हुए बढ़िया केसर, कपूर आदि से मिश्रित चन्दन को घिसना चाहिए ।

उत्तम धूप, दीप, कंकड़ व कचरे से रहित अखंड स्वच्छ बासमती चावल आदि विशिष्ट एवं बिल्ली या बालक आदि के द्वारा जो जूठी नहीं की गई हो ऐसी मिठाई, सरस व सुन्दर फल आदि सामग्री इकट्ठी करनी चाहिए । यह सब पूजा के लिए द्रव्य-शुद्धि है ।

19. भाव-शुद्धि

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, इस लोक और परलोक के सुख की इच्छा, कौतुक तथा उलझन आदि का त्याग कर चित्त की एकाग्रता ही भाव-शुद्धि है । **कहा भी है** – ``भगवान की पूजा के समय मन, वचन, काया, वस्त्र, भूमि, उपकरण तथा विधि; इस तरह सात प्रकार की शुद्धि करनी चाहिए ।'' इस प्रकार द्रव्य और भाव से शुद्धि करके ◆ घर-मन्दिर में प्रवेश करना चाहिए ।

20. जिनमन्दिर में प्रवेश

जिनमन्दिर की दाहिनी दिशा को आश्रय कर पुरुष को और बायीं दिशा को आश्रय कर स्त्री को मन्दिर में प्रवेश करना चाहिए । जिनमन्दिर में प्रवेश करते समय जिनमन्दिर की सीढ़ी पर सर्वप्रथम पुरुष और स्त्री को अपना दायाँ पैर रखना चाहिए ।

पूर्व सम्मुख अथवा उत्तर सम्मुख रह कर चन्द्रनाड़ी बहते समय मधुर पदार्थों से मौनपूर्वक देव-पूजा करनी चाहिए ।

संक्षेप में देवपूजा की विधि बतलाते हैं - तीन बार निसीहि, तीन बार प्रदक्षिणा, पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपातीत इन तीन अवस्थाओं का चिन्तन आदि विधि करने के बाद पवित्र पाटले पर पद्मासन आदि सुखकारक आसन में बैठ कर चन्दन के भाजन में से दूसरे पात्र में अथवा हथेली में चन्दन लेकर कपाल पर तिलक एवं हाथ पर कंकण करके चन्दन व धूप से वासित हाथ से जिनेश्वर की पूजा करके आगे कही जाने वाली विधि से अंग, अग्र और भावपूजा करके पहले किया हो अथवा न किया हो तो भी प्रभुसाक्षी में यथाशक्ति पच्चक्खाण करना चाहिए ।

◆ **सुखी जैन-गृहस्थ को घर में जिनमन्दिर रखने की विधि है ।**

जिनमन्दिर जाने की विधि

विहिणा जिणं जिणगिहे, गंतुं अच्चेइ उचिअचिंतरओ ।
उच्चरइ पच्चक्खाणं, दढपंचाचारगुरुपासे ।।6।। मूलगाथा - 6

जिनमन्दिर को जाने वाला यदि राजा हो तो उसे जिनशासन की महिमा बढ़ाने के लिए समस्त ऋद्धि, ऐश्वर्य, सर्वयुक्ति, सर्वबल, सर्वपराक्रम के साथ जाना चाहिए ।

दशार्णभद्र

अभिमानपूर्वक दशार्णभद्र ने सोचा- पहले किसी ने वन्दन न किया हो ऐसी ऋद्धि और समृद्धि के साथ भगवान महावीर प्रभु की वन्दना के लिए जाऊंगा । इस प्रकार विचार कर उसने आभूषणादि सहित सुन्दर वेष धारण किया । परिजनों व दास-दासियों को भी सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुशोभित किया । प्रत्येक हाथी के दन्तशूल को स्वर्ण-रजत अलंकारों से मढ़ दिया । अनन्तर चतुरंगिणी सेना सहित अपने अन्त:पुर की स्त्रियों को सोने और चांदी की पाँच सौ पालकियों में बिठा कर अत्यन्त वैभवपूर्वक वह भगवान महावीर की वन्दना करने हेतु निकला ।

दशार्णभद्र के अभिमान को दूर करने के लिए सौधर्मेन्द्र भी उसी समय अपनी दिव्य ऋद्धियों के साथ प्रभु की वन्दना के लिए आया ।

वृद्ध ऋषिमण्डल स्तव में कहा है- सौधर्मेन्द्र ने अपनी विक्रियालब्धि से 512 मस्तकों वाले चौंसठ हजार हाथी बनाये । प्रत्येक हाथी के प्रत्येक मस्तक पर आठ-आठ दन्तशूल बनाये । प्रत्येक दन्तशूल पर आठ-आठ बावड़ियाँ निर्मित कीं । प्रत्येक बावड़ी में एक-एक लाख पंखुड़ी वाले आठ-आठ कमल बनाये । प्रत्येक पंखुड़ी पर बत्तीस दिव्य नाटकों की रचना की और कमल की कर्णिका में एक-एक दिव्य प्रासाद बनाया । प्रत्येक प्रासाद में अग्रमहिषियों के साथ बैठे हुए इन्द्र प्रभु के गुणगान हो रहे थे ।

इस प्रकार अतुल वैभव के साथ ऐरावत हाथी पर बैठकर आ रहे इन्द्र को देखकर दशार्णभद्र राजा ने दीक्षा स्वीकार कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की यानी ``भौतिक ऋद्धि तो इन्द्र के मुकाबले मैं नहीं ला सका तो अब मैं भगवान के पास दीक्षा ले लूँ-इन्द्र दीक्षा ले नहीं सकता ।'' ऐसा विचार कर दशार्णभद्र ने दीक्षा अंगीकार कर ली और इस तरह वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सका ।

पूर्वाचार्यों ने शक्रेन्द्र रचित हाथी तथा कमलों आदि की संख्या इस प्रकार बतलाई है- एक हाथी के 4096 दन्तशूल, 32768 बावड़ियाँ, 262144 कमल और उतनी ही संख्या में कर्णिका में रहे प्रासादावतंसक थे । एक कमल की 26,21,44,00,000 पंखुड़ियाँ थीं । इस प्रकार के 64,000 ऐरावण हाथी थे । उन हाथियों के 32768000 मुख थे तथा 262144000 दाँत थे । कुल बावड़ियाँ 2097152000 थीं । सब मिलाकर 16777216000 कमल थे । पंखुड़ियाँ सोलह कोटाकोटि, सतत्तर लाख करोड़, बहत्तर हजार करोड़, एक सौ साठ करोड़ (1677721,60,00,00,000) थीं । नाटकों की संख्या पाँच सौ छत्तीस कोटाकोटि, सत्तासी लाख नौ हजार एक सौ बीस करोड़ (536870912000,00,000) थी । - इस प्रकार आवश्यक सूत्र की चूर्णि में कहा गया है ।

एक-एक प्रासादावतंसक में आठ-आठ अग्र महिषियों के साथ सर्व इन्द्रों की संख्या, समस्त कमलों के बराबर थी तथा इन्द्राणियों की संख्या 134217728000 थी । प्रत्येक नाटक में समान श्रृगांर एवं नाट्योपकरण वाले 108 देवकुमार और 108 देवियाँ थीं ।

वाद्ययन्त्र – 1 शंख, 2 श्रृंग, 3 शंखिका, 4 पेया, 5 परिपरिका, 6 पणव, 7 पटह, 8 भम्भा, 9 होरम्भा, 10 भेरी, 11 झल्लरी, 12 दुन्दुभि, 13 मुरज, 14 मृदंग, 15 नांदीमृङ्ग, 16 आलिङ्ग, 17 कुस्तुम्ब, 18 गोमुख, 19 मर्दल, 20 विपञ्ची, 21 वल्लकी, 22 भ्रामरी, 23 षड् भ्रामरी, 24 परिवादिनी, 25 बब्बीसा, 26 सुघोषा, 27 नन्दिघोषा, 28 महती, 29 कच्छपी, 30 चित्रवीणा, 31 आमोट, 32 झंझा, 33 नकुल, 34 तूणी, 35 तुम्बवीणा, 36 मुकुन्द, 37 हुडुक्का, 38 चिच्चिकी, 39 करटी, 40 डिंडिम, 41 किणित, 42 कडम्बा, 43 दर्दरक, 44 दर्दरिका, 45 कुस्तुम्बर, 46 कलशिका, 47 तल, 48 ताल, 49 कांस्यताल, 50 रिगिसिका,51 मकरिका, 52 शिशुमारिका, 53 वंश, 54 वाली, 55 वेणु, 56 परिली, 57 बन्धूक आदि; प्रमुख विविध वाद्यवादक भी प्रत्येक 108-108 थे ।

देवकुमार और देवकुमारियाँ साथ-साथ गा रहे थे और नाच रहे थे ।

बत्तीस प्रकार के नाटकों के नाम ये हैं –

1) स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण रूप अष्ट मंगल के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

2) आवर्त्त, प्रत्यावर्त्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, पुष्यमान, वर्द्धमान, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, जारमार, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासन्तीलता, पद्मलता, इनके आकार की तरह होकर नाटक करना ।

3) ईहामृग, ऋषभ, तुरग, नर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर, वनलता, पद्मलता के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

4) एक ओर चक्र, एक ओर तलवार, एक तरफ चक्रवाल, द्विधा चक्रवाल और चक्राद्ध चक्रवाल के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

5) चन्द्रवलयावलि, सूर्यवलयावलि, तारावलि, हंसावलि, एकावलि, मुक्तवलि, कनकावलि, रत्नावलि, अभिनयात्मक आवलि आदि के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

6) चन्द्रोदय व सूर्योदय के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

7) चन्द्र-सूर्य के आगमन के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

8) चन्द्र-सूर्य के अवतरण के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

9) चन्द्र-सूर्यास्त के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

10) चन्द्र, सूर्य, नाग, यक्ष, भूत, राक्षस, महोरग, गन्धर्वमण्डल के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

11) ऋषभ, सिंह, ललित, अश्व, तथा हाथी के विलसित तथा मदोन्मत्त घोड़े-हाथी के विलम्बित अभिनय रूप द्रुतविलम्बित ।

12) सागर-नागद के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

13) नन्दा चम्पा के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

14) मत्स्य अण्डक, मकर अण्डक, जार-मार के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

15) क ख ग घ ड़ के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

16) च छ ज झ ञ के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

17) ट ठ ड ढ ण के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

18) त थ द ध न के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

19) प फ ब भ म के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

20) अशोक, आम्र, जम्बु, कोशम्ब, पल्लव के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

21) पद्मनाग, अशोक, चम्पक, आम्रवन, कुन्द, अतिमुक्त श्याम लता के आकार की तरह होकर नाटक करना ।

22) द्रुत 23) विलम्बित 24) द्रुतविलम्बित 25) अंचित 26) रिभित 27) अंचितरिभित 28) आरभट 29) भसोल 30) आरभट भसोल 31) उत्पातनिपातप्रवृत्त, संकुचित-प्रसारित, रेचकरचित, भ्रान्त-सम्भ्रान्त 32) तीर्थंकर आदि महापुरुषों के चरित्र के अभिनय से निबद्ध नाटक ।

इन सबका निर्देश **राजप्रश्नीय उपांग** में है ।

ऋद्धिमन्त श्रावक इस प्रकार पूरे आडम्बर सहित प्रभु के दर्शनार्थ जाता है ।

यदि सामान्य वैभव वाला हो तो अधिक आडम्बर न करते हुए, लोक के उपहास का पात्र न बनते हुए अपनी शक्ति के अनुसार आडम्बरपूर्वक भाई, पुत्र तथा मित्रादि सहित प्रभुदर्शन को जाए ।

पाँच अभिगम

जिनमन्दिर में प्रवेश करते समय पाँच अभिगमों का पालन करना चाहिए–

1) पुष्प, ताम्बूल, सरसों, दूर्वा, छुरी आदि शस्त्र, पादुका, मुकुट तथा हाथी, घोड़े आदि सचित्त-अचित्त वस्तुओं का त्याग ।

2) मुकुट को छोड़कर अन्य समस्त आभूषणों का अत्याग (मुकुट सिवाय अन्य आभूषण पहिनने चाहिए ।)

3) लम्बे-चौड़े वस्त्र का उत्तरासंग ।

4) प्रभु के दर्शन के साथ ही हाथ जोड़कर, दोनों हाथों को मस्तक पर लगाकर **'नमो जिणाणं'** कहना ।

5) मन की एकाग्रता ।

इन पाँच अभिगमों के साथ **'निसीहि'** कहकर जिनमन्दिर में प्रवेश करना चाहिए ।

आर्ष-वाणी – (1) सचित्त द्रव्य का त्याग । (2) अचित्त द्रव्य का ग्रहण । (3) एक वस्त्र का उत्तरासंग । (4) चक्षु से प्रभु-दर्शन के साथ ही हाथ जोड़ना और (5) मन की एकाग्रता ।

राजा आदि को मन्दिर में प्रवेश करना हो तो उन्हें (1) तलवार (2) छत्र (3) वाहन (4) मुकुट और (5) चामर आदि राजचिह्नों का त्याग करना चाहिए ।

निसीहि-जिनमन्दिर के प्रवेशद्वार पर मन-वचन और काया से गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी प्रवृत्ति के निषेध के लिए तीन बार **'निसीहि'** कहनी चाहिए ।

तीन बार **'निसीहि'** कहने पर भी वह एक ही निसीहि मानी जाती है, क्योंकि इससे सिर्फ सांसारिक प्रवृत्तियों का ही निषेध किया जाता है ।

उसके बाद मूलनायक भगवान को प्रणाम करके, अपने दाहिने हाथ की ओर प्रभु को रखकर ज्ञानादि रत्नत्रयी की आराधना के लिए तीन बार प्रदक्षिणा देनी चाहिए ।

प्रत्येक शुभ कार्य दाहिने हाथ से ही किया जाता है, इस कारण प्रदक्षिणा भी प्रभु के दाहिने हाथ की ओर से ही दी जाती है । **कहा भी है –**

``उसके बाद **'नमो जिणाणं'** कहकर भक्ति से उल्लसित मन से अर्धावनत अथवा पंचांग-प्रणिपात करना चाहिए । तत्पश्चात् पूजा के उपकरणों की थाली को हाथ में लेकर गम्भीर और मधुर स्वर से जिनेश्वर भगवन्त के मंगल-स्तोत्र बोलते हुए, कदम-कदम पर जीवरक्षा का उपयोग रखकर, प्रभु के गुणों में दत्तचित्त बनकर तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिए ।''

गृहचैत्य में प्रदक्षिणा देने की (प्राय:) सुविधा नहीं होती है । संघ के मन्दिर में भी यदि किसी कारणवश प्रदक्षिणा न दे सके तो भी बुद्धिमान पुरुष उस विधिपालन के अध्यवसाय (परिणाम) को कभी नहीं छोड़ता है ।

प्रदक्षिणा देते समय समवसरण में रहे चतुर्मुख जिनेश्वर भगवन्त का ध्यान करते हुए, गर्भगृह के दाँये-बाँये तथा पीछे के भाग में रहे जिनबिम्ब को वन्दन करना चाहिए ।

चैत्य की रचना समवसरण के स्थानभूत होने से मूल गर्भगृह की तीन दिशाओं में भी मूलनायक जिनबिम्ब के नाम के जिनबिम्बों की स्थापना की जाती है ।

इस प्रकार चारों दिशाओं में जिनबिम्बों की स्थापना होने से **'वर्जयेदर्हत:पृष्ठं'**- यानी `गृहस्थ के मकान की ओर अरिहन्त की पीठ नहीं होनी चाहिए' शिल्पशास्त्र के इस वचन का भी पालन हो जायेगा ।

उसके बाद जिनमन्दिर के प्रमार्जन, हिसाब-किताब आदि की यथायोग्य चिन्तापूर्वक (जिसका वर्णन आगे करेंगे।) पूजादि की सामग्री को तैयार कर जिनमन्दिर सम्बन्धी कार्य के त्याग रूप दूसरी निसीहि मुख्य मण्डप आदि में प्रवेश करते समय करनी चाहिए । उसके बाद मूलनायक प्रभु को तीन बार प्रणाम कर पूजा करनी चाहिए । **भाष्य में कहा है –**

उसके बाद निसीहि कहकर मूलमण्डप में प्रवेश कर परमात्मा के सामने पंचांगप्रणिपातपूर्वक तीन बार प्रणाम करना चाहिए । फिर हर्षोल्लासपूर्वक मुखकोश बाँधकर प्रभु-प्रतिमा पर रहे गत दिन के निर्माल्य को उतारना चाहिए और मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करना चाहिए । अनन्तर जिनमन्दिर की प्रमार्जना (सफाई) स्वयं करनी चाहिए अथवा दूसरे के पास करानी चाहिए । उसके बाद विधिपूर्वक जिनबिम्ब की पूजा करनी चाहिए ।

अपने मुख के तथा नाक के श्वास-निश्वास से प्रभु-आशातना रोकने के लिए आठ पुट वाला मुखकोश करना चाहिए ।

वर्षा ऋतु में निर्माल्य में कुन्थु आदि जीवों की उत्पत्ति हो सकती है, इस कारण निर्माल्य और स्नात्रजल को अलग-अलग पवित्र व निर्जीव स्थान में डालना चाहिए, ऐसा करने से आशातना भी नहीं होगी ।

गृहचैत्य में पूजा करनी हो तो सर्वप्रथम ऊँचे स्थान पर भोजनादि में जिसका उपयोग नहीं किया जाता हो ऐसे पवित्र पात्र में परमात्मा को स्थापित कर, दोनों हाथों से पवित्र जल से भरे हुए कलश आदि से परमात्मा का अभिषेक करना चाहिए । अभिषेक करते समय इस प्रकार विचार करना चाहिए- ``हे स्वामिन् ! बाल्यवय में मेरुपर्वत के ऊपर देवताओं ने स्वर्ण के कलशों से आपका अभिषेक किया, जिन्होंने वह अभिषेक देखा, वे धन्य हैं ।''

उसके बाद आवश्यकता हो तो सावधानीपूर्वक वालाकूंची से प्रभु की देह पर रहे चन्दन केसर को दूर कर (शुद्ध जल से) पुनःप्रक्षालन करके बाद में दो (तीन) अंगलूँछन से प्रभु की देह पर रहे जल को साफ कर चरणांगुष्ठ के क्रम से प्रभु के नौ अंगों की चन्दनादि से पूजा करनी चाहिए ।

कुछ आचार्यों का कथन है कि सर्व प्रथम भाल पर तिलक करके फिर प्रभु की नवांगीपूजा करनी चाहिए । **श्री जिनप्रभसूरि** कृत **पूजाविधि** में तो इस प्रकार कथन है- ``सरस सुरभि चन्दन से सर्वप्रथम प्रभु के दाहिने घुटने की, फिर दाहिने कन्धे की, उसके बाद भाल की, उसके बाद बाँये कन्धे की, उसके बाद बाँये घुटने की, उसके बाद हृदय की- इस प्रकार छह अंगों की सर्वांग पूजा करके ताजे और खिले हुए फूलों से एवं वासचूर्ण से प्रभु की पूजा करनी चाहिए ।''

यदि पहले किसी ने प्रभु की सुन्दर पूजा या अंगरचना की हो और स्वयं के पास पूजा या आंगी की बढ़िया सामग्री न हो तो उस पूर्व की पूजा या आंगी को नहीं उतारना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से भव्य जीवों को उस सुन्दर पूजा या आंगी के दर्शन से होने वाले पुण्यबन्ध में अन्तराय पैदा होता है । अतःपूर्व की पूजा या आंगी को न उतार कर उसी की शोभा में अभिवृद्धि करनी चाहिए । **बृहद् भाष्य** में कहा है–

``यदि पूर्व में किसी ने अधिक धन खर्च कर प्रभु की पूजा की हो तो उसी की शोभा में अभिवृद्धि हो-इस प्रकार करना चाहिए ।''

गीतार्थ पुरुष भोग से विनष्ट द्रव्य को निर्माल्य कहते हैं । पूर्व की पूजा पर पुनःपूजा करने से निर्माल्य का दोष नहीं है ।

इसीलिए एक बार प्रभुपर चढ़ाये वस्त्र, आभरण, कुण्डल की जोड़ आदि वापस प्रभु पर धारण कराये जाते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो विजय आदि देव द्वारा एक ही रेशमी अंगलूँछन से एक सौ आठ जिनप्रतिमा के अगलूँछन का वर्णन **'जीवाजीवाभिगम'** आदि शास्त्रों में कैसे आता ?

``जिनबिम्ब के ऊपर आरोपित करने के बाद जो वस्तु कान्तिरहित, सुगन्धरहित और शोभा-रहित हो गई हो और दर्शक के मन को आनन्द देने वाली न हो तो उसे बहुश्रुत आचार्य निर्माल्य कहते हैं''- इस प्रकार **'संघाचारवृत्ति'** में कहा है।

प्रद्युम्न सूरि कृत **विचारसार प्रकरण** में तो इस प्रकार कहा है-``देवद्रव्य दो प्रकार का है- (1) पूजा द्रव्य और (2) निर्माल्य द्रव्य। पूजासाम्रगी के लिए जो आय आदि का साधन हो, उसे **पूजाद्रव्य** कहते हैं। अक्षत, फल, नैवेद्य तथा वस्त्र आदि बेचकर जो पैसे आते हैं, उसे **निर्माल्य द्रव्य** कहते हैं। उसका पूजा के अलावा जिनमन्दिर के कार्य में उपयोग कर सकते हैं।''

यहाँ पर प्रभु के सामने रखे गये चावल, बादाम आदि को निर्माल्य कहा गया है, परन्तु यह बात अन्य किसी आगम, प्रकरण या चरित्र ग्रन्थ में नहीं मिलती है। किसी गच्छ में भी इस प्रकार की परम्परा देखने को नहीं मिलती है। जिस गाँव में पूजासामग्री के लिए आय का दूसरा साधन न हो वहाँ अक्षत, नैवेद्य आदि के द्रव्य से भी पूजा करने का विधान है। यदि अक्षत आदि को निर्माल्य गिना जाय तो उस द्रव्य से जिनपूजा कैसे हो सकती है ? अत:भोग से नष्ट हुए द्रव्य को ही निर्माल्य कहना युक्तिसंगत है। ``भोग से विनष्ट द्रव्य को गीतार्थ पुरुष निर्माल्य कहते हैं'' इस प्रकार की आगमोक्ति भी है। इस विषय में तत्त्व तो केवलीगम्य है।

चन्दन, पुष्प आदि से पूजा करते समय इतना विवेक अवश्य रखना चाहिए कि चन्दन, पुष्प आदि से प्रभु का मुख न ढक जाय अपितु प्रभु की शोभा में अभिवृद्धि हो। इस प्रकार विवेक करने से दर्शक के मन में भी प्रमोद भाव पैदा होता है और इससे उसके पुण्य की वृद्धि होती है।

21. पूजा के तीन प्रकार

अंग, अग्र और **भाव** के भेद से पूजा तीन प्रकार की होती है।

सर्वप्रथम निर्माल्य (पूर्व दिन के पुष्पादि) पदार्थों को दूर करना चाहिए। उसके बाद प्रमार्जन करके प्रभु के अंग का प्रक्षालन करना चाहिए। आवश्यकतानुसार सावधानी पूर्वक वालाकूंची का उपयोग करना चाहिए। प्रभु को कुसुमांजलि करनी चाहिए।

पंचामृत जल से स्नात्र करना चाहिए। उसके बाद निर्मल जल से प्रभु का प्रक्षालन कर धूपित, स्वच्छ,गंध काषायादिक वस्त्रों से प्रभु का अंगलूँछन करना चाहिए। उसके बाद कपूर आदि से मिश्र गोशीर्ष चन्दन से प्रभु का विलेपन तथा आंगी आदि करनी चाहिए। उसके बाद गोरोचन, कस्तूरी आदि से तिलक तथा पत्र आदि की रचना करनी चाहिए। तत्पश्चात् मूल्यवान रत्न, सुवर्ण, मोती आदि के अलंकारों से तथा सोने-चांदी के फूलों से प्रभु की सजावट करनी चाहिए।

◆ वस्तुपाल मंत्री ने सवा लाख जिनबिम्बों के तथा शत्रुंजय तीर्थ के समस्त जिनबिम्बों के रत्न व सुवर्ण के अलंकार बनवाये थे।

◆ महासती दमयन्ती ने पूर्व भव में अष्टापद पर्वत पर रहे चौबीस जिनेश्वर भगवन्तों के रत्न के तिलक बनवाये थे ।

इन दृष्टान्तों को ध्यान में रखकर अपनी शक्ति के अनुसार परमात्मभक्ति में स्वद्रव्य का सद्व्यय करना चाहिए, जिससे दूसरों के भावों की भी अभिवृद्धि हो । **कहा भी है**– ``उत्तम साधनों से प्रायः उत्तम भाव पैदा होता है । इससे बढ़कर लक्ष्मी का श्रेष्ठ उपयोग नहीं है ।''

जिनमन्दिर में श्रेष्ठ वस्त्रों के चंदरवे आदि बाँधने चाहिए ।

ग्रथिम (गूँथे हुए), वेष्टिम (वेष्टन से बने हुए), पूरिम (पिरोये हुए) तथा संघातिम (ढेर रूप) इन चार प्रकारों से बढ़िया ताजे तथा विधिपूर्वक लाये हुए कमल, जाई, केतकी, चम्पा आदि के फूलों की माला, मुकुट, कलगी, पुष्पगृह आदि की रचना करनी चाहिए ।

जिनेश्वर भगवन्त के हाथ में सोने का बीजोरा, नारियल, सुपारी और नागरबेल के पान, सोना मोहर, अँगूठी तथा मोदक आदि रखना चाहिए । बाद में धूप करना चाहिए । सुगन्धित-वासक्षेप करना चाहिए-यह सब अंगपूजा में गिना जाता है । **बृहद्भाष्य** में कहा है–

स्नान, विलेपन, आभरण, वस्त्र, फल, गन्ध, धूप तथा पुष्प आदि से की जाने वाली पूजा अंगपूजा कहलाती है ।

अंगपूजा में यह विधि समझनी चाहिए-वस्त्र से नाक और मुँह बाँध करके अथवा समाधि हेतु वस्त्र से नाक और मुँह को ढक करके पूजा करनी चाहिए तथा शरीर को खुजलाना नहीं चाहिए । अन्यत्र भी कहा है- ``परमात्मा की पूजा करते समय शरीर को खुजलाना नहीं चाहिए, बलगम थूकना नहीं चाहिए और स्तुति-स्तोत्र आदि नहीं बोलना चाहिए ।''

प्रभुपूजा के समय मुख्यतया तो मौन ही रहना चाहिए । यदि मौन न रह सके तो पापकारी वचन का तो अवश्य त्याग करना चाहिए ।

जिनमन्दिर में **'निसीहि'** कहकर प्रवेश होने के कारण गृह-सम्बन्धी प्रवृत्ति का निषेध हो जाता है, अतः पापप्रवृत्ति करने का संकेत नहीं करना चाहिए-ऐसा करने से औचित्य का भंग होता है ।

जिणहाक

धोलका नगरवासी जिणहाक की स्थिति अत्यन्त ही सामान्य थी । वह घी के साडे तथा कपास आदि के भार को वहन कर अपनी आजीविका चलाता था ।

एक बार जिणहाक एकाग्रचित्त से भक्तामर-स्तोत्र का पाठ कर रहा था । उसकी भक्ति को देखकर चक्रेश्वरी देवी प्रसन्न हो गयी । उस देवी ने उसे वशीकरण करने वाला रत्न प्रदान किया । रत्न के प्रभाव से उसने मार्ग में आ रहे तीन प्रसिद्ध चोरों को खत्म कर दिया । पाटण के भीमदेव राजा ने इस अद्भुत वृत्तांत को सुना । प्रसन्न होकर राजा ने उसे बहुमानपूर्वक बुलाकर देश की रक्षा के लिए तलवार प्रदान की । उस समय शत्रु के लिए शल्य समान सेनापति ईर्ष्या से बोला ``तलवार तो उसे

देनी चाहिए जिसे तलवार चलाने का अभ्यास हो । जिणहाक को तो फकत तराजू, वस्त्र और कपास देना चाहिए ।''

उसी समय जिणहाक बोला, ``तलवार, भाले और बर्छी धारण करने वाले तो बहुत से लोग हैं, परन्तु शत्रुओं के लिए शल्य रूप और युद्ध में शूरवीर पुरुष को जन्म देने वाली तो कोई विरल ही माता होती है ।''

``अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वाणी, वीणा, नर तथा नारी पुरुषविशेष को प्राप्त कर योग्य तथा अयोग्य बनते हैं । अर्थात् योग्य व्यक्ति के पास अश्व आदि लाभ का कारण बनता है और अयोग्य व्यक्ति के पास रहा अश्व आदि नुकसान का कारण बनता है ।'' इस प्रकार के जिणहाक के वचनों को सुनकर राजा ने उसे तलारक्षक (कोतवाल) बना दिया । जिणहाक ने अपने पराक्रम से गुजरात देश में से `चोर' का नाम ही मिटा दिया ।

एक बार सौराष्ट्र का चारण जिणहाक की परीक्षा के लिए पाटण आया । उसने उस गाँव में से ऊँट की चोरी कर उसे अपनी झोंपड़ी के पास बाँध दिया । अन्त में कोतवाल के सैनिक ने उसे पकड़ लिया और उसे जिणहाक के पास ले आया । उस समय जिणहाक देवपूजा कर रहा होने से मुँह से तो कुछ नहीं बोला, परन्तु फूल के बींट को तोड़कर संकेत कर दिया कि इसे खत्म कर दिया जाय ।

उसी समय वह चारण बोला- ``जिणहाक के हृदय में जिनवर नहीं आये हैं क्योंकि जिन हाथों से जिनवर की पूजा करता है उनसे वह हत्या कैसे कर सकता है ?''

चारण के इन शब्दों को सुनकर जिणहाक लज्जित हो गया और उसने `पुनःचोरी मत करना' ऐसा कहकर उसके गुनाह को माफ किया । इसे सुनकर उस चारण ने कहा-

इक्का चोरी सा किआ, जा खोलडइ न मार ।
बीजी चोरी किम करइ, चारण चोर न थाय ।।

ऐसे वाक्य सुनकर के **`यह तो चारण है'** ऐसा जानकर उसको पूछा ``तुमने क्या कहा ?''

वह बोला- ``मैं चोर होता तो ऊँट की चोरी क्यों करता ? अगर करता तो भी अपनी झोंपड़ी के पास क्यों बाँधता ? यह कार्य तो मैंने दान पाने के लिए किया है ।''

यह सुनकर के जिणहाक ने खुश होकर उसे दान देकर विदा किया ।

उसके बाद जिणहाक ने तीर्थयात्रा, मन्दिर-निर्माण, पुस्तकलेखन आदि पुण्य कार्य किये । सिर पर माल की गाँठ उठाकर माल बेचने वालों की चूंगी माफ की । वह अभी तक चल रही है ।

द्वारबिम्ब व समवसरण बिम्ब की पूजा

मूलनायक प्रभु की विस्तार से पूजा करने के बाद यथाशक्ति अन्य सब बिम्बों की भी पूजा करनी चाहिए ।

द्वारबिम्ब और समवसरण बिम्ब की पूजा मुख्य बिम्ब की पूजा के बाद गर्भगृह से बाहर निकलते समय करना ही उचित है, न कि प्रवेश करते समय । क्योंकि **सर्वप्रथम मूलबिम्ब की ही पूजा करना योग्य है ।**

यदि निकटता की दृष्टि से द्वार-बिम्ब आदि का पूजन पहले किया जाय तो विशाल जिनमन्दिर में प्रवेश करते समय अनेक जिनबिम्ब निकट होने से मूलनायक के पहले उनकी पूजा करनी पड़ेगी । ऐसा करने से तो पुष्पादि की अल्पता होने पर मूल बिम्ब की पूजा ही रह जाएगी । शत्रुंजय-गिरनार आदि तीर्थों पर तो प्रवेश के मार्ग में अनेक जिनबिम्ब होने से यदि पहले उनकी पूजा की जाय तो मुख्य मन्दिर में सबसे आखिर में पहुँचेंगे जो कि उचित नहीं है ।

निकटता की दृष्टि से ही विचार करेंगे तब तो उपाश्रय में प्रवेश करने के बाद मुख्य गुरु के बजाय अन्य साधु ही निकट होने से उन्हीं को पहले वन्दन करना पड़ेगा, जो अनुचित होगा । हाँ ! निकट होने से प्रणाम/नमस्कार मात्र तो पहले भी कर सकते हैं ।

तृतीय उपांग (जीवाभिगम) में कही गई पूजाविधि के अनुसार ही संघाचार में विजयदेव के वर्णन में भी द्वार तथा समवसरण बिम्ब की पूजा बाद में ही करने का विधान है । **कहा है**– `उसके बाद सौधर्म सभा में जाकर जिनेश्वर भगवन्त की दाढ़ों को प्रणाम कर पेटी को खोलकर मोरपीछी से उसकी प्रमार्जना करते हैं । उसके बाद सुगन्धित जल से इक्कीस बार प्रक्षालन कर गोशीर्ष चन्दन से लेपकर फूलों से पूजा करने के बाद, द्वार-बिम्बों की पूजा करते हैं'' इसी प्रकार पाँचों सभाओं में पूजा करते हैं, द्वारपूजा आदि की विशेष विधि **तृतीय जीवाभिगम उपांग** से जानें । अत:केसर, पुष्प आदि से मूलनायक की सर्वपूजा सर्वप्रथम और विशेष पदार्थों से भक्तिपूर्वक करनी चाहिए । पूजा में औचित्य इस प्रकार कहा गया है-

प्रश्न– ``पूजा करते समय विशेष पूजा तो मूलनायक बिम्ब की ही करनी चाहिए, क्योंकि मन्दिर में प्रवेश करते समय सर्वप्रथम मूलनायक प्रभु पर ही सभी की दृष्टि पड़ती है और वहीं पर मन एकाग्र बनता है ।''

उत्तर– ``मूलनायक की सर्वप्रथम और दूसरे जिनबिम्बों की बाद में पूजा करने पर तो तीर्थंकरों में भी नायक-सेवक भाव हो जाएगा-अत:एक (मूलनायक) की विशेष पूजा-भक्ति करें और दूसरों की सामान्य पूजा करें-इसमें तो बुद्धिमान पुरुषों को भयंकर आशातना ही दिखाई देती है ।''

(आचार्य) उत्तर –

सभी तीर्थंकरों का प्रातिहार्य आदि परिवार समान ही होने से बुद्धिमान पुरुष को नायक-सेवक बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है ।

प्रतिष्ठा के समय मूलनायक की कल्पना की हुई होने से व्यवहार से सर्वप्रथम मूलनायक की पूजा की जाती है । इससे दूसरे तीर्थंकरों की नायकता चली नहीं जाती है ।

औचित्य पालन करने वाला व्यक्ति एक परमात्मा को वन्दन, पूजन तथा नैवेद्य आदि चढ़ाये तो भी ज्ञानी महापुरुषों ने उसमें आशातना नहीं कही है ।

जिस प्रकार मिट्टी से निर्मित प्रतिमा की पूजा पुष्प आदि से ही करना उचित है और स्वर्णमय आदि प्रतिमा की पूजा जल-चन्दन आदि से भी की जाती है ।

किसी परमात्मा के कल्याणक आदि का दिन हो तो उस परमात्मा की विशेष पूजा-भक्ति करने पर अन्य परमात्माओं का अपमान करने की भावना धार्मिक पुरुषों को नहीं होती है । इस तरह यथायोग्य उचित प्रवृत्ति करने से अन्य बिम्बों का अपमान नहीं होता है । वैसे ही मूल बिम्ब की विशेष पूजा करने में अन्य बिम्बों का अपमान नहीं है ।

जिनभवन तथा जिनबिम्ब की पूजा परमात्मा के लिए नहीं करते हैं किन्तु अपने शुभ भावों की वृद्धि के लिए और अन्य बुध पुरुषों के बोध (प्रेरणा) के लिए करते हैं ।

कई आत्माएँ भव्य जिनमन्दिरों को देखकर, कई आत्माएँ परमात्मा के प्रशान्त बिम्बों को देखकर, कई आत्माएँ परमात्मा की भव्य अंग-रचना को देखकर और कई आत्माएँ उपदेश सुनकर प्रतिबोध पाती हैं ।

इस कारण चैत्य तथा गृहचैत्य एवं उसके बिम्ब, उसमें भी मूलनायक की प्रतिमा तो अपनी शक्ति एवं देश-काल आदि की अपेक्षा विशिष्ट बनानी चाहिए । गृहचैत्य में तो ताम्र आदि धातु की प्रतिमाएँ वर्तमान में भी करा सकते हैं । उतनी शक्ति न हो तो हाथी दाँत आदि अथवा दन्तभ्रमरी आदि की रचना, पित्तल और हिंगुल की शोभा और श्रेष्ठ कोरणी वाली चन्दनादि बढ़िया काष्ठ की प्रतिमा करानी चाहिए ।

जिनमन्दिर तथा गृहचैत्य की प्रतिदिन प्रमार्जना करनी चाहिए । जहाँ आवश्यकता हो वहाँ तेल (वार्निस) लगाना चाहिए । समय-समय पर चूने आदि की सफेदी करानी चाहिए । जिनेश्वर भगवन्त के चरित्र आदि प्रसंगों का आलेखन कराना चाहिए । पूजा के समग्र उपकरणों को स्वच्छ रखना चाहिए । पर्दे, चंदरवे आदि भी इस प्रकार रखने चाहिए कि जिससे शोभा में अभिवृद्धि हो ।

गृहचैत्य के ऊपर धोती आदि भी नहीं रखनी चाहिए । जिनमन्दिर की तरह वहाँ भी चौरासी आशातनाओं का त्याग करना चाहिए ।

पित्तल तथा पाषाण आदि की प्रतिमाओं का अभिषेक करने के बाद उन्हें एक अंगलूँछन से पोंछने के बाद पुनःकोमल वस्त्र से पोंछना चाहिए । इस प्रकार करने से प्रतिमाएँ उज्ज्वल रहती हैं । क्योंकि थोड़ा भी पानी रह जाने से वे प्रतिमाएँ श्याम हो जाती हैं । वह श्यामलता धीरे-धीरे सर्वत्र फैल जाती है । अधिक केसरयुक्त चन्दन से विलेपन करने से भी उन प्रतिमाओं की उज्ज्वलता बढ़ती है ।

पंचतीर्थी और चौबीसीपट्ट आदि में परस्पर स्नात्र जल के स्पर्श में किसी प्रकार के दोष की शंका नहीं करनी चाहिए । जैसे कि कहा है–**'रायपसेणी सूत्र'** में सौधर्म देवलोक के सूर्याभदेव का अधिकार है । जीवाभिगमन में विजयानगरी के विजयादि देवता का अधिकार है । सभी जिनप्रतिमा और जिनेश्वर की दाढ़ों की पूजा के लिए कलश, मोरपीछी, अंगलूँछन तथा धूपदानी आदि एक-एक उपकरण कहे गये हैं ।

मोक्षगत जिनेश्वर की दाढ़ाएँ तीनों लोकों में स्वर्ग की पेटियों में एक के ऊपर एक इसी प्रकार रखी जाती हैं । उसमें न्हवण के जलादि का परस्पर स्पर्श होता ही है ।

पूर्वधरों के समय में बनी हुई तीन प्रकार की प्रतिमाएँ–

1) **व्यक्त्याख्या :-** जिसमें एक ही अरिहन्त की प्रतिमा हो ।

2) **क्षेत्राख्या :-** एक ही पट्ट में चौबीस जिनेश्वरों की प्रतिमाएँ हों ।

3) **महाख्या :-** एक ही पट्ट में 170 जिनेश्वरों की प्रतिमाएँ आज भी कई नगरों में देखी जाती हैं तथा तीन प्रकार की प्रतिमाओं का वर्णन शास्त्र में भी मिलता है ।

कई प्रतिमाओं में मालाधारी देवताओं की आकृति होती है । उनके स्नात्र जल का स्पर्श जिनबिम्ब को भी होता है । पुस्तक में पन्ने एक-दूसरे के ऊपर ही होते हैं । अत:चौबीसी में एक दूसरे जिनेश्वर के स्नात्र जल की स्पर्श एक-दूसरे जिनेश्वर को होने पर भी उन्हें बनाने में कोई दोष नहीं है । क्योंकि इस प्रकार की परम्परा है और युक्ति से भी सिद्ध है तथा ग्रन्थों में भी देखी जाती है । **बृहद् भाष्य** में भी कहा है–

``कोई भक्तियुक्त श्रावक परमात्मा की ऋद्धि को बताने के लिए अष्ट महाप्रातिहार्य युक्त तथा देवताओं के आगमन युक्त प्रतिमा कराता है । कोई भक्त दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना के लिए एक पट्ट में तीन प्रतिमाएँ और कोई पंचपरमेष्ठी नवकार के उद्यापन के लिए एक पट्ट में पाँच जिनेश्वर की प्रतिमा भराता है । कोई भक्त चौबीस जिनेश्वरों के कल्याणकों के उद्यापन के लिए चौबीस जिनेश्वरों की एवं कोई समृद्ध श्रावक मनुष्यक्षेत्र में विहरमान उत्कृष्ट से 170 तीर्थंकरों की भी प्रतिमा भक्ति से करवाते हैं ।''

इससे सिद्ध होता है कि एक पट्ट में त्रितीर्थी, पंचतीर्थी तथा चौबीसी आदि करना न्याययुक्त ही है ।

अग्रपूजा

सोने-चांदी के अक्षत से अथवा उज्ज्वल शालि आदि के अखण्ड चावल अथवा सरसों से अष्टमंगल का आलेखन करना चाहिए ।

श्रेणिक महाराजा प्रतिदिन सोने के 108 जौ से (प्रभु की विहारदिशा के सामने) स्वस्तिक आदि करते थे । अथवा रत्नत्रयी की आराधना के लिए पट्ट पर बढ़िया अक्षत से तीन ढेरियाँ करनी चाहिए । इसके साथ ही कूर आदि अशन, शक्कर तथा गुड़ादि का पानी, पक्वान्न, फल आदि खादिम तथा तांबूल आदि स्वादिम रखना चाहिए ।

गोशीर्ष चन्दन के रस से पंचांगुलि के मण्डल आदि का आलेखन, पुष्प समूह, आरती आदि सभी का समावेश अग्रपूजा में होता है । **भाष्य** में कहा है–

``गाना, नाचना, वाजिंत्र-वादन, लवण जल की आरती तथा दीपक आदि का समावेश अग्रपूजा में होता है ।'' नैवेद्य पूजा प्रतिदिन शक्य है और महाफलदायी है । धान्य और विशेष करके रंधा हुआ धान्य जगत् के लिए जीवन रूप होने से सर्वोत्कृष्ट रत्न है, इसी कारण वनवास से आये श्रीराम ने महाजनों के अन्न की कुशलता की पृच्छा की थी ।

परस्पर एक साथ बैठकर भोजन करने से कलह की निवृत्ति और प्रेम की अभिवृद्धि होती है । देवता भी नैवेद्य से प्राय:खुश होते हैं । सुना जाता है कि प्रतिदिन मूठ प्रमाण नैवेद्य देने से अग्निवेताल विक्रमादित्य के अधीन हुआ था ।

भूत-प्रेत आदि भी उत्तारण आदि में खीर, खिचड़ी, बड़े आदि के भोजन की ही याचना करते हैं । दिक्पाल आदि को बलि तथा तीर्थंकर की देशना के बाद बलि, अन्न आदि से ही करते हैं ।

• एक बार एक निर्धन किसान ने साधु भगवन्त के कहने से प्रतिदिन पास के मन्दिर में नैवेद्य चढ़ाने के बाद ही भोजन करने का नियम लिया । वह नियम का अच्छी तरह से पालन करने लगा । एक बार भोजन देरी से आया । अधिष्ठायक देव उसकी परीक्षा के लिए मन्दिर के आगे सिंह रूप धारण करके बैठा । फिर भी वह किसान चलित नहीं हुआ । जैसे किसान आगे बढ़ा वैसे ही वह सिंह हटने लगा । किसान ने मन्दिर में प्रवेश करके नैवेद्य रखा । बाद में जाकर वह भोजन करने के लिए बैठा । वहाँ वह देव श्रमण, स्थविरश्रमण, बालश्रमण के रूप में क्रमशःआया । श्रमण एवं स्थविरश्रमण को दान दिया एवं बालश्रमण को अपना बचा हुआ पूरा भोजन देने के लिए तत्पर हुआ । उसी वक्त वह देव प्रत्यक्ष हुआ । उसने उसे वरदान दिया कि आज से सातवें दिन स्वयंवर में राजकन्या को प्राप्त करोगे तथा राज्य और विजय प्राप्त करोगे । देववचन सफल हुआ और वह गरीब किसान राजा बन गया ।

लोक में भी कहा है-``धूप पाप को जलाता है, दीप मृत्यु का नाश करता है, नैवेद्य विपुल राज्य प्रदान करता है और प्रदक्षिणा से सिद्धि प्राप्त होती है ।''

धूपो दहति पापानि, दीपो मृत्युविनाशनः ।
नैवेद्ये विपुलं राज्यं, सिद्धिदात्री प्रदक्षिणा ।।1।।

अन्नादि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति में जल ही कारणभूत होने से यह अन्न से भी अधिक है, अतःइसे भी प्रभु के समक्ष रखना चाहिए । नैवेद्य चढ़ाने और आरती करने का विधान आगम में भी है ।

आवश्यक निर्युक्ति में कहा है- `नैवेद्य किया जाता है ।'

निशीथ सूत्र में भी कहा है- ``उसके बाद प्रभावतीदेवी ने नैवेद्य-धूप-दीप आदि सर्व बलिकर्म करके कहा, देवाधिदेव महावीर वर्धमान स्वामी हैं । उनकी प्रतिमा की जाय ।'' इस प्रकार कहकर कुल्हाड़ा चलाया गया । उसके बाद वह पेटी दो भागों में विभक्त हुई और उसमें से सर्व अलंकारों से विभूषित जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा प्रगट हुई ।

निशीथपीठ में भी कहा है- अशिव के उपशमन के लिए जो चावल पकाये जाते हैं उसे बलि कहते हैं ।

निशीथचूर्णि में कहा है- सम्प्रति राजा उस रथ के सामने विविध प्रकार के फल, खाद्य, शाक, दाल, वस्त्र आदि की भेंट धरता है ।

बृहद् कल्प में कहा है– ``तीर्थंकर साधु के सधर्मिक नहीं हैं, इसलिए तीर्थंकर के लिए बनाया गया आहार साधु को कल्पता है । जो प्रतिमा के लिए बनाया गया है उसकी तो बात ही क्या ? क्योंकि प्रतिमा तो अजीव है । यानी प्रतिमा हेतु किया हुआ आहार साधु को कल्पता ही है ।''

प्रतिष्ठाप्राभृत में से उद्धृत श्री पादलिप्तसूरि विरचित **प्रतिष्ठापद्धति** में आगमानुसार कहा है- ``आरती और मंगल दीप करने के बाद चार स्त्रियों को मिलकर विधिपूर्वक नैवेद्य करना चाहिए ।''

• **यह पूरी कथा प्राकृत में श्री विजयचन्द केवली चरित्र में है ।**

महानिशीथ के तीसरे अध्ययन में कहा है- ``अरिहन्त परमात्मा का गन्ध, माला, दीप, मोरपीछी से प्रमार्जन, चन्दनादि से विलेपन, विविध प्रकार के नैवेद्य, वस्त्र, धूप आदि से पूजा-सत्कार करके प्रतिदिन पूजा करने के द्वारा तीर्थ की उन्नति करते हैं ।''

भावपूजा

जिनेश्वर भगवन्त की द्रव्यपूजा के निषेध रूप तीसरी निसीहि कहकर भावपूजा करनी चाहिए । भावपूजा के समय पुरुष प्रभु के दाहिनी ओर तथा स्त्रियाँ प्रभु के बाँयीं ओर खड़ी रहें ।

आशातना-निवारण के लिए जघन्य से नौ हाथ और उत्कृष्ट से साठ हाथ का अवग्रह रखना चाहिए । गृहचैत्य में जघन्य अवग्रह एक या डेढ़ हाथ का रखना चाहिए । उत्कृष्ट से साठ हाथ अवग्रह के बाहर रहने से चैत्यवन्दन विशिष्ट स्तुति आदि से हो सकता है । **कहा भी है**– चैत्यवन्दन के उचित क्षेत्र में रहकर यथाशक्ति स्तुति, स्तोत्र व स्तवन आदि के द्वारा प्रभु का देववन्दन करना चाहिए । यह तीसरी भावपूजा कहलाती है ।

निशीथ में कहा है- ``वह गंधार श्रावक स्तुति-स्तोत्र करता हुआ गिरिगुफा में एक दिनरात रहा ।''

वसुदेवहिंडी में कहा है- ``सम्यक्त्वधारक वसुदेव ने प्रातःकाल में श्रावकोचित सामायिक, पच्चक्खाण, कायोत्सर्ग, स्तुति तथा वन्दन किया था ।''

इस प्रकार अनेक स्थलों में ``श्रावकों के द्वारा कायोत्सर्ग-स्तुति के द्वारा चैत्यवन्दन किया गया है''- ऐसा उल्लेख है ।

चैत्यवन्दन के भेद

जघन्य आदि के भेद से चैत्यवन्दन के तीन भेद हैं । **भाष्य** में कहा है–

नमुक्कारेण जहन्ना, चिइवंदणमज्झदंडथुइजुअला ।
पणदंडथुइचउक्कथयपणिहाणेहिं उक्कोसा ।।1।।

अर्थ :- 1) **जघन्य चैत्यवन्दन :-** (1) हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर **'नमो जिणाणं'** कहना । अथवा (2) **'नमो अरिहंताणं'-** इस प्रकार पूरा नवकार कहना । अथवा एक या बहुत श्लोकों से स्तुति करना । (3) एक शक्रस्तव के द्वारा जो चैत्यवन्दन किया जाता है, वह जघन्य चैत्यवन्दन है ।

(2) **मध्यम चैत्यवन्दन :- 'अरिहंत चेइयाणं'** से लेकर कायोत्सर्गपूर्वक एक स्तुति कहना ।

(3) **उत्कृष्ट चैत्यवन्दन :-** शक्रस्तव, चैत्यस्तव, नामस्तव, श्रुतस्तव और सिद्धस्तव रूप पाँच दंडक सूत्र एवं प्रणिधान सूत्र (जयवीयराय) से युक्त चैत्यवंदन, उत्कृष्ट चैत्यवन्दन है ।

कुछ आचार्यों के मत से एक शक्रस्तवयुक्त जघन्य चैत्यवन्दन, दो-तीन शक्रस्तवयुक्त मध्यम चैत्यवन्दन और चार-पाँच शक्रस्तवयुक्त उत्कृष्ट चैत्यवंदन कहलाता है ।

इरियावही के पहले या प्रणिधान के बाद में अथवा दुगुने चैत्यवन्दन में तीन शक्रस्तव होते हैं ।

एक बार वन्दन में पहले एवं बाद में शक्रस्तव कहने से चार शक्रस्तव होते हैं । (एक बार वंदन में दो शक्रस्तव होते हैं।) अथवा दुगुने चैत्यवन्दन में (तीनशक्रस्तव होने से) पहले या बाद में शक्रस्तव कहने से भी चार शक्रस्तव होते हैं ।

शक्रस्तव कहकर **'ईरियावही'** करना, बाद में दुगुने चैत्यवन्दन के तीन शक्रस्तव कहकर स्तोत्र एवं प्रणिधान कहना । उसके बाद शक्रस्तव कहना । इस प्रकार पाँच शक्रस्तव हो जाते हैं ।

सात बार चैत्यवन्दन

महानिशीथ सूत्र में साधु को प्रतिदिन 7 बार चैत्यवन्दन करने का विधान है । श्रावक के लिए भी उत्कृष्ट से 7 बार चैत्यवन्दन का विधान है ।

भाष्य में कहा है- (1) रात्रि प्रतिक्रमण में, (2) जिनमन्दिर में, (3) भोजन के पूर्व, (4) भोजन के पश्चात्, (5) देवसी प्रतिक्रमण में, (6) रात्रि में संथारा पोरिसी के समय तथा (7) प्रातः उठते समय; इस प्रकार साधु को अहोरात्र में 7 बार चैत्यवन्दन करने का विधान है ।

श्रावक के लिए 7 बार चैत्यवन्दन- (1) प्रातः प्रतिक्रमण में, (2) संध्या प्रतिक्रमण में, (3) सोते समय (4) उठते समय और (5-6-7) त्रिकाल पूजा के बाद ।

यदि श्रावक एक ही बार प्रतिक्रमण करता हो तो छह बार चैत्यवन्दन, सोते समय न करे तो पाँच बार चैत्यवन्दन तथा बहुत से जिनमन्दिरों में चैत्यवन्दन करे तो 7 से अधिक चैत्यवन्दन भी होते हैं ।

किसी संयोगवश श्रावक पूजा न कर सके तो भी त्रिकाल चैत्यवन्दन तो अवश्य करना चाहिए ।

आगम में कहा है- ``हे देवानुप्रिय ! आज से जीवनपर्यन्त अविक्षिप्त, अचल और एकाग्र चित्त से त्रिकाल चैत्यवन्दन करना । अपवित्र, अशाश्वत और क्षणभंगुर मनुष्यदेह का यही एक सार है । जब तक प्रथम प्रहर में देव व साधु को वन्दन न हो तब तक पानी भी नहीं पीना चाहिए । जब तक मध्याह्न में देव को वंदन न हो तब तक भोजन नहीं करना चाहिए । अपराह्न (संध्या) में जब तक चैत्यवन्दन न किया हो तब तक रात्रि में सोना नहीं चाहिए ।''

अन्यत्र भी कहा है- प्रातःकाल में विधिपूर्वक चैत्य और गुरुवंदन न किया हो तब तक श्रमणोपासक को जल-पान भी उचित नहीं है ।

मध्याह्न में भी पुनःवन्दन करने के बाद ही भोजन करना उचित है और संध्या समय भी वन्दन के बाद ही शयन उचित है ।

गीत, नृत्य आदि का समावेश अग्रपूजा में किया गया हैं, फिर भी उनका समावेश भावपूजा में भी हो सकता है ।

गीत-नृत्य आदि महाफलदायी होने से उदयन राजा की प्रभावती रानी की तरह यदि शक्य हो तो स्वयं को ही करने चाहिए ।

निशीथचूर्णि में कहा है- ``स्नान के बाद कौतुक (दृष्टिदोषादि से रक्षा के लिए किया जाता काजल का तिलक, रक्षाबन्धनादि प्रयोग) मंगल करके श्वेत वस्त्र पहिन कर...प्रभावती रानी अष्टमी और चतुर्दशी के दिन भक्तिराग से स्वयं ही प्रभु के समक्ष नृत्य करती थी और राजा भी रानी के नाच के अनुकूल मृदंग बजाता था ।''

अवस्था चिन्तन-जिनपूजा करते समय अरिहन्त परमात्मा की छद्मस्थ, केवली और सिद्ध अवस्था का चिन्तन करना चाहिए ।

भाष्य में कहा है- ``प्रभु को प्रक्षाल कराने वाले एवं पूजा करने वाले देवों को देखकर छद्मस्थ अवस्था, प्रातिहार्यों के द्वारा केवली अवस्था एवं पर्यंकासन/कायोत्सर्ग के द्वारा प्रभु की सिद्धावस्था का चिन्तन करना चाहिए ।''

प्रभु के परिकर के ऊपर रहे हुए स्नान कराने वाले गजारुढ़ कलशधारी देवों के द्वारा तथा पूजा करने वाले मालाधारी देवों के द्वारा प्रभु की छद्मस्थावस्था का चिन्तन करना चाहिए ।

छद्मस्थ अवस्था के तीन भेद हैं– (1) जन्मावस्था (2) राज्यावस्था और (3) श्रमणावस्था ।

प्रभु को स्नान कराने वाले देवों को देखकर जन्मावस्था का, मालाधारी देवताओं को देखकर राज्यावस्था का तथा केशरहित मस्तक व मुखदर्शन द्वारा प्रभु की श्रमणावस्था का चिन्तन करना चाहिए ।

परिकर के ऊपर कलश के दोनों ओर रहे पत्रों (पत्तों) को देखकर अशोकवृक्ष, माला धारण करने वाले देवों को देखकर पुष्पवृष्टि, प्रतिमा के दोनों ओर वीणा व बंसीधारी को देखकर दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का चिन्तन करना चाहिए-शेष प्रातिहार्य तो स्पष्ट ही दिखाई देते हैं ।

बृहद्भाष्यादि में कहे गये पूजा के ३ भेद

(1) **पंचोपचारिकी** (2) **अष्टोपचारिकी और** (3) **ऋद्धि विशेषसे सर्वोपचारिकी ।**

पंचोपचारिकी पूजा :- पुष्प, अक्षत, गन्ध, धूप और दीप से की जाने वाली पूजा पंचोपचारिकी कहलाती है ।

अष्टोपचारिकी पूजा :- पुष्प, अक्षत, गन्ध, दीप, धूप, नैवेद्य, फल तथा जल से की जाने वाली अष्टोपचारिकी पूजा आठ प्रकार के कर्मों का नाश करने वाली है ।

सर्वोपचारिकी पूजा :- जल, चन्दन, वस्त्र, अलंकार, फल, नैवेद्य, दीप, नृत्य, गीत तथा आरती आदि के द्वारा सर्वोपचारिका पूजा होती है ।

卐 पूजा के तीन भेद 卐

1) पूजा की सामग्री स्वयं लाना ।
2) पूजा की सामग्री दूसरे से मँगवाना ।
3) मन से फल-फूल आदि पूजा की सामग्री लाने का विचार करना ।
अथवा मन, वचन और काया से

1) पूजा स्वयं करे ।

2) दूसरों के द्वारा पूजा कराये और

3) पूजा करने वालों की अनुमोदना करे ।

आगम में कहे गए पूजा के चार भेद हैं– (1) पुष्पपूजा (2) नैवेद्यपूजा (3) स्तुतिपूजा और (4) प्रतिपत्तिपूजा (आज्ञापालन) ।

ये चार प्रकार की पूजाएँ भी यथाशक्ति करनी चाहिए ।

ललितविस्तरा ग्रन्थ में पुष्प, नैवेद्य, स्तुति एवं प्रतिपत्ति पूजा को उत्तरोत्तर प्रधान कहा है ।

पूजा के दो भेद

द्रव्य और भाव की अपेक्षा पूजा के दो भेद कहे गये हैं । उत्तम द्रव्यों से जिनपूजा **द्रव्यपूजा** कहलाती है और जिनेश्वर की आज्ञा का पालन **भावपूजा** है ।

पुष्प, गंध, आदि पूजा के सत्रह भेद तथा स्नात्र, विलेपन आदि पूजा के इक्कीस भेदों का समावेश अंग, अग्र और भावपूजा में हो जाता है ।

22. पूजा के सत्रह भेद

(1) अंग पर न्हवण-विलेपन पूजा (2) चक्षु युगल व वासक्षेप पूजा (3) पुष्पपूजा (4) पुष्पमाला-पूजा (5) विविध वर्णों के पुष्पों से अंगरचनापूजा (6) चूर्णपूजा (7) अलंकारपूजा (8) पुष्पगृहपूजा (9) फूलप्रकर पूजा (10) आरति-मंगलदीप पूजा (11) दीपकपूजा (12) धूपपूजा (13) नैवेद्यपूजा (14) फलपूजा (15) गीतपूजा (16) नृत्यपूजा (17) वाद्यपूजा ।

पूजाप्रकरण में वाचक उमास्वाति ने इक्कीस प्रकार की पूजा की विधि इस प्रकार बतलाई है-

1. स्नान पूर्वदिशा सन्मुख, दातुन पश्चिमदिशा सन्मुख, श्वेत वस्त्र परिधान उत्तरदिशा सन्मुख और प्रभु की पूजा पूर्व या उत्तर दिशा सन्मुख रहकर करनी चाहिए ।
2. घर में प्रवेश करते समय बाँये हाथ की ओर 1 हाथ ऊँची शल्यरहित भूमि पर गृहमन्दिर बनाना चाहिए । स्वगृह से निम्न (नीचे) भूमि पर जिनमन्दिर बनाने से वंश की हानि होती है और पुत्र-पौत्रादि की परम्परा भी बिगड़ती है ।

- पूजा करने वाले (पूजक) को पूर्व या उत्तरदिशा सन्मुख खड़े रहकर पूजा करनी चाहिए । दक्षिणदिशा का और विशेषकर विदिशाओं का तो सर्वथा त्याग करना चाहिए ।
- पश्चिमदिशा सन्मुख खड़े रहकर पूजा करने से पूजक की चौथी सन्तति (वंश) का उच्छेद होता है । दक्षिण दिशा की तरफ खड़े रहकर पूजा करने वाले को सन्तति नहीं होती है ।
- अग्निकोण में रहकर पूजा करने से दिन-दिन धन की हानि होती है।
- वायव्यकोण में रहकर पूजा करने से सन्तान ही नहीं होती है ।

- नैऋत्यकोण में रहकर पूजा करने से कुल का क्षय होता है ।
- ईशानकोण में रहकर पूजा करने से पूजक की एक स्थान में स्थिरता नहीं रहती है ।
- दो पैर, दो जानु, दो हाथ, दो स्कन्ध, मस्तक, भाल, कण्ठ, हृदय तथा उदर पर यथाक्रम से पूजा यानी तिलक करने चाहिए । चन्दन के बिना कभी भी पूजा नहीं करनी चाहिए तथा प्रतिदिन नौ तिलक (नौ अंगों पर) द्वारा पूजा करनी चाहिए ।
- बुद्धिमान व्यक्ति को प्रात:काल में वासपूजा (वासक्षेप पूजा), मध्याह्न में पुष्प पूजा और संध्या समय में धूप-दीप पूजा करनी चाहिए ।
- भगवन्त के बाँयी ओर धूप करनी चाहिए । जलपात्र सन्मुख रखना चाहिए तथा प्रभु के दाँयी ओर दीपक रखना चाहिए ।
- चैत्यवन्दन तथा ध्यान प्रभु के दाँयी ओर बैठकर करना चाहिए ।
- हाथ से गिरा हुआ, भूमि पर पड़ा हुआ, पैर से लगा हुआ, अपने मस्तक पर लाया हुआ, मलिन वस्त्र से लिपटा हुआ, नाभि के नीचे ले जाया गया, दुष्ट पुरुषों के स्पर्श वाला, बरसात से बिगड़ा हुआ, कीड़े आदि से खाया हुआ, फूल, पत्र या फल भक्तों को प्रभु को नहीं चढ़ाना चाहिए । इस प्रकार ऐसे पुष्पादि के वर्जन से जिनभक्ति होती है ।
- एक फूल के दो भाग नहीं करने चाहिए तथा फूल की कली को नहीं छेदना चाहिए ।
- चंपक और कमल के फूल का भेदन करने से विशेष दोष लगता है ।
- गंध, धूप, अक्षत, फूलमाला, दीप, नैवेद्य, जल तथा उत्तम फल से भगवन्त की पूजा करनी चाहिए ।
- शान्तिकार्य के लिए श्वेत (फूल), लाभ के लिए पीले, शत्रु की पराजय के लिए श्याम, मंगल के लिए लाल और सिद्धि के लिए पाँचों वर्णों के फूलों का उपयोग करना चाहिए । पंचामृत का अभिषेक करना चाहिए । शांति हेतु घी और गुड़ के साथ दीपक करना चाहिए । अग्नि में नमक का निक्षेप शान्ति व तुष्टि के कार्य में उत्तम समझना चाहिए ।
- खण्डित, सांधे हुए, छिद्र वाले, लाल रंग वाले तथा भयोत्पादक वस्त्र से किया गया दान, पूजा, तप, होम तथा संध्या कर्म निष्फल जाता है ।
- पद्मासन में बैठकर, नासिका के अग्रभाग पर नेत्रों को स्थिर कर, मुखकोश बाँधकर मौन पूर्वक प्रभु की पूजा करनी चाहिए ।

23. इक्कीस प्रकार की पूजाएँ

(1) स्नात्र पूजा (2) विलेपन पूजा (3) आभूषण पूजा (4) पुष्प पूजा (5) वासक्षेप पूजा (6) धूपपूजा (7) दीप पूजा (8) फल पूजा (9) अक्षत पूजा (10) पत्र पूजा (11) सुपारी पूजा (12) नैवेद्य

पूजा (13) जल पूजा (14) वस्त्र पूजा (15) चामर पूजा (16) छत्र पूजा (17) वाजिंत्र पूजा (18) गीत पूजा (19) नृत्य पूजा (20) स्तुति पूजा (21) कोशवृद्धि पूजा

जिनेश्वर की ये इक्कीस प्रकार की पूजाएँ प्रसिद्ध हैं तथा सुर-असुरों के द्वारा भी सदा की जाती हैं । कलिकाल के प्रभाव से दुष्ट बुद्धि वालों ने इनका खण्डन किया है । जो-जो प्रिय वस्तु हो, उसका भाव से पूजा में उपयोग करना चाहिए । उमास्वाति वाचक कृत यह पूजा प्रकरण है, ऐसी प्रसिद्धि है ।

विवेकविलास में कहा है– `ईशानकोण में देवगृह होता है ।'

- विषम आसन पर बैठकर, पैर ऊपर चढ़ाकर उत्कटासन से बैठकर, बाँये पैर को ऊँचा करके एवं बाँये हाथ से प्रभुपूजा नहीं करनी चाहिए ।
- शुष्क, जमीन पर गिरे हुए, बिखरी हुई पंखुड़ी वाले, अशुभ वस्तु या पुरुष से स्पर्श किये हुए, तथा अनखिले फूलों से प्रभुपूजा नहीं करनी चाहिए ।
- कीड़ों के द्वारा जिनका मध्य भाग नष्ट किया गया हो, सड़े हुए, बासी, मकड़ी के जाले जिसमें बँधे हों, जो नेत्र को अप्रिय लगे, दुर्गन्धित, सुगन्धरहित, खट्टी गन्ध वाले, मल-मूत्र करते वक्त जो अपने पास में रह गये हों । ऐसे फूलों का त्याग करना चाहिए ।

विस्तृत पूजा के अवसर पर प्रतिदिन अथवा पर्व दिनों में तीन, पाँच और सात कुसुमांजलि पूर्वक परमात्मा का स्नात्र महोत्सव (स्नात्र पूजा) करनी चाहिए ।

24. 卐 स्नात्र पूजा विधि 卐

प्रात:काल में सर्वप्रथम पूर्व दिन का निर्माल्य (फूल आदि) उतारना चाहिए । उसके बाद प्रक्षाल करना चाहिए । फिर आरती व मंगलदीप करने चाहिए । यह संक्षिप्त पूजा है ।

उसके बाद स्नात्र आदि सविस्तृत दूसरी पूजा के प्रारम्भ में प्रभु-समक्ष केसरमिश्रित जल से भरा हुआ कलश रखना चाहिए ।

उसके बाद हाथ जोड़कर नियमानुसार बोलना चाहिए- ``अलंकार के विकारों से रहित और प्रधान सौम्य कान्ति से मनोहर, सहज रूप से तीन जगत को जीतने वाला यह जिनबिम्ब, हमारा रक्षण करे ।''

इतना कहकर प्रभु की देह पर रहे अलंकार उतारने चाहिए । उसके बाद- ``उतारे गये हैं फूल और आभूषण जिसके, सहज स्वभाव से ही मनोहर कान्ति वाला, मज्जन पीठ पर रहा हुआ जिनेश्वर का रूप तुम्हें मोक्ष प्रदान करे ।'' इतना कहकर निर्माल्य उतारना चाहिए ।

उसके बाद कलश से प्रक्षालन तथा पूजा करनी चाहिए ।

स्वच्छ व धूप से सुगन्धित कलशों में स्नात्र के योग्य सुगन्धित जल भर कर उन कलशों को पंक्तिबद्ध अच्छे वस्त्र से ढक कर रखना चाहिए ।

उसके बाद स्वयं के चन्दन से जिन्होंने मस्तक पर तिलक और हाथ में कंकण की आकृति की

है तथा अपने ही धूप से अपने हाथों को धूपित किया है, ऐसे पंक्तिबद्ध श्रावक इस प्रकार कुसुमांजलि का पाठ पढ़ते हैं–

``कमल, मुचकुंद, मालती आदि बहुत प्रकार के पंचवर्णी पुष्पों की कुसुमांजलि जिनेश्वर भगवन्त के स्नात्रमहोत्सव समय में प्रसन्न हुए देवता प्रभु को प्रदान करते हैं।'' इस प्रकार कहकर प्रभु के मस्तक पर फूल चढ़ाने चाहिए।

``सुगन्ध से आकृष्ट भ्रमरों के मनोहर गुंजन से संगीतमय बनी हुई जिनेश्वर के चरणों में रखी हुई कुसुमांजलि तुम्हारे पापों को दूर करे।'' इस प्रकार के पाठों द्वारा एक श्रावक जिनेश्वर प्रभु के चरणों पर कुसुमांजलि के पुष्प रखे। इस प्रकार प्रत्येक कुसुमांजलि के पाठ में तिलक, फूल, धूप आदि का आडम्बर करना चाहिए।

उसके बाद उदार व मधुर स्वर से मुख्य भगवान के नामोल्लेखपूर्वक जन्माभिषेक कलश का पाठ करना चाहिए। उसके बाद घी, इक्षुरस, दूध, दही व सुगन्धित जल रूप पंचामृत से अभिषेक करना चाहिए और बीच-बीच में धूप करना चाहिए।

स्नात्र समय में प्रभु का मस्तक खुला न रखें, बल्कि फूलों से ढका रखें।

वादिवेताल श्री शांति सूरिजी ने कहा है- जब तक स्नात्र चलता हो तब तक प्रभु का मस्तक खाली नहीं रहना चाहिए इसलिए उत्तम पुष्प मस्तक पर रखने चाहिए। ऐसा करने से जल की धारा पुष्पों पर पड़ती हुई प्रभु के मस्तक पर पड़ेगी।

स्नात्र पूजा करते समय चामर, संगीत और वाद्य यंत्र का आडम्बर अपनी सर्व शक्ति से करना चाहिए।

सभी अभिषेक कर चुकने के बाद शुद्ध जल से धारा देनी चाहिए।

उसका यह पाठ है- ``ध्यान रूपी तलवार की धारा के समान प्रभु के अभिषेक की यह जलधारा भव रूपी भवन की दीवारों को भेद डाले।''

उसके बाद अंगलूछन कर विलेपन, आभूषण आदि से पूर्व से भी सुन्दर प्रभु की पूजा करनी चाहिए।

सभी प्रकार के धान्य, पक्वान्न, शाक, विगई और फल आदि नैवेद्य (बलि) चढ़ाने चाहिए। उसके साथ ही ज्ञानादि रत्नत्रयी से समृद्ध तीन लोक के अधिपति प्रभु के आगे (अक्षत से) तीन पूञ करने चाहिए। स्नात्र अभिषेक में छोटे-बड़े के व्यवहार की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए अर्थात् प्रथम वृद्ध श्रावक अभिषेक करें, उसके बाद छोटे और उसके बाद श्राविकाएँ करें।

प्रभु के जन्माभिषेक के समय भी सर्वप्रथम अच्युतेन्द्र अपने परिवार के साथ अभिषेक करता है, उसके बाद यथाक्रम से अन्य इन्द्र प्रभु का अभिषेक करते हैं।

स्नात्र अभिषेक के बाद शेषा की तरह उसे मस्तक पर लगाने में किसी दोष की सम्भावना नहीं है।

श्री वीरचरित्र में **श्रीमद्हेमचन्द्राचार्य जी** ने कहा है- ``सुर, असुर, नर और नागकुमार प्रभु के अभिषेक जल को वन्दन करते थे और अपने सभी अंगों पर लगाते थे।''

श्री राम के चरित्र में उनतीसवें उद्देश में दशरथ महाराजा द्वारा आयोजित आषाढ़ शुक्ला अष्टमी से आरम्भ हुए अष्टाह्निक चैत्य स्नात्र के महा अधिकार में कहा है- ``राजा ने तरुण स्त्रियों के साथ अपनी स्त्रियों के लिए वह स्नात्र-जल भेजा और उन्होंने वह अभिषेक जल ले जाकर के रानियों के मस्तक पर डाला ।

``कंचुकी के द्वारा भेजे गये स्नात्रजल के पहुँचाने में देरी होने के कारण महाराजा की पटरानी शोकाकुल और कोपातुर बन गयी ।

``...उसके बाद उस कंचुकी द्वारा वह क्रुद्ध महारानी शान्तिजल से अभिषिक्त की गई । तब मन की आग शान्त होने पर वह मन में प्रसन्न हुई ।''

बृहद् शान्तिस्तव में भी पाठ है- **``शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यं''** अर्थात् शान्तिजल मस्तक पर लगाना चाहिए ।

प्रतिवासुदेव जरासन्ध ने श्रीकृष्ण के सैन्य पर **'जरा'** छोड़ी थी जिससे कृष्ण का समस्त सैन्य मुसीबत में आ गया । कृष्ण ने नेमिनाथ प्रभु की सूचना से अट्ठम तप की आराधना की और धरणेन्द्र के पास से श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा प्राप्त की । शंखेश्वर नगर में वह प्रतिमा लाई गयी और उसके स्नात्रजल के छिड़काव से श्रीकृष्ण का समस्त सैन्य स्वस्थ बना ।

जिनेश्वर भगवन्त की देशना-समय राजा आदि के द्वारा उछाली गयी कूर-बलि का आधा भाग तो देवता ही भूमि पर गिरने के पूर्व ग्रहण कर लेते हैं । उस कूर बलि का चौथाई भाग राजा ग्रहण करता है और चौथाई भाग लोग ग्रहण करते हैं । उस बलि के सिक्थ को भी मस्तक पर चढ़ाने से शीघ्र ही, व्याधि शान्त हो जाती है और छह मास तक अन्य कोई बीमारी नहीं होती है, ऐसा आगम में भी कहा गया है ।

उसके बाद सद्गुरु द्वारा प्रतिष्ठित और बड़े महोत्सवपूर्वक लाई गयी रेशमी बड़ी ध्वजा तीन प्रदक्षिणा आदि विधिपूर्वक चढ़ानी चाहिए । उस समय सभी को अपनी शक्ति-अनुसार भगवान के सामने भेंट धरनी चाहिए ।

उसके बाद प्रभु के सामने आरती और मंगलदीप प्रगटाना चाहिए । निकट में ही अग्निपात्र रखना चाहिए और लवण मिट्टी डालनी चाहिए । उसके बाद- ``तीर्थप्रवर्तन के समय भ्रमरपंक्ति की झंकृति से युक्त देवताओं द्वारा प्रभु के सम्मुख डाली गई कुसुमवृष्टि श्रीसंघ का मंगल करे ।'' इस प्रकार बोलकर पहली कुसुमवृष्टि करनी चाहिए ।

उसके बाद- ``देखिये ! जगत् में रुक गया है प्रसार जिससे ऐसे जिनेश्वर को प्रदक्षिणा देकर, भगवान के लावण्य से मानों लज्जित होकर लवण अग्नि में गिरता है ।'' इस प्रकार के पाठों द्वारा विधिपूर्वक प्रभु का तीन बार पुष्पसहित लवणजल उतारना चाहिए ।

बाद में भगवान की दाहिनी दिशा से आरती की पूजा करके धूपोत्क्षेप करते हुए दोनों बाजू कलश द्वारा जल की धारा गिराते हुए, सभी ओर से पुष्पवृष्टि करते हुए निम्न गाथा बोलते हुए उत्तम भाजन में लेकर उत्सवपूर्वक आरती उतारनी चाहिए-

मरगयमणिघडिअविसालथालमाणिक्कमंडिअपईवं ।
ण्हवणयरकरुक्खित्तं भमउ जिणारत्तिअं तुम्ह ।।1।।

मरकत रत्न से घटित विशाल थाली में माणक से मंडित दीप वाली, स्नात्र करने वाले के हाथ से उठायी हुई जिनेश्वर भगवान की आरती आप कीजिए ।

त्रिषष्टिशलाका चरित्र ग्रन्थ में भी कहा है- ``कृतकृत्य हो जाने की तरह कुछ दूर हटकर प्रभु के आगे होकर इन्द्र ने जगत् के स्वामी की आरती ग्रहण की ।''

ज्योतिषमान् औषधियों के समूह वाले शिखर से जिस प्रकार मेरुपर्वत सुशोभित होता है, उसी प्रकार आरती के दीपक की कान्ति से इन्द्र भी सुशोभित होने लगा ।

श्रद्धा सम्पन्न अन्य इन्द्रों ने जब छूटे फूल बिखेरे उस समय सौधर्म इन्द्र ने तीन जगत् के नाथ प्रभु की तीन बार आरती उतारी ।

उसके बाद मंगलदीप किया जाता है, वह भी आरती की तरह पूज्य है ।

``चन्द्र समान सौम्य दर्शन वाले हे प्रभो ! आपका जब कौशाम्बी में समवसरण हुआ था तब संकुचित तेज वाले सूर्य ने जैसे आपको प्रदक्षिणा दी थी उसी तरह यह मंगलदीप भी आपको प्रदक्षिणा देता है ।''

``सुरसुन्दरियों के द्वारा आपके आगे भ्रमण किया जाता मंगलदीप मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए सूर्य की तरह शोभता है ।''

इस प्रकार पाठपूर्वक मंगलदीप उतार कर प्रभु के चरणों के सामने रखना चाहिए । मंगलदीप रखने के बाद आरती बुझाई जाय तो भी कोई दोष नहीं है । आरती व मंगलदीप मुख्यतया घी, गुड़ और कपूर के द्वारा करने से ज्यादा फल मिलता है । लौकिक शास्त्र में भी कहा है–

``देवाधिदेव को कपूर से दीपक करने पर अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है और कुल का भी उद्धार होता है ।''

``मुक्तालंकार...'' इत्यादि गाथाएँ हरिभद्र सूरि कृत होने की सम्भावना है; क्योंकि उनके द्वारा विरचित समरादित्य चरित्र ग्रन्थ की आदि में **'उवणेउ मंगलं वो'** इत्यादि पाठ है ।

ये सभी गाथाएँ तपागच्छ की परम्परा में प्रसिद्ध होने से यहाँ नहीं लिखी गयी हैं ।

सामाचारी के भेद से स्नात्र आदि में विविध विधि के दिखाई देने पर भी व्यामोह नहीं करना चाहिए, क्योंकि अरिहन्त-भक्ति के फल रूप मोक्ष ही सब का साध्य है । गणधर आदि की सामाचारी में भी बहुत से भेद होते हैं । अतः जो-जो कार्य धर्म से अविरुद्ध है और अरिहन्त की भक्ति का पोषक है, वह किसी के लिए भी असम्मत नहीं है । इस प्रकार सभी धर्मकृत्यों में समझना चाहिए ।

जिनपूजा के अधिकार में आरती, मंगलदीप, लवण-उतारना आदि मुख्य क्रियाएँ सभी गच्छों, सम्प्रदायों व पर-दर्शन में भी भगवान की दाहिनी ओर से ही की जाती हैं ।

श्री जिनप्रभसूरिकृत पूजाविधि में इस प्रकार कहा गया है– ``पादलिप्तसूरि आदि पूर्वपुरुषों द्वारा लवण आरती आदि संभार (बाँयी ओर से) अनुज्ञात होने पर भी वर्तमान में दाहिनी ओर से किया जाता है ।''

स्नात्र महोत्सव में हर प्रकार से विस्तृत पूजा-प्रभावना की जाती है, इसलिए परलोक में उसका विशिष्ट फल स्पष्ट है । जिनेश्वर भगवान के जन्म-समय चौंसठ इन्द्रों ने प्रभु का जन्म महोत्सव किया था, यहाँ उसी का अनुकरण (करने का आनन्द) है ।

25. प्रतिमा के विविध भेद

प्रतिमाएँ अनेक प्रकार की होती हैं । उनके भेद पूजाविधि सम्यक्त्व-प्रकरण में कहे गये हैं ।

कुछ आचार्यों के मत से माता, पिता, पितामह आदि के द्वारा बनवायी गयी प्रतिमा, कुछ आचार्यों के मत से स्वयं के द्वारा बनवायी गयी प्रतिमा तथा कुछ आचार्यों के मत से विधिपूर्वक करायी (भरायी) हुई प्रतिमा की पूजा करनी चाहिए ।

सच तो यह है कि प्रभु-प्रतिमा भराने में व्यक्तिविशेष का महत्त्व नहीं होने से ममत्व व आग्रह छोड़कर सामान्यतया सभी प्रतिमाओं की पूजा करनी चाहिए; क्योंकि सभी प्रतिमाओं में तीर्थंकर का आकार होने से, दर्शक को उन प्रतिमाओं में तीर्थंकर की बुद्धि उत्पन्न होती है । अत:कदाग्रह के वशीभूत होकर इस बात को स्वीकार न करें तो अरिहन्त के बिम्बों की अवज्ञा करने से अनन्त संसार-परिभ्रमण का दण्ड ही आता है ।

अविधिकृत प्रतिमा के पूजन से भी आज्ञाभंग लक्षण रूप दोष की आपत्ति नहीं आती है ।

यह बात आगम से सिद्ध है ।

● **कल्पभाष्य** में लिखा है-``किसी गच्छ से प्रतिबद्ध निश्राकृत चैत्य में तथा किसी भी गच्छ से अप्रतिबद्ध अनिश्राकृत चैत्य में तीन-तीन स्तुति से वन्दन (चैत्यवन्दन) करना चाहिए । प्रत्येक चैत्य में स्तुतित्रय से देरी होती हो अथवा मन्दिर अधिक हों तो समय या चैत्य को देखकर एक-एक स्तुति करें ।''

इतर यानी असंविज्ञ= मन्दिर के पुजारी । यदि उस मन्दिर में जहाँ-तहाँ मकड़ी के जाले लगे हुए हों...धूल आदि लगी हो...तो उस मन्दिर के पुजारियों को साधु प्रेरणा करे कि तुम इस मन्दिर की सफाई व देखभाल अच्छी तरह से करो ।

चित्रपट दिखाकर अपनी आजीविका चलाने वाला उन चित्रों को यदि स्वच्छ रखता है, तो लोग उसका पूजा-सत्कार करते हैं । इसी प्रकार अगर तुम भी मन्दिर में बार-बार कचरा निकालने से, झाड़ा-झपटा आदि करने से मन्दिर को स्वच्छ रखोगे तो लोग पुरस्कार आदि से तुम्हारा पूजा-सत्कार करेंगे ।

यदि वे पुजारी जिनमन्दिर-सम्बन्धी घर-खेत आदि से मेहनताना प्राप्त करते हों यानी कि वैतनिक हों, तो उन्हें ठपका देकर भी कहें कि तुम मन्दिर का वेतन लेते हो और मन्दिर की साफ-सफाई बराबर नहीं करते हो ?

● **इस गाथा के विशेषार्थ हेतु देखिये-संघाचार भाष्य ।**

इस प्रकार ठपका देने पर भी वे पुजारी मन्दिर की साफ-सफाई न करें तो साधु स्वयं दूसरे की निगाह न पड़े इस प्रकार जिनमन्दिर में रहे मकड़ी के जाले, धूल आदि कचरे को दूर करे । इस प्रकार कल्पभाष्य की टीका में कहा गया है । नष्ट होते हुए चैत्य की साधु बिल्कुल उपेक्षा न करे । इसीलिए जिनमन्दिर की देखभाल व सुरक्षा आदि का श्रावक का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है ।

जिनमन्दिर-गमन, पूजा-स्नात्र आदि की उपर्युक्त विधि समृद्धिमान श्रावक के लिए कही है, क्योंकि इस प्रकार वही कर सकता है । परन्तु श्रावक यदि साधारण स्थिति का हो तो वह अपने घर पर ही सामायिक लेकर के किसी से कर्ज (ऋण) सम्बन्धी झगड़ा न हो तो ईर्यासमिति आदि का पालन करता हुआ अपने घरसे जिनमन्दिर जाये और साधु की तरह तीन बार निसीहि आदि कहकर विधिपूर्वक परमात्मा की भावपूजा करे ।

यदि उसी बीच किसी गृहस्थ को परमात्मा की पूजा सम्बन्धी कोई कार्य हो तो वह निर्धन श्रावक सामायिक पार कर फूल गूँथने आदि का कार्य करे । क्योंकि धन के अभाव के कारण वह स्वयं तो फूल आदि खरीद कर प्रभु-भक्ति नहीं कर सकता है, अत:इस प्रकार सहयोग देकर भी वह प्रभु-भक्ति का लाभ उठा सकता है ।

प्रश्न :- ***क्या सामायिक का त्याग करके द्रव्य-स्तव करना उचित है ?***

उत्तर :- सामायिक तो स्वाधीन है, वह किसी भी समय हो सकती है, परन्तु जिनमन्दिर सम्बन्धी कार्य तो समुदाय के आधीन है और कभी-कभी ही उसका अवसर हाथ लगता है, अत:अवसर हाथ लगने पर उस कार्य को करने से विशेष पुण्य-लाभ होता है । आगम में भी कहा है–

''जीवों को बोधिलाभ की प्राप्ति होती है । सम्यग्दृष्टि जीवों को विशेष आनन्द आता है । प्रभु-आज्ञा का पालन होता है, जिनेश्वर की भक्ति का लाभ मिलता है और तीर्थ की उन्नति होती है ।'' इस प्रकार अनेक लाभ होने के कारण निर्धन श्रावक के लिए सामायिक को छोड़कर भी प्रभु-भक्ति में सहयोग करना विशेष लाभकारी है ।

दिनकृत्यसूत्र में कहा है- ``यह सब विधि ऋद्धिमन्त श्रावक के लिए कही गयी है । निर्धन श्रावक तो घर में सामायिक करके, यदि कोई मार्ग में लेनदार न हो और किसी से विवाद न हो तो सुसाधु की तरह यतनापूर्वक जिनमन्दिर जाये और जिनमन्दिर में यदि कोई कायिक कार्य हो तो सामायिक को पार कर भी वह कार्य करे ।''

यहाँ मूल गाथा में **'विधि'** पद का उल्लेख होने से दश त्रिक, पाँच अभिगम आदि चौबीस मूल द्वारा और 2074 प्रतिद्वार रूप भाष्य में कही गयी विधि का पालन करना चाहिए ।

10 त्रिक

1) तीन बार निसीहि करना ।

2) तीन बार प्रदक्षिणा देना ।

3) तीन प्रकार के प्रणाम (नमस्कार) करना ।

4) अंग, अग्र व भाव स्वरूप तीन प्रकार की पूजा करनी ।

5) प्रभु की तीन अवस्थाओं का चिन्तन करना ।

6) तीन दिशाओं का त्याग कर मन को प्रभु पर स्थापित करना ।

7) तीन बार भूमि-प्रमार्जन करना ।

8) वर्णादि तीन का आलम्बन लेना ।

9) तीन प्रकार की मुद्राएँ करना ।

10) तीन प्रकार का प्रणिधान करना, इत्यादि ।

अनुष्ठान में विधि की प्रधानता है । विधिपूर्वक किया गया देव-पूजन, गुरुवन्दन आदि धर्मानुष्ठान महाफलदायी होता है । अविधिपूर्वक किये गये अनुष्ठान अल्पफल देने वाले होते हैं और त्रुटिपूर्ण होने से कभी-कभी इनसे हानि भी हो सकती है । **कहा भी है**–

``औषध के दुष्प्रयोग से भयंकर परिणाम आ जाता है, उसी प्रकार धर्मानुष्ठान भी विपरीत प्रकार से करने से भयंकर अनर्थ होता है ।'' अविधिपूर्वक किये गये चैत्यवन्दन आदि के लिए आगम में प्रायश्चित्त बताया है । **महानिशीथ सूत्र** के 7 वें अध्ययन में कहा गया है–

``अविधि से चैत्यवन्दन करने से दूसरों को अश्रद्धा उत्पन्न होती है, अत:अविधि से चैत्यवन्दन करने वाले को प्रायश्चित्त देना चाहिए ।''

देवता, विद्या और मंत्र की भी विधिपूर्वक आराधना करने से ही उसका फल मिलता है, विपरीत रूप से करने से अनर्थ की प्राप्ति होती है ।

चित्रकार का दृष्टान्त

अयोध्यानगरी में सुरप्रिय यक्ष था । प्रतिवर्ष उस नगर में एक मेला लगता था । मेले के पूर्व चित्रकार उस यक्ष की प्रतिमा को चित्रित करता था...और उसी समय चित्रकार की मृत्यु हो जाती थी । यदि चित्रकार चित्रकर्म न करे तो वह यक्ष नगरजनों को खत्म करता था । इस मृत्युभय को जानकर सभी चित्रकार नगर छोड़कर भागने लगे...परन्तु राजा ने उन सबको रोका और निर्णय लिया गया कि सभी के नाम की चिट्ठी घड़े में डाल दी जाय, प्रतिवर्ष जिसका नाम निकलेगा, वह यक्ष की प्रतिमा को चित्रित करेगा ।

क्रमश:एक बार एक वृद्धा के पुत्र की बारी आई । एकाकी पुत्र होने से वह रोने लगी । उसी समय कोशाम्बी से आकर कुछ दिन वहाँ रहे चित्रकार के पुत्र ने सोचा, ``सचमुच ये अविधि से चित्र बनाते होंगे उसी का यह फल लगता है ।'' इस प्रकार विचार कर दृढ़तापूर्वक उसने कहा- ``इस बार मैं चित्रित करूंगा ।''

इस प्रकार निश्चय कर उसने छट्ठ का तप किया । शरीर, वस्त्र, रंग व कूची आदि की शुद्धि की । तत्पश्चात् आठ पुट से मुखकोश बाँधकर विधिपूर्वक उसने यक्ष की प्रतिमा को चित्रित किया । तत्पश्चात् यक्ष के पैरों में गिरकर उसने क्षमायाचना की ।

उसकी विधि-पालन की यह तत्परता देखकर यक्ष प्रसन्न हो गया । उसे उसने वरदान दिया । उस चित्रकार ने कहा- ``आज से किसी की हत्या न हो ।'' यक्ष ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करली । तत्पश्चात् पुनःवरदान देते हुए यक्ष ने कहा, ``किसी भी व्यक्ति के एक अंश को देखकर तुम उसका सम्पूर्ण चित्र बना सकोगे ।'' चित्रकार खुश हो गया ।

एक बार कोशाम्बी राजा की सभा में गये उस चित्रकार ने जाल में से मृगावती रानी का अंगूठा देखा । बस, अंगूठे को देखकर उसने रानी का सम्पूर्ण हूबहू चित्र बना दिया ।

राजा ने उस चित्र को देखा । रानी की जंघा पर रहे तिल को उस चित्र में देखकर राजा के मन में सन्देह पैदा हुआ । तत्काल राजा ने उसे फाँसी की सजा सुना दी ।

अन्य चित्रकारों ने राजा को यक्ष के वरदान की बात कही । परीक्षा के लिए एक कुब्जा दासी का मुख उसे बताया गया । उसी समय उस चित्रकार ने उस कुब्जा दासी का सम्पूर्ण चित्र यथावत् बना दिया । फिर भी कोपायमान हुए राजा ने उसका दायाँ अँगूठा कटवा दिया ।

उस चित्रकार ने पुनःउस यक्ष की आराधना की । यक्ष ने उसे बाँयें हाथ से भी चित्रकर्म करने का वरदान दिया । तत्पश्चात् उस चित्रकार ने बाँये हाथ से मृगावती रानी का चित्र बना दिया । अपने वैर का बदला लेने के लिए उसने वह चित्र चण्डप्रद्योत राजा को बतलाया ।

चण्डप्रद्योत ने शतानीक पर दूत भेजकर कहलाया कि मृगावती मुझे सौंप दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । शतानीक ने दूत का तिरस्कार किया । आखिर चण्डप्रद्योत ने कौशाम्बी घेर ली उस युद्ध में शतानीक मारा गया ।

चण्डप्रद्योत ने मृगावती की मांग की...तो मृगावती ने कहलाया- ``मैं आपके आधीन ही हूँ, सर्वप्रथम, आपके सैनिकों ने इस नगरी के किले को तोड़ दिया है, अतःउज्जयिनी नगरी से ईंटें मंगवाकर इसे ठीक कर दो तथा धन-धान्य से परिपूर्ण कर दो ।''

कामातुर चण्डप्रद्योत ने मृगावती के निर्देशानुसार सब कुछ कर दिया ।

इसी बीच भगवान महावीर प्रभु का वहाँ आगमन हुआ । चण्डप्रद्योत तथा उसकी रानियाँ तथा मृगावती आदि भी प्रभु के समवसरण में आयीं ।

उस समय एक भील ने आकर प्रभु को प्रश्न करते हुए कहा- `या सा सा सेति' यानी ``जो वह थी क्या वही वह है ?'' प्रभु ने भी उसे जवाब देते हुए कहा- `एवमेतद्' यानी `हाँ वही वह है ।'

गौतम स्वामी के पूछने पर प्रभु ने `या सा सा सा' का यथावस्थित सम्बन्ध सुनाया, जिसे सुनकर मृगावती तथा चण्डप्रद्योत की आठों रानियों को वैराग्य उत्पन्न हुआ...और उसी समय उन्होंने दीक्षा स्वीकार करली ।

यहाँ किसी को प्रश्न हो सकता है कि अविधि से करने की अपेक्षा तो न करना ही श्रेष्ठ है ?

इसका जवाब देते हुए शास्त्रकार कहते हैं- ``अविधि से करने की अपेक्षा न करना श्रेष्ठ है, इस

प्रकार का अनुचित वचन शास्त्रज्ञ पुरुष नहीं बोल सकता, क्योंकि जिसने कुछ भी नहीं किया उसे अधिक प्रायश्चित्त आता है और जिसने क्रिया में अविधि की, उसे अल्प प्रायश्चित्त आता है ।''

अत:धर्मानुष्ठान निरन्तर करते रहना चाहिए, किन्तु उसे करने में सर्वशक्ति से विधि के पालन में यत्न करना चाहिए । यही श्रद्धालु का लक्षण है ।

कहा भी है– ``श्रद्धालु एवं शक्तिवाला श्रावक विधिपूर्वक ही अनुष्ठान करता है । अगर शरीर या सम्पत्ति आदि किसी प्रकार की कमी हो तो भी पूर्ण विधि करने की भावना तो जरूर रखता है ।''

भाग्यशाली पुरुषों को विधि का योग मिलता है, ``विधि से आराधना करते वे सदा ही धन्य हैं और विधि का बहुमान करने वाले और विधिमार्ग की निन्दा नहीं करने वाले भी धन्यवाद के पात्र हैं ।''

निकट मोक्षगामी जीवों को सदैव विधिपूर्वक करने का भाव होता है और अभव्य जीव विधि का त्याग करते हैं तथा दूरभव्य जीवों को अविधि में आदर होता है ।

`खेती, व्यापार, सेवा आदि तथा भोजन, शयन, आसन, गमन, वचन वगैरह भी योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि से ही पूर्ण फलदायी बनते हैं, अन्यथा अल्प फलदायी बनते हैं ।'

अविधि से अल्प लाभ

सुना जाता है कि धन के अर्थी दो पुरुष देशान्तर गये और उन्होंने किसी सिद्धपुरुष की बहुत उपासना की । सिद्धपुरुष ने खुश होकर प्रभावशाली तुंबड़े के बीज दिये और उसका आम्नाय भी बतला दिया ।

``सौ बार हल से खेड़ी गयी भूमि में छायामण्डप करके अमुक नक्षत्र, वार तथा योग में उन बीजों को बो देना । लता तैयार होने पर कुछ बीजों को लेकर पत्र, पुष्प तथा फल सहित उस बेल को वहाँ जला देना । तत्पश्चात् बत्तीस तोले तांबे को गलाकर उसमें आधा तोला भस्म डालने से वह सब तांबा शुद्ध सोना बन जायेगा ।''

सिद्धपुरुष ने उन दोनों को समान शिक्षा दी । वे दोनों अपने घर आ गये । घर आने पर एक ने सम्पूर्ण विधि का पालन किया, जिससे वह सब तांबा शुद्ध सोना हो गया, दूसरे ने विधि में कुछ कमी रखी, अत:सोने के बदले चांदी बनी ।

अत:सर्वत्र सम्यग् प्रकार से विधि का पालन करना चाहिए ।

पूजा आदि समस्त शुभ क्रियाओं के अन्त में **'अविधि-आशातना-मिच्छा मि दुक्कडम्'** अवश्य कहना चाहिए ।

अंग आदि पूजा का फल

- अंगपूजा **विघ्नोपशामिनी** है, अर्थात् अंगपूजा से विघ्न उपशान्त हो जाते हैं ।
- अग्रपूजा **अभ्युदय प्रसाधनी** है अर्थात् अग्रपूजा से अभ्युदय (विकास) होता है ।
- भावपूजा **निर्वृत्तिकारिणी** है, अर्थात् भावपूजा से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

ये तीनों पूजाएँ यथार्थ नाम वाली हैं । यहाँ पूर्वोक्त अंगपूजा, अग्रपूजा, मन्दिर बनाना, मूर्ति भरवाना, तीर्थ-यात्रा आदि करना-करवाना, ये सब द्रव्यस्तव हैं ।

इस सन्दर्भ में कहा है–

``सूत्रोक्त विधि के अनुसार जिनमन्दिर, जिनबिम्ब, प्रतिष्ठा, यात्रा तथा पूजा आदि भावस्तव के कारण होने से द्रव्यस्तव समझने चाहिए ।''

``यदि हमेशा सम्पूर्ण पूजा शक्य न हो तो उस दिन अक्षत-दीपक आदि करके भी प्रभु की पूजा अवश्य करनी चाहिए ।

जल की एक बूंद भी अगर महासमुद्र में गिर जाती है तो वह अक्षय बन जाती है, इसी प्रकार वीतराग की पूजा के उपयोग में आयी हुई थोड़ी भी लक्ष्मी अक्षय बन जाती है ।

``इस जिनपूजा रूप बीज से भवसंसार में दु:खरहित श्रेष्ठ भोगसामग्री प्राप्त कर सभी जीव सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।''

पूआए मणसंती, मणसंती ए य उत्तमं झाणं ।
सुहझाणेण य मुक्खो मुक्खे सुक्खं निराबाहं ।।1।।

पुष्पाद्यर्चा तदाज्ञा च, तद्द्रव्य परिरक्षणं ।
उत्सवास्तीर्थयात्रा च, भक्ति: पञ्चविधा जिने ।।2।।

पूजा करने से मन शान्त होता है । मन की शान्ति से उत्तम ध्यान होता है, शुभ ध्यान से आत्मा का मोक्ष होता है और मोक्ष में अव्याबाध सुख की प्राप्ति होती है ।

पुष्प आदि से पूजा, तीर्थंकर की आज्ञा का पालन, देवद्रव्य का रक्षण, उत्सव और तीर्थयात्रा रूप पाँच प्रकार से जिनेश्वर की भक्ति होती है ।

26. द्रव्यस्तव के भेद

द्रव्यस्तव के दो भेद हैं- (1) आभोग द्रव्यस्तव और (2) अनाभोग द्रव्यस्तव ।

कहा भी है– ``वीतराग के गुणों को जानकर उन अनुरूप उत्तम विधि एवं आदरपूर्वक जो जिनपूजा की जाती है, उसे **आभोग द्रव्यस्तव** कहते हैं ।''

`इस आभोग द्रव्यस्तव से चारित्र का लाभ होता है जो समस्त कर्मों का नाश करने वाला है, अत:सम्यग्दृष्टि आत्मा को इसमें अच्छी तरह से उद्यम करना चाहिए ।'

`जो पूजा की विधि को अच्छी तरह से जानता नहीं है, जो जिनेश्वर के गुणों को नहीं जानता है और शुभ परिणाम से रहित है, उसकी पूजा **'अनाभोग द्रव्यस्तव'** कहलाती है ।'

अनाभोग द्रव्यस्तव पूजा भी गुणस्थानक का स्थान होने से गुणकारी ही है, क्योंकि इससे क्रमश:शुभ-शुभतर परिणाम होने से आत्मविशुद्धि होती है और बोधि का लाभ होता है ।

वीतराग के गुणों को नहीं जानने पर भी अशुभकर्म के अत्यन्त क्षय के कारण जिनका भविष्य उज्ज्वल है, ऐसे जीवों को जिनबिम्ब आदि उचित वस्तु में प्रीति उत्पन्न होती है- जैसे पोपट-युगल को अरिहन्त के बिम्ब पर प्रीति उत्पन्न हुई थी ।

जिस प्रकार मृत्यु के निकट रहे हुए पुरुष को पथ्य भोजन पर भी अप्रीति/द्वेष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अत्यन्त पापकर्म वाले भवाभिनन्दी जीवों को जिनबिम्ब, जिनपूजा आदि उचित वस्तु पर भी द्वेष ही होता है ।

इसी कारण तत्त्वज्ञ पुरुष जिन-बिम्ब और जिनेश्वर के धर्म के विषय में अनादिकालीन अशुभ अभ्यास से डरते हुए तनिक भी द्वेष नहीं करते हैं ।

ईर्ष्यालु कुन्तला रानी

पृथ्वीपुर नगर में जितशत्रु राजा की कुन्तला नाम की मुख्य रानी थी । अरिहन्त के धर्म में वह अत्यन्त निष्ठा वाली थी । वह दूसरों को भी धर्म में प्रेरणा करती थी । उसकी प्रेरणा को प्राप्त कर राजा की शोक्य रानियाँ भी धर्म में तत्पर बनीं । सभी रानियाँ कुन्तला पर बहुमान भाव रखती थीं ।

एक बार राजा सभी रानियों के लिए अलग-अलग स्वतन्त्र मन्दिर बनवाने लगा । तब कुन्तला रानी बहुत ईर्ष्या के कारण अपने मन्दिर, प्रतिमा, परमात्मा की महापूजा तथा नाटक आदि एक से बढ़कर एक कराने लगी तथा अन्य रानियों के मन्दिर, प्रतिमा, पूजा को देखकर मन में अत्यन्त ईर्ष्या करने लगी ।

ओहो ! ईर्ष्या/मत्सर का त्याग कितना कठिन है । ग्रन्थकार ने कहा है–

``ईर्ष्या रूपी महासागर में जहाज भी डूब जाते हैं तो वहाँ पत्थर जैसे दूसरे लोग डूब जाँय इसमें क्या आश्चर्य है ?''

विद्या, व्यापार, विज्ञान, ऋद्धि-समृद्धि, जाति, ख्याति तथा उन्नति आदि में तो ईर्ष्या देखी जाती है, परन्तु आश्चर्य है कि धर्म के क्षेत्र में भी ईर्ष्या घुस गई है ?

दूसरी रानियाँ तो सरल स्वभाव के कारण हमेशा कुन्तला रानी की अनुमोदना ही करती हैं ।

दुर्भाग्य से ईर्ष्याग्रस्त कुन्तला रानी को अनेक असाध्य रोग उत्पन्न हुए । राजा ने उसके सभी आभूषण आदि ले लिये । भयंकर रोग से पीड़ित एवं शोक्य रानियों के मन्दिर एवं प्रतिमा पर द्वेष रखने वाली वह कुन्तला मरकर वहीं पर कुतिया के रूप में पैदा हुई ।

पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण वह अपने ही मन्दिर के द्वार पर बैठती ।

एक बार किसी केवली भगवन्त का वहाँ आगमन हुआ ।

अन्य रानियों ने प्रभु को पूछा- ``कुन्तलादेवी मरकर कहाँ उत्पन्न हुई ?''

तब केवली भगवन्त ने कहा- ``कुन्तला ईर्ष्या से मरकर यह कुतिया बनी है ।''

केवली भगवन्त के मुख से यह बात सुनकर सभी रानियों को अत्यन्त वैराग्य भाव पैदा हुआ ।

वे उस कुतिया को भोजन खिलाने लगीं और कहने लगीं, हे पुण्यवन्ता ! धर्मिष्ठ होकर भी तुमने व्यर्थ ही द्वेषभाव क्यों किया ?... जिससे इस कुतिया की पर्याय में पैदा हुई ।... इस प्रकार बार-बार सुनने से एवं मन्दिर के दर्शन से उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया । धर्मबोध प्राप्त उस कुतिया ने सिद्धादि के समक्ष अपने पापों की आलोचना की और अन्त में अनशन स्वीकार कर वैमानिक देवलोक में देवी बनी ।

इस दृष्टान्त को जानकर धर्मी आत्मा को द्वेष का त्याग करना चाहिए ।

27. भाव स्तव

जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा का पालन करना, परमात्मा की भावपूजा/भावस्तव है ।

जिनाज्ञा दो प्रकार की है– (1) स्वीकार रूप और (2) परिहार (त्याग) रूप ।

स्वीकार यानी सुकृत का आचरण करना और परिहार यानी परमात्मा द्वारा निषिद्ध कार्यों को न करना ।

स्वीकार पक्ष की अपेक्षा परिहार पक्ष ही बेहतर है । क्योंकि तीर्थंकरों से निषिद्ध आचरण का सेवन करने वाले को सुकृत का अधिक आचरण भी ज्यादा लाभ नहीं देता । जैसे-रोगी के रोग का प्रतिकार स्वीकार और परिहार दो प्रकार से होता है । (1) औषधि का स्वीकार और (2) अपथ्य का त्याग ।

औषध के सेवन के साथ यदि अपथ्य का भी सेवन किया जाय तो आरोग्य की प्राप्ति नहीं होती है । **कहा भी है**–

``औषध का सेवन न कर केवल पथ्य का भी अच्छी तरह से पालन कर दे तो रोगी रोगमुक्त हो जाता है, परन्तु पथ्य का पालन न करे तो सैकड़ों औषधियों से भी रोगी रोगमुक्त नहीं बनता है ।''

इसी प्रकार परमात्मा द्वारा निषिद्ध कार्यों का आचरण करने वाले को परमात्म-भक्ति भी विशेष फलदायी नहीं होती ।

औषध का सेवन और अपथ्य का त्याग करने से ही रोगी शीघ्र रोगमुक्त बनता है, उसी प्रकार स्वीकार और परिहार रूप उभय आज्ञाओं के पालन से व्यक्ति शीघ्र ही मुक्त बनता है । श्रीमद् हेमचन्द्रसूरिजी म. ने भी कहा है- `हे वीतराग परमात्मा ! आपकी पूजा की अपेक्षा भी आपकी आज्ञा का पालन ही विशेष लाभकारी है । आपकी आज्ञा की आराधना मोक्ष के लिए होती है और आपकी आज्ञा की विराधना संसार (वृद्धि) के लिए होती है ।'

द्रव्य और भाव स्तव का फल इस प्रकार कहा गया है-

`उत्कृष्ट द्रव्यस्तव की आराधना करने से अधिकतम अच्युत (12 वें) देवलोक की प्राप्ति होती है और उत्कृष्ट से भावस्तव करने से अन्तर्मुहूर्त में मोक्षपद की प्राप्ति होती है ।

शंका-समाधान

प्रश्न :- द्रव्यस्तव में षट्काय की विराधना होती है, फिर उससे लाभ कैसे ?

उत्तर :- कूप के दृष्टान्त से श्रावक के लिए द्रव्यस्तव समुचित है । इस द्रव्यस्तव के करने-देखने

से, सुनने से-कर्ता, द्रष्टा और श्रोता (अनुमोदक) को अगणित पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है। जैसे-किसी नवीन गाँव में स्नान-पान आदि के लिए लोगों के द्वारा कुआ खोदा जाता है। कुए को खोदते समय तृषा, श्रम, कीचड़ की मलिनता भी होती है, परन्तु कुए में से पानी निकलने पर स्वयं तथा दूसरों की भी तृषादि दूर हो जाती है, पूर्व का मैल भी दूर हो जाता है...जल से ठण्डक भी मिलती है...इस प्रकार हमेशा समस्त शरीर को सुख प्राप्त होता है।

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है-

``परमात्मा के बताये हुए सम्पूर्ण (सर्वविरति) मार्ग को स्वीकार नहीं कर सकने वाले देशविरति श्रावक के लिए कूप के दृष्टान्त से यह द्रव्यस्तव उचित है और संसार (भ्रमण) को नष्ट करने वाला है।''

अन्यत्र भी कहा है- ``आरम्भ समारम्भ में डूबे हुए, षट् जीवनिकाय के वध की प्रतिज्ञा धारण नहीं करने वाले संसार-अटवी में रहे हुए गृहस्थों के लिए द्रव्यस्तव ही श्रेष्ठ आलम्बन है।''

``वायु जैसा चपल, मोक्षपद का घात करने वाला, बहुत नायक वाला और निस्सार ऐसे अल्प धन से भी जिनेश्वर भगवान की पूजा करके स्थिर, मोक्ष को देने वाला, स्वाधीन, बहुत और परम सारभूत विशुद्ध पुण्य को ग्रहण करता है, वही वणिक् व्यापार करने में अत्यन्त चतुर है।''

दर्शन-पूजन का फल :

यास्याम्यायतनं जिनस्य लभते ध्यायंश्चतुर्थं फलं,
षष्टं चोत्थित उद्यतोऽष्टममथो गंतुं प्रवृत्तोऽध्वनि।
श्रद्धालुर्दशमं बहिर्जिनगृहात्प्राप्तस्ततो द्वादशं,
मध्ये पाक्षिकमीक्षिते जिनपतौ मासोपवासं फलम् ।।3।।

'मैं जिनमन्दिर जाऊंगा'-इस प्रकार मन में विचार करने वाले को एक उपवास का लाभ मिलता है। मन्दिर जाने के लिए उठने वाले को छट्ठ (दो उपवास) का लाभ मिलता है। मन्दिर जाने के लिए तैयार होने से उसे अट्ठम का लाभ मिलता है। मन्दिर जाने के लिए मार्ग में चलने से इस श्रद्धालु व्यक्ति को चार उपवास और जिनमन्दिर के द्वार पर पहुँचने पर उसे पाँच उपवास, मन्दिर में प्रवेश करने पर उसे पन्द्रह उपवास और प्रभु के दर्शन से उसे एक मास के उपवास का फल प्राप्त होता है।

पद्मचरित्र में तो इस प्रकार कहा है- ``जिनमन्दिर में जाने का विचार करने से उपवास, जाने के लिए उठने पर दो उपवास, जाने का प्रारम्भ करने से तीन उपवास, चलने से चार उपवास, थोड़ा जाने पर पाँच उपवास, रास्ते के बीच पन्द्रह उपवास, जिनमन्दिर दिखाई देने पर एक मास के उपवास का फल, जिनेश्वर भगवन्त के मन्दिर तक पहुँचने पर छह महीने के उपवास का फल, मन्दिर के द्वार पर आने पर एक वर्ष के उपवास का फल, प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का फल, जिनेश्वर की पूजा करने पर एक हजार वर्ष के उपवास का फल और जिनेश्वर की स्तुति करने पर अनन्त पुण्य की प्राप्ति होती है।''

प्रभु की प्रमार्जना करने पर सौ गुना, विलेपन करने पर एक हजार गुना, माला चढ़ाने से लाख गुना फल और प्रभु के गीत-गान करने पर अनन्त गुना पुण्य मिलता है।

जिनेश्वर प्रभु की पूजा प्रतिदिन त्रिकाल करनी चाहिए ।

कहा भी है– प्रात:काल में जिनेश्वर की पूजा करने से रात्रि के पाप नष्ट होते हैं । मध्याह्न की पूजा से जीवन पर्यन्त के और संध्यापूजा से सात जन्म के पाप नष्ट होते हैं ।

जल, आहार, औषध, निद्रा, विद्या, मलमूत्र-त्याग तथा कृषि आदि की क्रिया अपने-अपने उचित समय पर करने पर लाभदायी होती है, उसी प्रकार परमात्मा की पूजा भी उचित समय पर करने से सुन्दर फल वाली होती है ।

जिनेश्वर भगवन्त की त्रिसंध्या पूजा करने वाला सम्यक्त्व को सुशोभित करता है और श्रेणिक महाराजा की तरह तीर्थंकर नामकर्म का बंध करता है ।

◆ ``जो पुरुष दोषमुक्त जिनेश्वर भगवन्त की त्रिकाल पूजा करता है, वह तीसरे भव में अथवा सातवें-आठवें भव में सिद्धिपद प्राप्त करता है ।''

``इन्द्रों के द्वारा सर्व आदर से पूजा करने पर भी तीर्थंकरों की संपूर्ण पूजा नहीं होती है क्योंकि तीर्थंकर अनंत गुण वाले होते हैं । संसार के सभी पुष्पों को इकट्ठा करके एक-एक गुण के हिसाब से पुष्प से पूजा करें तो भी पुष्प समाप्ति होने पर भी गुणों का अन्त नहीं आयेगा ।''

``आप आँखों से नहीं देखे जाते हैं तथा नाना प्रकार की पूजाओं से आपकी आराधना नहीं होती है, परन्तु बहुत भक्तिराग एवं आपकी आज्ञा के पालन से आपकी आराधना होती है ।''

हार्दिक बहुमान और सम्यग्विधि के पालन से ही देवपूजा सम्पूर्ण फल को देने वाली होती है । उसकी चतुर्भंगी शुद्ध एवं अशुद्ध चांदी व छाप के दृष्टान्त से इस प्रकार है–

1) शुद्ध चांदी व सच्ची छाप
2) शुद्ध चांदी किन्तु खोटी छाप
3) सच्ची छाप किन्तु अशुद्ध चांदी
4) खोटी चांदी व खोटी छाप

इसी प्रकार प्रभुपूजा में चार भंग इस प्रकार हैं–

1) सम्यग् बहुमान और विधि का सम्यग् पालन ।
2) सम्यग् बहुमान किन्तु विधि का पालन नहीं ।
3) सम्यग् बहुमान का अभाव किन्तु विधि का सम्यग् पालन ।
4) बहुमान और विधि-दोनों का अभाव ।

बृहद् भाष्य में कहा है- ``प्रभु की वन्दनक्रिया में चित्त का बहुभाग चांदी के समान और सम्पूर्ण बाह्यक्रिया छाप के समान समझनी चाहिए ।''

बहुमान और क्रिया दोनों के समायोग में वन्दन सच्चे रुपये की तरह समझना चाहिए ।

◆ भक्तियुक्त (बहुमान युक्त) प्रमादी की क्रिया दूसरे भंग के समान समझनी चाहिए ।

◆ किसी वस्तु के लाभ के निमित्त बहुमान रहित अखण्ड क्रिया तीसरे भंग के समान है ।

◆ बहुमान और क्रिया से रहित वंदन क्रिया चौथे भंग के समान तात्त्विक दृष्टि से अवंदन ही है । देश, काल के अनुसार विधि एवं बहुमानपूर्वक कम या अधिक भक्ति करनी चाहिए ।

28. अनुष्ठान के भेद

जिनमत में चार प्रकार के अनुष्ठान बतलाये गये हैं– (1) प्रीति अनुष्ठान (2) भक्ति अनुष्ठान (3) वचन अनुष्ठान और (4) असंग अनुष्ठान ।

बाल आदि को रत्न पर प्रीति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सरल स्वभाव वाले जीव को जिस अनुष्ठान को करते हुए प्रीति रस बढ़ता है, उसे प्रीति अनुष्ठान कहते हैं ।

शुद्ध विवेक वाले भव्य जीव द्वारा बहुमानविशेष से पहले की तरह ही पूज्यों के प्रति प्रीति से जो क्रिया की जाती है उसे भक्ति अनुष्ठान कहते हैं ।

इन दोनों प्रीति, भक्ति अनुष्ठान को उदाहरण से बताते हैं-पत्नी और माता का पालन-पोषण करना है लेकिन पत्नी का पालन तो प्रीति से किया जाता है और माता का भक्ति से ।

◆ जो जिनेश्वर के गुणों को जानता है और सूत्रोक्त विधि के अनुसार वन्दन आदि क्रिया करता है, ऐसे चारित्रवान् आत्मा को निश्चय से यह वचनानुष्ठान होता है, परन्तु पार्श्वस्थादि को नहीं होता है ।

◆ पूर्व के अभ्यास से श्रुत का आलम्बन लिये बिना जो निराशंस भाव से अनुष्ठान करता है उसे असंग अनुष्ठान समझना चाहिए । जिनकल्पी को यह अनुष्ठान होता है । कुम्भकार का चक्र प्रथम दण्ड से घूमता है और उसके बाद पूर्वप्रयोग से चक्र घूमता रहता है, उसी प्रकार वचन अनुष्ठान आगम के अनुसार प्रवृत्त होता है और उसके बाद अभ्यास के कारण आगम की अपेक्षा बिना असंग अनुष्ठान होता है ।

थोड़े भाव होने के कारण प्रीति अनुष्ठान प्रातःबाल आदि को होता है । उसके बाद निश्चयतःउत्तरोत्तर अनुष्ठानों की प्राप्ति होती है ।

ये चारों अनुष्ठान पहले रुपये के समान समझने चाहिए, क्योंकि पूर्वकालीन महापुरुषों ने उन सबको परमपद-मोक्ष का कारण कहा है ।

दूसरे रुपये के समान अनुष्ठान को एकान्त से दुष्ट नहीं कहा है, क्योंकि वह सम्यग् अनुष्ठान का कारण बनता है । पूर्वाचार्य कहते हैं-जिस प्रकार अन्दर से निर्मल रत्न पर बाहर से मैल लगा हो तो भी वह मैल सुखपूर्वक दूर हो सकता है, उसी प्रकार अशठ की अशुद्ध क्रिया शुद्ध क्रिया का कारण होती है ।

माया-मृषा आदि दोषों से युक्त धर्मक्रिया तीसरे प्रकार के रुपये के समान है । जैसे ग्राहक को खोटा रुपया देने वाले व्यापारी को अनर्थ का सामना करना पड़ता है, उसी तरह इस अनुष्ठान को करने वाले का अनर्थ होता है ।

यह तृतीय प्रकार का अनुष्ठान प्रायःकरके अज्ञानता, अश्रद्धा और अत्यधिक पापकर्म वाले भवाभिनन्दी जीवों को होता है ।

चौथे प्रकार का अनुष्ठान, बहुमान एवं विधि रहित होता है । इसमें आराधना या विराधना नहीं होती है । फिर भी प्रशस्त निमित्त के सतत सान्निध्य से कभी-कभी शुभ भाव उत्पन्न हो सकते हैं ।

जैसे, किसी प्रकार का सुकृत किये बिना मरकर मछली के भव में गये हुए श्रावक के पुत्र को जिनप्रतिमा के आकार की मछली देखकर जातिस्मरण और समकित हुआ था ।

देवपूजा आदि में हार्दिक बहुमान एवं सम्यग् विधि के पालन से सम्पूर्ण फल मिलता है, अत:उसमें प्रयत्न करना चाहिए । इस पर धर्मदत्त राजा का उदाहरण लिखा जाता है ।

धर्मदत्त राजा

चांदी के जिनमन्दिरों से सुशोभित राजपुर नगर में प्रजा के लिए चंद्र की तरह शीतकर, कपूर एवं कमल जैसे हाथों वाला पृथ्वी के लोगों को आनन्द देने वाला राजधर नाम का राजा राज्य करता था । उसके देवांगनाओं के रूप से भी अधिक रूप वाली प्रीतिमती आदि 500 रानियाँ थीं ।

प्रीतिमती को छोड़कर अन्य सभी रानियों के पुत्र थे अर्थात् जगत् को आनन्द देने वाले पुत्र से एक मात्र प्रीतिमती की ही गोद खाली थी ।

वंध्यापने के कारण प्रीतिमती को अत्यन्त ही खेद था । सामान्यतया भी पंक्तिभेद सहन करना अत्यन्त कठिन है तो फिर बड़े पुरुषों के लिए तो वह कितना कठिन होगा ?

अथवा जो वस्तु भाग्य के आधीन है, उसके बारे में मुख्य-अमुख्य का विचार करने से क्या फायदा ? फिर भी इस प्रकार आर्त्तध्यान करने वाले मूढ़ पुरुषों को धिक्कार है ।

पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रीतिमती ने देवताओं की अनेकविध मनौतियाँ की थीं, परन्तु वे भी जब निष्फल गईं तो प्रीतिमती के दु:ख का पार न रहा । उपाय निष्फल जाने पर उपेय विषयक आशा भी नहीं रहती है ।

एक बार हंस का एक बच्चा घर में खेल रहा था । प्रीतिमती ने उसे हाथ में उठा लिया फिर भी वह बच्चा निर्भय होकर मनुष्य की वाणी में उसे कहने लगा, ``तुम निपुण होने पर भी स्वच्छन्द रूप से क्रीड़ा करने वाले....मुझको क्यों पकड़ती हो ? स्वच्छन्द रहने वाले प्राणियों के लिए तो बन्धन मरण के समान है । तुम स्वयं वंध्यत्व का अनुभव कर रही हो, फिर यह अशुभ कर्म क्यों बाँधती हो ? शुभ कर्म से ही धर्म होता है और धर्म से ही इच्छित फल की सिद्धि होती है ।''

हंस के बच्चे के मुख से इस बात को सुनकर विस्मित एवं भयभीत बनी प्रीतिमती बोली, ``हे चतुर शिरोमणि ! मैं तुझे जल्दी मुक्त कर दूंगी...परन्तु एक बात पूछती हूँ कि अनेकविध देवताओं की पूजा, दान तथा सत्कर्म करने पर भी शापित नारी की तरह मुझे पुत्र-प्राप्ति क्यों नहीं हो रही है ? पुत्र के बिना मैं दु:खी हूँ । इस बात को तू कैसे जानता है ? और मनुष्य की भाषा में कैसे बोलता है ।''

उसने कहा, ``मेरी बात पूछने से तुझे क्या मतलब है ? मैं तो तुझे हितकारी बात कहता हूँ- धन, पुत्र तथा सुख आदि समस्त सम्पत्तियाँ पूर्वकृत भाग्य के आधीन हैं ।''

``इस लोक में किया गया शुभ कर्म बीच में आने वाले विघ्नों को शान्त करता है ।

``जैसे-तैसे देवताओं की पूजा निष्फल है, उससे मिथ्यात्व का बन्ध होता है । एक जिनप्रणीत धर्म ही इसलोक और परलोक में वांच्छित वस्तु को देने वाला है । जिनधर्म से यदि विघ्नों की शान्ति न हो तो फिर किससे होगी ? जिस अंधकार को सूर्य दूर न कर सके, उस अंधकार को क्या अन्य ग्रह दूर कर सकेंगे ? अत:तू कुपथ्य समान मिथ्यात्व को छोड़ दे और वास्तविक अर्हद्धर्म की उपासना कर, जिससे इसलोक और परलोक में समस्त इष्ट फल की सिद्धि होगी ।'' इस प्रकार बोलकर वह हंस शीघ्र ही पारे की तरह उछलकर आकाश में उड़ गया ।

चमत्कृत बनी प्रीतिमती पुत्र की आशा से प्रसन्नमुखी बनी । आपत्ति आने पर धर्म, गुरु आदि की आस्था दृढ़ बनती है ।

इसके बाद प्रीतिमती ने सद्गुरु के पास श्रावक धर्म स्वीकार किया । त्रिकाल जिनपूजा करने वाली प्रीतिमती रानी अनुक्रम से सुलसा श्राविका जैसी बनी । अहो ! हंस की वाणी का कितना चमत्कार !

एक बार राजा के दिल में चिन्ता उत्पन्न हुई कि अभी तक मुख्यरानी (पट्टरानी) को पुत्र पैदा नहीं हुआ है और अन्य रानियों के तो सैकड़ों पुत्र हैं तो फिर राज्य के योग्य कौन ?

राजा इस प्रकार की चिन्ता में ही था कि रात्रि में उसे स्वप्न में मानों साक्षात् किसी दिव्य पुरुष ने आकर कहा, ``हे राजन् ! अपने राज्य के योग्य पुत्र की तू व्यर्थ की चिन्ता मत कर । विश्व में कल्पवृक्ष समान जैनधर्म का विधिपूर्वक सेवन कर, जिससे इसलोक और परलोक में तुझे इष्टसिद्धि होगी ।''

इस स्वप्न को देखकर वह राजा प्रसन्नतापूर्वक जिनपूजा आदि के द्वारा जिनधर्म की आराधना करने लगा । सचमुच, इस प्रकार के स्वप्न को देखकर कौन व्यक्ति आलस करेगा !

इसके बाद पट्टरानी ने स्वप्न में अरिहन्त की प्रतिमा के दर्शन किये...तत्पश्चात् की प्रीति को देने वाले किसी उत्तम जीव का सरोवर में हंस की तरह प्रीतिमती की कुक्षि में अवतरण हुआ ।

गर्भ के प्रभाव से उसे मणिमय जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा के निर्माण एवं उसकी पूजा आदि के दोहद होने लगे । सचमुच, फल के अनुरूप ही वृक्ष पर फूल आते हैं ।

देवताओं को विचार मात्र से ही कार्यसिद्धि हो जाती है । राजाओं को वचन-मात्र से कार्यसिद्धि हो जाती है । धनी लोगों को धन से कार्यसिद्धि हो जाती है और शेष लोगों को शारीरिक श्रम से ही कार्यसिद्धि होती है ।

प्रीतिमती के दोहदों की पूर्ति कठिन होने पर भी राजा ने उसके सभी दोहद प्रसन्नतापूर्वक विशेष प्रकार से पूर्ण किये ।

मेरुपर्वत पर पारिजात-कल्पवृक्ष की तरह प्रीतिमती रानी ने एक शुभ दिन पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

राजा के हर्ष का पार न रहा । उसने भी उसका अपूर्व जन्मोत्सव किया और उस पुत्र का **'धर्मदत्त'** इस प्रकार सार्थक नाम रखा ।

एक बार आनन्द और उत्सवपूर्वक उस पुत्र को जिनमन्दिर ले जाया गया और बड़े उत्सवपूर्वक अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा को नमस्कार कराकर उसे भेंट की तरह रखा । इसी बीच खुश होकर प्रीतिमती रानी अपनी सखी को कहने लगी । ``हे सखि ! उस चतुर हंस ने मुझ पर आश्चर्यकारी उपकार किया है । उस हंस के वचनानुसार आराधना करने से निर्धन को निधि की तरह मुझे जिनधर्म रूप रत्न और इस प्रकार का सुन्दर पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है ।''

प्रीतिमती के मुख से इन वचनों को सुनकर वह बालक बीमार की तरह एकदम मूर्च्छित हो गया । बालक की इस दुर्दशा को देखकर उसकी माता भी भयंकर दुःख से मूर्च्छित होकर भूमि पर ढल पड़ी ।

दृष्टिदोष अथवा दिव्यदोष की शंका से तुरन्त ही आस-पास के लोग जोर से चिल्लाने लगे ``हाय ! माता और पुत्र को एकदम क्या हो गया ?'' थोड़ी ही देर में मन्त्री आदि के साथ राजा वहाँ उपस्थित हो गया और शीतल उपचार करने लगा । कुछ ही क्षणों में बालक एवं रानी की मूर्च्छा दूर हो गयी । दोनों होश में आ गये । पुनः चारों ओर खुशहाली छा गयी और पुनः उत्सव पूर्वक राजपुत्र को अपने भवन में ले गये ।

उस दिन राजपुत्र एकदम स्वस्थ रहा । उसने पूर्व की तरह ही स्तनपान आदि भी किया । परन्तु दूसरे दिन स्वस्थ होने पर भी अरुचि वाले की तरह उसने दुग्धपान भी नहीं किया । चौविहार के पच्चक्खाण करने वाले की तरह उसने औषधि भी नहीं ली ।

बालक की इस चेष्टा से उसके माता-पिता, मंत्री तथा नगर-जन आदि सभी दुःखी हो गये एवं मंत्री आदि मूढ़ हो गये । सभी चिन्तातुर होकर सोचने लगे । तभी मध्याह्न समय में बालक के पुण्य से आकाशमार्ग से एक मुनि वहाँ आये । सर्वप्रथम परम प्रीति से उस बालक ने तथा उसके बाद राजा आदि ने उन महात्मा को प्रणाम किया । तत्पश्चात् राजा ने पूछा,``भगवन्त ! इस बालक ने सब कुछ खाना-पीना क्यों छोड़ दिया ?''

राजा की बात सुनकर मुनिराज ने कहा, ``हे राजन् ! इस बालक को कोई शारीरिक पीड़ा आदि नहीं है, परन्तु इसे जिनप्रतिमा (प्रभु) के दर्शन कराओ, तभी यह बालक दूधपान करेगा ।''

मुनिराज के वचनों को सुनकर उस बालक को जिनमन्दिर ले जाया गया और उसे प्रभु के दर्शन-वंदन कराये गये । उसके बाद वह बालक पूर्ववत् स्तन-पान आदि करने लगा । बालक की इस प्रवृत्ति को देख सभी आश्चर्य करने लगे ।

पुनः राजा ने मुनिराज से पूछा, ``यह कैसा चमत्कार !'' मुनिराज ने कहा- ``इस बात को समझने के लिए मैं इसका पूर्वभव सुनाता हूँ ।'' इसे ध्यानपूर्वक सुनो ।

पुरिका नाम की नगरी में दीन-दुःखियों पर दया वाला और शत्रुओं पर क्रूर दृष्टि वाला **'कृप'** नाम का राजा था । उस नगरी में सज्जन पुरुष अधिक थे और दुर्जन पुरुष बहुत ही थोड़े थे । उस राजा के चित्रमति नाम का बुद्धिशाली मंत्री था । उस मंत्री के कुबेर समान समृद्ध वसुमित्र नाम का मित्र था । वसुमित्र के सुमित्र नाम का मित्र था जो नाम में एक अक्षर न्यून किन्तु समृद्धि में एक समान था ।

सुमित्र के **'धन्य'** नाम का एक सेवक था, जो उत्तम कुल का होने से सुमित्र को पुत्र समान मान्य था । एक बार वह धन्य स्नान के लिए सुन्दर कमल वाले सरोवर के निकट पहुँचा । धन्य उस सरोवर में हाथी के बच्चे की भाँति क्रीड़ा करने लगा । तभी उसे दिव्य कमल के समान अत्यन्त सुगन्धित सहस्त्रदल कमल प्राप्त हुआ ।

धन्य उस कमल को लेकर सरोवर में से बाहर निकलकर हर्ष से आगे बढ़ने लगा ।

मार्ग में फूल चूंटकर ले जाती हुई माली की चार कन्याएँ उसे मिलीं । पूर्व के अति परिचय के कारण उस सहस्त्रदल कमल की विशेषताओं को देखकर उन कन्याओं ने धन्य को कहा, ``हे भद्र ! भद्रशाल वन के वृक्ष के फूल की भाँति यह कमल अत्यन्त ही दुर्लभ है । यह उत्तम वस्तु उत्तम पुरुष के लिए है, अतः इसका जहाँ-तहाँ उपयोग मत करना ।''

धन्य ने कहा, ``मुकुट के समान इस कमल का उत्तम पुरुष में ही उपयोग करूंगा ।''

उसके बाद धन्य ने सोचा, ``सभी पुरुषों में उत्तम ऐसा सुमित्र ही मेरे लिए पूज्य है ।''

सामान्यतया जिसकी आजीविका जिससे चलती हो, उसके लिए वही पूज्य होता है ।

इस प्रकार विचार कर वह मुग्ध धन्य सुमित्र के पास गया और नमस्कार करके विनयपूर्वक सब बात कहकर, जिस प्रकार देवता के सामने कमल धरा जाता है, उस प्रकार उसने सुमित्र के सामने वह कमल रख दिया ।

उसी समय सुमित्र ने कहा, ``मेरे सेठ वसुमित्र सबसे उत्तम होने से इस कमल के लिए वे ही योग्य हैं । उनका मुझ पर इतना अधिक उपकार है कि उनका नित्य दासत्व करूँ तो भी उनके ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता हूँ ।''

वह धन्य उस कमल को लेकर वसुमित्र के पास गया और सब बातें कहकर उसने वसुमित्र के आगे उस कमल की भेंट रखी । उसी समय वसुमित्र ने कहा, ``इस कमल के सम्मान के लिए तो मंत्री योग्य है, क्योंकि मेरे सर्व कार्यों की सिद्धि उसी से होती है ।'' वसुमित्र की इस बात को सुनकर धन्य वह कमल लेकर मंत्री के पास गया और उस मंत्री के आगे वह कमल-भेंट रखने लगा ।

उसी समय मंत्री ने कहा, ``इस कमल के सम्मान के लिए तो प्रजा का पालन करने वाला राजा योग्य है, क्योंकि स्त्रष्टा (ब्रह्मा) की तरह उसकी दृष्टि का प्रभाव भी अद्भुत है । उसकी कृपादृष्टि से कंगाल भी समृद्ध हो जाता है और उसकी क्रूरदृष्टि से शक्तिमान् भी कमजोर हो जाता है ।''

मंत्री की यह बात सुनकर धन्य उस कमल को लेकर राजा के पास गया । राजा भी जैन सद्गुरु की सेवा में तत्पर होने से बोला- ``जिनके चरण-कमलों में मेरे जैसे राजा भी भ्रमर का आचरण करते हैं, अतः वे ही उत्तम हैं, गुरु हैं । उनका योग स्वाति नक्षत्र में वर्षा के जल की भाँति अत्यन्त ही अल्प होता है ।''

कृप राजा इस प्रकार बात कर ही रहा था कि उसी समय सबको आश्चर्य में डालने वाले चारणऋषि देव की भाँति आकाश में से आये ।

अहो ! स्पृहा कैसे पूर्ण हो गयी !

राजा तथा प्रजा ने चारण मुनि को आसन प्रदान किया और बहुमानपूर्वक वन्दन किया ।

तत्पश्चात् धन्य ने वह फूल मुनि के सामने रखा । चारण मुनि ने कहा- ``मनुष्य में तरतम भाव से यदि कोई सर्वश्रेष्ठ है तो वह अरिहन्त परमात्मा ही है । वे ही त्रिलोकपूज्य हैं, अतः तीन जगत् में उत्तम अरिहन्त प्रभु के चरणों में ही यह कमल समर्पित करना उचित है । इसलोक और परलोक में मनोवांछित को देने वाली अरिहन्त की पूजा कोई नवीन ही कामधेनु है ।''

मुनि के ऐसे वचन सुनकर भद्र प्रकृति वाला धन्य जिनमन्दिर में गया और उसने प्रभु के मस्तक पर छत्र की भाँति वह फूल चढ़ा दिया । प्रभु के मस्तक पर रहा वह फूल मुकुट की भाँति सुशोभित हुआ । इसे देखकर धन्य मन ही मन अत्यन्त खुश हुआ और शुभ भावना करने लगा ।

इसी बीच माली की चार कन्याएँ फूल बेचने के लिए वहाँ आईं । उन्होंने धन्य के द्वारा प्रभु के मस्तक पर रखे गये उस फूल को देखा । उन्होंने उसकी अनुमोदना की और मानों संपत्ति का बीज न हो, इस प्रकार एक-एक फूल सभी ने प्रभु की गोद में चढ़ाया ।

पुण्य कार्य, पाप कार्य, पाठ, दान, ग्रहण, भोजन, दूसरे को मान देने में, मन्दिर आदि के कार्यों में जो प्रवृत्ति होती है, वह देखादेखी होती है ।

उसके बाद अपने आपको धन्य मानता हुआ वह धन्य चला गया तथा वे चार कन्याएँ भी अपने-अपने स्थान पर चली गईं । तब से धन्य संयोग मिलने पर जिनेश्वर को प्रतिदिन नमस्कार करने लगा ।

एक बार वह सोचने लगा- ``रंक पशु की भाँति रात-दिन परतंत्र रहने के कारण प्रतिदिन प्रभु के दर्शन का भी नियम नहीं ले सकता हूँ, सचमुच मुझे धिक्कार है ।''

चारण मुनि का उपदेश सुनकर कृप राजा, चित्रमति मंत्री, वसुमित्र तथा सुमित्र ने गृहस्थ (श्रावक) धर्म को स्वीकार किया और क्रमशःवे सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए ।

अरिहन्त की भक्ति के प्रभाव से धन्य भी सौधर्म देवलोक में महर्द्धिक देव बना । वे चारों कन्याएँ भी मरकर धन्य की मित्र देव बनीं । उसके बाद कृप राजा का जीव देवलोक से च्यवकर वैताढ्य पर्वत के गगनवल्लभ नगर में इन्द्र की भाँति चित्रगति नाम का विद्याधर राजा हुआ ।

मंत्री का जीव देवलोक से च्यवकर चित्रगति विद्याधर का पुत्र बना । वह माता-पिता का अत्यन्त ही प्रीति-पात्र था । पिता से भी अधिक तेजस्वी उस पुत्र का नाम विचित्रगति रखा गया । क्रमशः वह यौवन को प्राप्त हुआ । एक बार राज्य के लोभ से उसने अपने पिता की हत्या का षड्यंत्र रचा ।

वास्तव में, लोभ में अन्ध बने पुत्र को भी धिक्कार हो ।

दैवयोग से गोत्रदेवी ने राजा को वह सारा षड्यंत्र बता दिया । अचानक आये इस भयंकर भय से राजा को वैराग्य पैदा हो गया । वह सोचने लगा,- ``अहो ! क्या करूँ? कहाँ जाऊँ ? किसको क्या कहूँ ? अरे ! मैंने कोई सुकृत नहीं किया । इसी कारण पुत्र से पशु की तरह मरना पड़ेगा तथा मुझे

खोटी गति प्राप्त होगी । अच्छा हो, अब भी सावधान बन जाऊँ ।'' इस प्रकार विचार कर उसने उसी समय पंचमुष्टि लौंच कर लिया । देवता ने उसे साधु-वेष प्रदान किया और उसने शीघ्र ही दीक्षा स्वीकार कर ली ।

उसी समय विचित्रगति को पश्चाताप हुआ और उसने पिता से क्षमायाचना कर पुनःराज्य ग्रहण करने के लिए कहा । पिता ने दीक्षा के कारण को समझाकर पवन की भाँति वहाँ से विहार कर दिया ।

यतिधर्म का पालन करते तथा दुष्कर तप तपते हुए चित्रगति मुनि को तीसरा अवधिज्ञान और मानों स्पर्धा नहीं करता हो ऐसा चौथा मनःपर्यवज्ञान भी उत्पन्न हो गया ।

अपने ज्ञान के बल से लाभ जानकर तुम्हारे मोह को दूर करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ । अब मैं तुम्हारा शेष सम्बन्ध भी कहता हूँ ।

हे राजन् ! वसुमित्र देव च्यवकर तुम राजा बने हो । सुमित्र देव च्यवकर तुम्हारी देवी प्रीतिमती बना है । पूर्व भव के अभ्यास के कारण तुम दोनों की दृढ़ प्रीति है ।

अपने उत्कृष्ट श्रावकपने को बताने के लिए सुमित्र ने कभी-कभी माया का आचरण किया था । इसी कारण वह स्त्री के रूप में पैदा हुआ ।

अहो ! सज्जन पुरुषों को भी हिताहित में कैसी जड़ता आ जाती है । ``छोटे भाई को मेरे पहले पुत्र न हो ।`` इस प्रकार के विचार के कारण देर से पुत्र पैदा हुआ । एक बार भी खराब विचार करने से उसका परिणाम अत्यन्त बुरा आता है ।

एक बार धन्य देव ने सुविधिनाथ प्रभु को अपने आगामी जन्म के बारे में पूछा, तब प्रभु ने तुम्हारे पुत्र के रूप में जन्म बताया ।

''माता-पिता के जीवन में धर्म न हो तो पुत्र को धर्मसामग्री कहाँ से मिले ? मूल कुए में यदि पानी हो तो ही कुण्ड में पानी आ सकता है ।``-इस प्रकार विचार कर स्वयं के बोधिबीज की प्राप्ति के लिए हंस का रूप कर रानी को वे-वे बातें कहकर एवं स्वप्न देकर तुमको भी उसने बोध दिया ।

आगामी भव में बोधिलाभ की प्राप्ति के लिए कई देवता भी देव-भव में इस प्रकार का यत्न करते हैं और दूसरे तो मनुष्यभव में दिव्यमणि जैसे प्राप्त हुए सम्यक्त्व को भी खो बैठते हैं ।

वह सम्यग्दृष्टि देव, देवभव से च्यवकर तुम दोनों का पुत्र बना है । वह पुत्र ही माता के सुन्दर स्वप्न व सुन्दर दोहद का कारण था ।

शरीर के पीछे छाया, पति के पीछे सती स्त्री, चन्द्र के पीछे चांदनी, सूर्य के पीछे प्रकाश और मेघ के पीछे बिजली आती है, उसी प्रकार इसके पीछे जिनभक्ति रही हुई है ।

कल इसे जिन मन्दिर ले गये थे, वहाँ पर बारंबार अरिहन्त की प्रतिमा को देखने से एवं हंस के आगमन की बात सुनने से यह मूर्च्छित हो गया था और इसे उसी समय जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ था । उस ज्ञान के बल से इसे पूर्व जन्म के कृत्यों का स्मरण हुआ । उसके साथ ही इसने संकल्प कर लिया कि जीवन पर्यन्त प्रभु के दर्शन-वंदन बिना मुख में कुछ भी नहीं डालूंगा ।

नियम रहित धर्म की अपेक्षा नियम सहित धर्म का अनन्त गुणा फल होता है ।

धर्म दो प्रकार का है (1) नियम रहित और (2) नियम सहित । पहला धर्म बहुत किया हो तो भी अल्प एवं अनियत फल वाला है और दूसरा धर्म थोड़ा भी किया हो तो भी उसका अनन्त एवं नियत फल है ।

जैसे तय किये बिना किसी के यहाँ बहुत सा धन लम्बे समय तक रखने पर भी उसमें ब्याज आदि की वृद्धि नहीं होती और पहले से ही तय कर लिया जाय तो पहले दिन से ही उस धन में वृद्धि हो जाती है, उसी प्रकार धर्म में भी नियम होने से फल मिलता है ।

अविरति के उदय में तत्त्व को समझने पर भी श्रेणिक की तरह नियम की प्राप्ति नहीं होती है । अविरति का उदय न हो तो नियम ले सकते हैं, परन्तु आपत्ति में भी नियम में दृढ़ता तो आसन्नसिद्धि जीवों को ही होती है ।

पूर्व के प्रेम और बहुमान के कारण इस बालक ने एक मास की आयु में ही यह नियम ग्रहण कर लिया । इसी कारण कल इसने जिनदर्शन-वंदन किया था, अतःदूध पिया था, परन्तु आज जिनदर्शन का योग नहीं होने के कारण भूख लगने पर भी दृढ़ मनोबली इसने स्तन-पान नहीं किया और मेरी वाणी से अभिग्रह पूरा होने पर स्तन-पान में प्रवृत्त हो गया ।

पूर्व भव में जो कुछ शुभ-अशुभ किया हो अथवा करने का संकल्प किया हो, वह सब अगले जन्म में हो जाता है ।

इस महिमावन्त धर्मदत्त को पूर्व जन्म में की गई अव्यक्त भक्ति के फलस्वरूप आश्चर्यकारी सम्पूर्ण समृद्धि प्राप्त होगी ।

माली कन्या के जीव भी देवभव से च्यवकर बड़े राजकुल में उत्पन्न होकर इसी की रानियाँ बनेंगे । सचमुच, एक साथ सुकृत करने वाले का योग भी एक साथ हो जाता है ।

इस प्रकार मुनिराज की वाणी एवं बालक की नियम-दृढ़ता को देखकर राजा आदि सभी नियमयुक्त धर्म को स्वीकार करने में अग्रणी बने ।

`पुत्र के प्रतिबोध के लिए मैं जाता हूँ'-इस प्रकार कहकर वे शक्तिशाली मुनि गरुड़ पक्षी की भाँति वैताढ्य पर्वत की ओर उड़ गये ।

तीन लोक को आश्चर्यचकित करने वाला, अपनी रूप सम्पत्ति से कामदेव को भी लज्जित करनेवाला, जातिस्मरण ज्ञान वाला धर्मदत्त ग्रहण किये हुए नियम का यति की तरह पालन करता हुआ क्रमशः बड़ा होने लगा ।

प्रतिदिन उसके शरीर की वृद्धि को देखकर मानों परस्पर प्रतिस्पर्धा न कर रहे हों, इस प्रकार उसके लोकोत्तर रूप, लावण्य आदि गुण भी बढ़ने लगे ।

धर्मदत्त का धर्म, इसके गुणों का भी गुणाकार करने लगा । तीन वर्ष की उम्र में उसने प्रभु की पूजा बिना भोजन नहीं करने का अभिग्रह कर लिया ।

धर्मदत्त ने लेखन-पाठन आदि सभी 72 कलाएँ अत्यन्त ही सहजतया प्राप्त कर लीं । अहो ! पुण्य का प्रभाव अत्यन्त ही चमत्कारी है ।

`पुण्यानुबन्धी पुण्य से परभव में भी पुण्य की प्राप्ति सहज होती है'-इस बात को जानकर उसने सद्गुरु के पास में गृहस्थ धर्म स्वीकार कर लिया ।

`अविधि से की गई पूजा का पूर्णफल नहीं होता है'-अतःवह विधिपूर्वक त्रिकाल देवपूजा और गृहस्थ के योग्य समाचारी का पालन करने लगा ।

सतत अमध्यम (उत्कृष्ट) परिणाम वाला होते हुए भी धर्मदत्त ने क्रमशःमध्यम (यौवन) वय को प्राप्त किया । उस समय मोटे गन्ने की तरह वह सविशेष माधुर्य वाला हुआ ।

एक दिन किसी विदेशी व्यक्ति ने सुन्दर लक्षणों से युक्त इन्द्र के घोड़े जैसा एक घोड़ा धर्मदत्त हेतु राजा को भेंटस्वरूप दिया ।

`जगत् में यह घोड़ा भी मेरी तरह असाधारण है ।' इस प्रकार देखकर समान वस्तु का योग करने की इच्छा से पिता की आज्ञा से वह धर्मदत्त उस घोड़े पर चढ़ गया । अहो ! मोह कैसा विचित्र है ? चढ़ने के साथ ही वह घोड़ा, अपने अतिशय वेग को आकाश में दिखाता हुआ, मानों इन्द्र के अश्व को मिलने की उत्सुकता न हो, इस प्रकार पवन गति से आकाश में उड़ने लगा । क्षण भर में ही वह अदृश्य हो गया और हजारों योजन दूर भयंकर और लम्बे जंगल में धर्मदत्त को छोड़कर कहीं चला गया ।

सर्प के फूत्कार, बन्दरों की बूत्कार, सूअर के धुत्कार, चीतों के चीत्कार, चमरी गायों के भोंकार, रोझ के त्राट्कार और सियारों के फेत्कार से अत्यन्त भयंकर उस जंगल में भी प्रकृति से ही निर्भय वह धर्मदत्त लेश भी नहीं डरा ।

सत्पुरुष आपत्ति में अत्यन्त धैर्य रखते हैं और संपत्ति में कभी उछलते नहीं हैं ।

शून्य वन में भी अशून्य हृदय वाला वह धर्मदत्त जंगल में भी अपने भवन के उपवन (उद्यान) की भाँति रहा । मुक्तविहारी हाथी की तरह जंगल में भी वह एकदम स्वस्थ रहा ।

परन्तु जिनप्रतिमा की पूजा का योग न मिलने के कारण उसके दिल में दुःख था । उसने उस दिन पाप को नष्ट करने वाला निर्जल उपवास किया । शीतल जल और विविध फलों का योग होने पर भी भूख और प्यास को सहन करते हुए उसने तीन उपवास कर लिये । अहो ! अपने नियम के पालन में धर्मदत्त की कितनी दृढ़ता थी ।

लू लगने से अत्यन्त मुर्झायी हुई फूलमाला की भाँति उसका देह अत्यन्त म्लान होने पर भी उसका मन उतना ही प्रसन्न था । उसी समय एक देव प्रगट हुआ और बोला, ``अहो ! आपने दुःसाध्य ऐसे नियम को पाला है । अहो ! आपका कितना धैर्य ! अपने नियम की रक्षा के लिए आपने अपने जीवन की भी उपेक्षा कर दी । इन्द्र ने आपकी जो प्रशंसा की थी, वह योग्य ही है, परन्तु मैं उस प्रशंसा को सहन नहीं कर सका और इसी कारण आपको जंगल में लाकर आपकी प्रतिज्ञा की परीक्षा की है । हे बुद्धिनिधान ! आपकी दृढ़ता से मैं प्रसन्न हूँ, अतः जो कुछ मांगना हो वह एक वाक्य में विचार करके मांगो ।''

धर्मदत्त ने कहा- ``जब मैं तुम्हें याद करूँ और जो कार्य कहूँ, उसे करना ।''

``सचमुच, यह अद्भुत भाग्य का निधि है, क्योंकि इसने एक ही वाक्य से मुझे वश में कर लिया है ।'' इस प्रकार विचार कर उस देव ने धर्मदत्त के वचन को स्वीकार कर तुरन्त विदाई ली ।

``अब मुझे अपने राजभवन की प्राप्ति कैसे होगी ?'' इस प्रकार जब धर्मदत्त विचार करता है, उसी समय वह अपने आप को अपने राजभवन में पाता है ।

धर्मदत्त ने सोचा– ``अहो ! मैंने उस देवता को याद भी नहीं किया तो भी उसने अपनी शक्ति से यहाँ रख दिया । सचमुच, प्रसन्न हुए देवता के लिए यह कौनसी बड़ी बात है !''

अपने संगम से धर्मदत्त ने अपने माता-पिता और परिजनों को खुश किया । उस दिन भी उसने पारणे की उत्सुकता रखे बिना विधिपूर्वक जिनेश्वर भगवन्त की पूजा की । अहो ! धर्मनिष्ठ पुरुषों का आचरण कितना महान् होता है !

इधर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा में आये हुए चार राजाओं के बहुत से पुत्रों के बाद क्रमशः बहुमान्य पुत्री के रूप में वे चारों कन्याएँ पैदा हुईं ।

क्रमशःउनके नाम धर्मरति, धर्ममति, धर्मश्री और धर्मिणी थे । वे यथार्थ नाम वाली थीं । वे तरुण अवस्था को प्राप्त हुईं तब वे चार रूप धारण करने वाली लक्ष्मीदेवी की तरह सुशोभित हुईं ।

एक बार उन कन्याओं ने सुकृत के स्थानभूत जिनमन्दिर में प्रवेश किया और वहाँ पर जिनेश्वर भगवन्त की प्रतिमा को देखकर उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ । उसी समय उन्होंने प्रभु की पूजा के बिना भोजन न करने का नियम ले लिया और प्रतिदिन जिनभक्ति को करती हुई उन्होंने संकल्प कर लिया कि पूर्व भव में परिचित धन्यदेव के साथ ही इस जीवन में सम्बन्ध करेंगी । इस बात को जानकर पूर्व देश के राजा ने अपनी पुत्री धर्मरति के लिए श्रेष्ठ स्वयंवर की रचना की और उसने सभी राजाओं को बुलाया ।

स्वयंवर हेतु राजधर राजा को पुत्र सहित आमंत्रण दिया था, परन्तु धर्मदत्त वहाँ गया नहीं । उसने सोचा, ``जिस कार्य की सफलता में संदेह हो, वहाँ मेधावी पुरुष क्यों दौड़े ?''

इधर विचित्रगति नाम का विद्याधर राजा अपने पिता मुनि के उपदेश से व्रत का इच्छुक बना, उसके एक ही पुत्री थी । उसने प्रज्ञप्ति देवी को पूछा, ``मेरी पुत्री का पति कौन होगा ? और इस राज्य को कौन चलायेगा ?''

प्रज्ञप्ति देवी ने कहा, ``तुम अपनी पुत्री और राज्य धर्मदत्त को देना, वह हर तरह से योग्य है ।'' राजा खुश हो गया और धर्मदत्त को बुलाने के लिए वह राजपुर आया ।

वहाँ धर्मदत्त के मुख से धर्मरति कन्या के स्वयंवर के समाचार को जानकर, वह विचित्रगति धर्मदत्त को साथ में लेकर देव की भाँति अदृश्य होकर धर्मरति के स्वयंवर मंडप में कौतुक से गया ।

आश्चर्यकारी उस स्वयंवर मंडप में अभी तक कन्या ने किसी को भी स्वीकार नहीं किया था, इस कारण लूटे गये की तरह वे सब राजा निस्तेज दिखाई देने लगे ।

`अब क्या होगा ?'-इस प्रकार विचार कर सभी लोग आकुल-व्याकुल हो गये थे । उसी समय `जिस प्रकार प्रातःकाल अरुण-सूर्य को प्रगट करता है'-उसी प्रकार उस विचित्रगति विद्याधर ने धर्मदत्त को प्रगट किया ।

धर्मदत्त को देखते ही धर्मरति एकदम खुश हो गयी और जिस प्रकार रोहिणी वसुदेव को वरती है, उसी प्रकार उसने धर्मदत्त के गले में वरमाला डाल दी । सचमुच, पूर्वभव का प्रेम और द्वेष जीव को स्वयं उचित कृत्य के लिए प्रेरणा करता है ।

शेष तीन दिशाओं के राजा भी वहाँ आये हुए थे । विद्याधर के विमानों द्वारा उन्होंने अपनी पुत्रियों को वहाँ बुलवा लिया और खुश होकर उन्हें धर्मदत्त को प्रदान कर दीं । विद्याधर के द्वारा किये गये दिव्य उत्सव में धर्मदत्त ने उन चारों कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया । उसके बाद विचित्रगति, अन्य सब राजाओं के साथ धर्मदत्त को वैताढ्य पर्वत पर ले गया और वहाँ विविध महोत्सवपूर्वक धर्मदत्त के लिए अपनी पुत्री और राज्य प्रदान कर दिया । उसी समय विद्याधर के द्वारा दी गई एक हजार विद्याएँ धर्मदत्त को सिद्ध हो गईं ।

विचित्रगति आदि विद्याधरों के द्वारा दी गई पाँच सौ कन्याओं के साथ धर्मदत्त ने लग्न किया और उनके साथ अपने नगर में प्रवेश किया । वहाँ भी अन्य राजाओं की पाँच सौ कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ ।

उसके बाद राजधर राजा ने आश्चर्यकारी उत्सवों के द्वारा अपनी समस्त राज्य-सम्पत्ति वृद्धि के लिए अपने सद्गुणी पुत्र धर्मदत्त को सौंप दी और चित्रगति ने सद्गुरु के पास अपनी पटरानी के साथ दीक्षा स्वीकार कर ली ।

राज्य पर शासन करने के लिए पुत्र सुयोग्य होने पर कौन व्यक्ति अपना आत्म-कल्याण नहीं करेगा ? अर्थात् अवश्य करेगा ।

धर्मदत्त को पूछकर विचित्रगति ने भी दीक्षा स्वीकार कर ली और अनुक्रम से चित्रगति, विचित्रगति, राजधर और प्रीतिमती रानी ने मोक्ष प्राप्त किया ।

धर्मदत्त राजा ने लीला मात्र से ही हजारों राजाओं को जीत लिया और वह दस हजार रथ, दस हजार हाथी, एक लाख घोड़े और एक करोड़ पैदल-सैनिकों का अधिपति बन गया ।

अनेक प्रकार की विद्याओं का अभिमान रखने वाले हजारों विद्याधर भी धर्मदत्त के अधीन हो गये । इस प्रकार लम्बे समय तक उसने इन्द्र की तरह विशाल साम्राज्य का भोग किया ।

स्मृतिमात्र से ही सहायता करनेवाले पूर्व प्रसन्न देव की मदद से उसने अपनी भूमि (राज्य) को मारी आदि व्याधियों से रहित देवकुरु की तरह बना दिया ।

पूर्वभव में की गयी सहस्त्रदल कमल की पूजा से उसने इस प्रकार की समृद्धि प्राप्त की, फिर वह विधिपूर्वक त्रिकाल पूजा करने में अत्यन्त ही तत्पर (अग्रणी) था ।

`अपने उपकारी का पोषण अवश्य करना चाहिए'-इस नियम के अनुसार उसने नवीन चैत्य, प्रतिमा-निर्माण तथा महोत्सव आदि के द्वारा जिनभक्ति का अत्यधिक पोषण किया ।

'जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है' के नियम के अनुसार अठारह वर्ण के लोगों ने जैनधर्म को प्रायः स्वीकार किया । जैनधर्म से ही इसलोक और परलोक में अभ्युदय होता है ।

समय आने पर अपने पुत्र को राज्य सौंपकर धर्मदत्त ने अपनी रानी आदि के साथ दीक्षा स्वीकार की और एकाग्रतापूर्वक अरिहन्त की भक्ति से उसने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया और यहाँ दो लाख पूर्व के आयुष्य को भोगकर सहस्त्रार देवलोक में देव बना । जिनभक्ति के प्रभाव से चार रानियों (साध्वियों) ने गणधर नामकर्म उपार्जित किया और वे देवलोक में देव हुईं ।

देवलोक से च्यवकर धर्मदत्त की आत्मा महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर बनी और चार रानियों की आत्माएँ उनकी गणधर बनीं और वे एक साथ मोक्ष गये ।

अहो ! धर्मदत्त का उन चारों रानियों के साथ का योग कैसा आश्चर्यकारी है !

इस प्रकार जिनभक्ति से उत्पन्न वैभव को जानकर धर्मदत्त राजा की तरह जिनभक्ति तथा अन्य शुभकार्य में हमेशा तत्पर रहना चाहिए ।

29. जिनमन्दिर की उचित चिन्ता

जिनमन्दिर की उचित चिन्ता करनी चाहिए अर्थात् चैत्य की सफाई करनी चाहिए । जिन-मन्दिर के जीर्ण भागों की तथा पूजा के उपकरण आदि की मरम्मत करनी चाहिए । प्रतिमा तथा प्रभु के परिकर आदि को साफ रखना चाहिए । प्रभु की विशिष्ट पूजा तथा दीपमालाओं से शोभा आदि करनी चाहिए । जिनमन्दिर की आगे बतायी जाने वाली आशातनाओं से बचना चाहिए ।

मन्दिर सम्बन्धी अक्षत-नैवेद्य आदि की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए । चन्दन, केशर, धूप, दीप, तथा तेल आदि का संग्रह करना चाहिए; जिसका दृष्टान्त आगे कहेंगे-ऐसे देव-द्रव्य का रक्षण करना चाहिए । देवद्रव्य की रकम की उगाही करके तीन-चार श्रावकों को जताना चाहिए । जिनमन्दिर सम्बन्धी द्रव्य को सुयोग्य स्थान में जमा रखना चाहिए ।

जिनमन्दिर सम्बन्धी आय-व्यय का स्पष्ट हिसाब रखना चाहिए । स्वयं अर्पण करके व दूसरे के द्वारा द्रव्य अर्पण करवा के देवद्रव्य की आय में वृद्धि करनी चाहिए । यह कार्य योग्य पुरुषों को सौंपना चाहिए ।

जिनमन्दिर सम्बन्धी कार्य के लिए योग्य पुरुषों को रखना चाहिए और समय-समय पर उसकी जाँच करनी चाहिए । यह सब जिनमन्दिर सम्बन्धी उचित चिन्ता कहलाती है । इसमें निरन्तर यत्न करना चाहिए ।

जो समृद्ध श्रावक है वह अपने खर्च एवं अपने नौकर से काम लेकर देवद्रव्य की सार-संभाल रखे और स्वयं समृद्ध न हो तो स्वयं अपने शरीर से तथा अपने कुटुम्ब आदि से जिनमन्दिर सम्बन्धी कार्य करावे । जिसका जहाँ सामर्थ्य हो उसको वहाँ विशेष यत्न करना चाहिए ।

यदि मामूली कार्य हो तो दूसरी बार निसीहि कहने के पूर्व वह कार्य कर देना चाहिए और वह कार्य यदि अधिक हो तो मन्दिर में सेवाभक्ति करने के बाद भी अपनी सुविधा के अनुसार करना चाहिए ।

इसी प्रकार धर्मशाला तथा गुरु और ज्ञान आदि के विषय में भी अपनी शक्ति के अनुसार यत्न करना चाहिए ।

देव-गुरु आदि सम्बन्धी कार्यों की चिन्ता श्रावक को छोड़कर अन्य कौन करेगा ? अतः ब्राह्मणों की साधारण गाय की तरह उनके कार्यों में उपेक्षा अथवा अनादर नहीं करना चाहिए । देव-गुरु सम्बन्धी कार्यों में अनादर या उपेक्षा करने वाली आत्मा में सम्यक्त्व का भी सन्देह हो जाता है ।

जिनमन्दिर की आशातनाओं आदि को देखकर भी जिसका मन दुःखी न हो, उसको अरिहन्त पर भक्ति है, ऐसा कैसे कह सकते हैं, लोक में भी एक दृष्टान्त है । महादेव की मूर्ति की एक आँख किसी ने निकाल दी । इसे देखकर एक भील को अत्यन्त ही दुःख हुआ और उसने उसी समय अपनी आँख निकालकर दे दी ।

अतः स्वजन के कृत्य से भी अधिक सम्मान देकर जिनमन्दिर सम्बन्धी कार्य अत्यन्त ही आदरपूर्वक करना चाहिए । ग्रन्थकार ने कहा भी है–

``शरीर, द्रव्य और कुटुम्ब पर साधारणतया सभी प्राणियों को प्रीति होती है परन्तु मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को तो श्री जिनेश्वर, जिनशासन और चतुर्विध-संघ पर ही अत्यन्त प्रीति होती है ।''

30. विविध आशातनाएँ

सम्यग्ज्ञान, देव तथा गुरु की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की आशातनाएँ कही गई हैं -

ज्ञान की आशातना

(अ) जघन्य आशातना :- पुस्तक, पाटी, नोटबुक, जापमाला आदि को मुँह का थूक लगने से, अक्षरों का हीनाधिक उच्चारण करने से, ज्ञान के उपकरण पास में होते हुए, अधोवायु करने से ज्ञान की जघन्य आशातना होती है ।

(आ) मध्यम आशातना :- अकाल समय में पढ़ने से, उपधानतप बिना सूत्रों का अध्ययन करने से, भ्रान्ति से अशुद्ध अर्थ की कल्पना करने से, पुस्तक आदि को प्रमाद से पैर लगाने से, पुस्तक को भूमि पर गिराने से, ज्ञान के उपकरणों को पास में रखकर आहार तथा लघुनीति करने से ज्ञान की मध्यम आशातना होती है ।

(इ) उत्कृष्ट आशातना :- पट्टी पर लिखे हुए अक्षरों को थूक से मिटाने से, ज्ञान के उपकरण पर बैठने से, सोने से, ज्ञान के उपकरण साथ में रखकर बड़ी नीति करने से, ज्ञान तथा ज्ञानी की निन्दा करने से, विरोध करने से, उपघात करने से तथा उत्सूत्र भाषण करने से ज्ञान की उत्कृष्ट आशातना होती है ।

देव आशातना

(1) वासक्षेप आदि की डिब्बी प्रभु से टकराने से अथवा श्वास, वस्त्र का छेड़ा प्रभु को स्पर्श होने से **जघन्य आशातना** होती है ।

(2) बिना धोये हुए वस्त्र से प्रभु-पूजा करने से, प्रभु-प्रतिमा को भूमि पर गिराने से **मध्यम आशातना** होती है।

(3) प्रभु-प्रतिमा को पैर लगाना, प्रभु-प्रतिमा पर श्लेष्म, थूक का उड़ना, अपने हाथ आदि से प्रतिमा का टूटना, प्रतिमा की चोरी करना-कराना, अथवा प्रभु की, प्रभु-प्रतिमा की निन्दा करना आदि **उत्कृष्ट आशातना** है।

अन्य रीति से जिनमन्दिर की जघन्य से 10 मध्यम से 40 और उत्कृष्ट से 84 आशातनाएँ हैं, उनका त्याग करना चाहिए–

जिनमन्दिर की जघन्य दस आशातनाएँ

1) मन्दिर में पान खाना।
2) मन्दिर में पानी पीना।
3) मन्दिर में भोजन करना।
4) बूट-चप्पल पहिनकर मन्दिर में जाना।
5) मन्दिर में स्त्री का सम्भोग करना।
6) मन्दिर में सोना।
7) मन्दिर में थूकना।
8) मन्दिर में पेशाब करना।
9) मन्दिर में बड़ी नीति करना।
10) मन्दिर में जुआ खेलना।

मन्दिर सम्बन्धी मध्यम चालीस आशातनाएँ

1) मन्दिर में पेशाब करना।
2) मन्दिर में बड़ी नीति करना।
3) मन्दिर में बूट पहिनकर जाना।
4) मन्दिर में पानी पीना।
5) मन्दिर में भोजन करना।
6) मन्दिर में सोना।
7) मन्दिर में स्त्री-सम्भोग करना।
8) मन्दिर में तंबोल (पान-सुपारी) खाना।
9) मन्दिर में थूकना।
10) मन्दिर में जुआ खेलना।
11) मन्दिर में मस्तक में से जूं आदि को निकालना।
12) मन्दिर में विकथा करना।
13) मन्दिर में ● पलाठी लगाकर बैठना।
14) मन्दिर में अलग-अलग रीति से पैर लम्बे कर बैठना।
15) मन्दिर में परस्पर विवाद करना।
16) मन्दिर में मजाक करना।
17) मन्दिर में किसी से ईर्ष्या करना।
18) मन्दिर में सिहासन आदि ऊँचे आसन पर बैठना।
19) मन्दिर में केश की शोभा करना।
20) मन्दिर में शरीर की शोभा करना।

- **यहाँ पर मूल में 'पल्हत्थीकरणं' शब्द है। इसका अर्थ वीरासन होता है। वसिष्ठ द्वारा दी गई परिभाषा-एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरौ तु संस्थितम् इतरस्मिंस्तथैवोरुं वीरासनमुदाहृतम्। यानी एक पैर जंघा पर एवं दूसरे पैर पर जंघा रखने से वीरासन होता है।**

21) मन्दिर में छत्र धारण करना ।
22) मन्दिर में तलवार रखना ।
23) मन्दिर में मुकुट रखना ।
24) मन्दिर में चामर बींजवाना ।
25) मन्दिर में अपने देनदार को पकड़ना ।
26) मन्दिर में विकारपूर्वक स्त्रियों से हँसीमजाक करना ।
27) मन्दिर में किसी प्रकार की क्रीड़ा करना ।
28) मन्दिर में मुखकोश बाँधे बिना पूजा करना ।
29) मन्दिर में मलिन अंग या मलिन वस्त्र से पूजा करना ।
30) चपल चित्त से प्रभु की पूजा करना ।
31) सचित्त वस्तु सहित मन्दिर में प्रवेश करना ।
32) अचित्त आभूषण आदि उतार देना ।
33) अखण्ड वस्त्र का उत्तरासन किये बिना मन्दिर में जाना ।
34) प्रभु-प्रतिमा दिखने पर भी हाथ नहीं जोड़ना ।
35) शक्ति होने पर भी प्रभु की पूजा न करना ।
36) प्रभु को हल्के पुष्प आदि पदार्थ चढ़ाना ।
37) पूजा करने पर भी अनादर रखना ।
38) प्रभु की निन्दा करने वालों को न रोकना ।
39) शक्ति होने पर भी देव-द्रव्य की उपेक्षा करना ।
40) मन्दिर में जूते पहने रखकर चैत्यवन्दन करना ।

जिनमन्दिर सम्बन्धी उत्कृष्ट 84 आशातनाएँ

1) मन्दिर में बलगम डालना ।
2) मन्दिर में जुआ, शतरंज आदि खेलना ।
3) मन्दिर में झगड़ा करना ।
4) मन्दिर में धनुषकला आदि सीखना ।
5) मन्दिर में कुल्ला करना ।
6) मन्दिर में पान-सुपारी आदि खाना ।
7) मन्दिर में पान का कूचा डालना ।
8) मन्दिर में किसी को गाली देना ।
9) मन्दिर में लघुनीति-बड़ीनीति करना ।
10) मन्दिर में हाथ, पैर तथा मुँह आदि धोना ।
11) मन्दिर में बाल सँवारना ।
12) मन्दिर में नख काटना ।
13) मन्दिर में अपने घाव का रक्त गिराना ।
14) मन्दिर में मिठाई आदि खाना ।
15) मन्दिर में घाव आदि की चमड़ी डालना ।
16) मन्दिर में औषध आदि से पित्त गिराना ।
17) मन्दिर में वमन करना ।
18) मन्दिर में यदि अपना दाँत टूट जावे तो श्री मन्दिर जी में ही डाल देना ।
19) मन्दिर में ही विश्राम करना ।
20) मन्दिर में गाय, भैंस आदि के पाँव में दामन (रस्सी का बन्धन लगाना)
21) मन्दिर में दाँत का मैल डालना ।
22) मन्दिर में आँख का मैल डालना ।
23) मन्दिर में नाखून का मैल डालना ।
24) मन्दिर में गले का मैल डालना ।

25) मन्दिर में नाक का मैल डालना ।
26) मन्दिर में मस्तक का मैल डालना ।
27) मन्दिर में कान का मैल डालना ।
28) मन्दिर में चमड़ी का मैल डालना ।
29) मन्दिर में भूत आदि का निग्रह करना अथवा राज्य के कार्य का विचार-विमर्श करना ।
30) अपने विवाह आदि कार्य के निर्णय के लिए पंचों की बैठक करना ।
31) मन्दिर में घर या दुकान का हिसाब लिखना ।
32) मन्दिर में राजा आदि के कार्य का विभाजन करना अथवा स्वजन आदि को देने योग्य धन आदि का बँटवारा करना ।
33) अपने द्रव्य (धन) को मन्दिर में रखना ।
34) दुष्ट आसन से मन्दिरजी में बैठना ।
35) मन्दिर में गोबर के छाने सुखाना ।
36) मन्दिर में अपने वस्त्र सुखाना ।
37) मन्दिर में अपनी दाल सुखाना ।
38) मन्दिर में अपने पापड़ सुखाना ।
39) मन्दिर में अपनी बड़ी सुखाना, (यहाँ पर उपलक्षण से करीर, चिभटी आदि के साग भी समझना चाहिए ।)
40) राजा, लेनदार आदि के भय से श्री मन्दिर के गंभारे आदि में छिप जाना ।
41) पुत्र-पत्नी आदि के वियोग को जानकर मन्दिरजी में रोनापीटना करना ।
42) मन्दिर में स्त्री, भोजन, राजा तथा देश सम्बन्धी विकथा (बातचीत) करना ।
43) मन्दिर में बाण बनाना, इक्षु छीलना अथवा बाण एवं धनुष आदि अस्त्र बनाना ।
44) मन्दिर में गाय, बैल आदि रखना ।
45) ठण्ड लगने पर मन्दिरजी में अग्नि का सेवन करना ।
46) मन्दिर में धान्य आदि पकाना ।
47) मन्दिर में सोना, मोहर आदि की परीक्षा करना ।
48) मन्दिर में विधिपूर्वक निसीहि न कहना ।
49) मन्दिर में छत्र धारण करना । (छत्र को बाहर रखना चाहिए)
50) मन्दिर में जूते पहनकर जाना ।
51) मन्दिर में शस्त्र आदि ले जाना ।
52) अपने बींजने के चामर को मन्दिर के बाहर न रखना ।
53) मन्दिर में मन को एकाग्र न करना ।
54) मन्दिर में तैल से मालिश करना-कराना ।
55) अपने उपयोगी सचित्त फूल आदि मन्दिर के बाहर न छोड़ना ।
56) मन्दिर में प्रवेश करते समय अचित्त सोने आदि के हार-अंगूठी आदि को मन्दिर के बाहर छोड़ना । इस प्रकार करने से लोक में निन्दा होती है कि यह कैसा धर्म है-अच्छे आभूषणों को छोड़कर मन्दिर में जाते हैं ?

57) प्रभु-प्रतिमा को देखकर भी हाथ नहीं जोड़ना ।

58) उत्तरासंग किये बिना मन्दिर में जाना ।

59) मन्दिर में मस्तक पर मुकुट धारण करना ।

60) मस्तक की पगड़ी पर विशेष शोभा हेतु पेच लगाना ।

61) मस्तक की पगड़ी पर फूल आदि की कलंगी लगाना ।

62) कबूतर, नारियल आदि सम्बन्धी होड़ लगाना ।

63) मन्दिर में गेंद या गिल्ली-डंडा खेलना ।

64) मन्दिर में सांसारिक सगे-सम्बन्धी को जुहार करना ।

65) मन्दिर में काँख को बजाने आदि भांड की विविध चेष्टाएँ करना ।

66) मन्दिर में किसी को तिरस्कारपूर्ण भाषा बोलना ।

67) मन्दिर में किसी देनदार को पकड़ना ।

68) मन्दिर में युद्ध करना ।

69) मन्दिर में बालों की गुत्थियों को सुलझाना ।

70) मन्दिर में पलाठी लगाकर बैठना ।

71) मन्दिर में पैरों के रक्षण हेतु लकड़ी की पादुका पहनना ।

72) मन्दिर में पैर लम्बे कर बैठना ।

73) मन्दिर में सीटी बजाना ।

74) मन्दिर में अपने पैर आदि धोकर कीचड़ करना ।

75) मन्दिर में धूल वाले पर को झाड़ना ।

76) मन्दिर में मैथुन-सेवन करना ।

77) मन्दिर में मस्तक पर से जूं आदि निकालकर फेंकना या देखना ।

78) मन्दिर में भोजन करना ।

79) शरीर के गुह्य भाग को खुला करना अथवा दृष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध आदि करना ।

80) मन्दिर में वैद्य-चिकित्सा करना ।

81) मन्दिर में क्रय-विक्रय करना ।

82) मन्दिर में शयन करना ।

83) मन्दिर में पानी पीना, दूसरों के पीने हेतु वहाँ पानी रखना, अथवा वर्षाकाल में मन्दिर से गिरते पानी को अपने लिए ग्रहण करना ।

84) मन्दिर में स्नानगृह बनाना ।

ये उत्कृष्ट चौरासी आशातनाएँ हैं ।

बृहद्भाष्य में तो पाँच ही आशातनाएँ कही गई हैं-

(1) मन्दिर में अवज्ञा करना । (2) पूजादि में अनादर करना । (3) भोग करना ।

(4) दुष्ट प्रणिधान करना । (5) अनुचित प्रवृत्ति करना ।

1) **अवज्ञा आशातना :-** मन्दिर में पलाठी लगाकर बैठना, प्रभु को पीठ करना, सीटी बजाना, पैर फैलाना, प्रभु के सामने दुष्ट आसन से बैठना ।

(2) **अनादर आशातना :-** जैसे-तैसे वेष से प्रभु-पूजा करना । शक्ति होने पर भी तुच्छ सामग्री से बेवक्त पूजा करना । शून्य चित्त से पूजा करना ।

(3) **भोग आशातना :-** मन्दिर में पान-सुपारी खाना आदि । मन्दिर में ताम्बूल खाने से ज्ञानादि के आय का नाश होता है ।

(4) **दुष्ट प्रणिधान :-** राग, द्वेष तथा मोह से दूषित मनोवृत्ति के साथ प्रभु-पूजा करना ।

(5) **अनुचित प्रवृत्ति :-** देनदार को पकड़ना, संग्राम करना, रुदन करना, विकथा करना, जानवर बाँधना, भोजन पकाना आदि गृह कार्य करना, गाली देना, वैद्य-चिकित्सा करना, व्यापार करना आदि ।

इन आशातनाओं का अवश्य त्याग करना चाहिए, क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि देवता भी मन्दिर में इन आशातनाओं का त्याग करते हैं ।

कहा भी है:- ``विषय विष से मोहित देवता भी आशातना के भय से अप्सराओं के साथ हास्य-क्रीड़ा आदि नहीं करते हैं ।''

गुरु की तैंतीस आशातनाएँ

1) गुरु के आगे चलने से आशातना होती है । मार्ग बतलाने आदि आवश्यक कार्य के बिना गुरु के आगे चलने से अविनय दोष होता है ।
2) गुरु के एकदम पास-साथ में चलना ।
3) गुरु के बिल्कुल पीछे चलना । बिल्कुल पीछे चलने पर कभी खांसी-छींक आने पर अपना थूक-श्लेष्म आदि गुरु पर गिरने से आशातना होती है ।
4) गुरु के आगे बैठना ।
5) गुरु के एकदम पास में बैठना ।
6) गुरु के एकदम पीछे बैठना ।
7) गुरु के आगे खड़ा रहना ।
8) गुरु के एकदम पास में खड़ा रहना ।
9) गुरु के एकदम पीछे खड़ा रहना ।
10) आहार-पानी, आदि करते समय गुरु के पहले आचमन करना ।
11) गुरु के पहले गमनागमन की आलोचना करना ।
12) रात्रि में `कोई जागता है ?' इस प्रकार पूछने पर स्वयं जागते हुए भी जवाब नहीं देना ।
13) गुरु के कहने से पहले बोल देना ।
14) आहार-पानी की आलोचना दूसरे साधुओं के पास करके फिर गुरु के पास करना ।
15) आहार-पानी सर्वप्रथम अन्य साधुओं को बताकर फिर गुरु को बताना ।
16) अन्य साधुओं को निमन्त्रण देने के बाद फिर गुरु को आहार-पानी हेतु निमन्त्रण देना ।
17) गुरु को पूछे बिना स्निग्ध व मधुर आहार दूसरे साधुओं को देना ।
18) गुरु को सादा भोजन देने के बाद स्वयं स्निग्ध आदि आहार भरपेट ग्रहण करना ।

19) गुरु के वचनों को सुना-अनसुना कर जवाब न देना ।

20) गुरु को कर्कश व ऊँचे स्वर से जवाब देना ।

21) गुरु के बुलाने पर भी अपने आसन पर बैठे-बैठे ही जवाब देना ।

22) गुरु के बुलाने पर `क्या कहते हो ?'-इस प्रकार अनादरपूर्वक बोलना ।

23) **'आप'** या **'पूज्य'** ऐसे बहुमान वाचक शब्द न कहते हुए **'तू'** या **'तुम'** ऐसे ओछे शब्द कहना ।

24) गुरु के कुछ कहने पर पुनःगुरु को ही सामने कहना । जैसे गुरु ने कहा-`ग्लान आदि की वैयावच्च क्यों नहीं करते हो ?''-तो सामने से जवाब देना- ``आप ही क्यों नहीं करते हो ?''

25) गुरु के प्रवचन को सुनकर खुश न होकर नाराज होना ।

26) गुरु सूत्र का अर्थ कहते हों तब `आपको यह अर्थ याद नहीं है ? यह अर्थ यों नहीं है ।' इस प्रकार बीच में बोलना ।

27) गुरु कथा (व्याख्यान) कह रहे हों तब बीच में ही उन्हें रोककर स्वयं कथा करने लग जाना ।

28) गुरु की पर्षदा को तोड़ देना जैसे- ``अब गोचरी का समय हुआ है'' -कहकर श्रोताओं को उठा देना ।

29) गुरु के उपदेश के बाद अपनी होशियारी बताने के लिए विस्तार से उपदेश देना ।

30) गुरु के बैठने या सोने के तख्ते और संथारा आदि को पैर लगाना ।

31) गुरु के आसन या संथारा पर बैठना या सोना ।

32) गुरु से ऊँचे आसन पर बैठना ।

33) गुरु के समान आसन पर बैठना ।

आवश्यक चूर्णि आदि में-गुरु के वचन को सुनकर बीच में ``हाँ ! ऐसा है''- इस प्रकार बोलने को अलग आशातना मानी है और गुरु से ऊँचे और समान आसन को एक ही आशातना में समावेश कर गुरु की तैंतीस आशातनाएँ बतलाई हैं ।

गुरु की जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट आशातना

1) गुरु का पैर आदि से संघट्टन होना जघन्य आशातना है ।

2) अपने श्लेष्म, बलगम व थूक के छींटे लगने से मध्यम आशातना है ।

3) गुरु की आज्ञा नहीं मानना, गुरु की आज्ञा से विपरीत करना, गुरु के वचनों को सुनना ही नहीं और गुरु को कटु वचन आदि कहना, यह गुरु की उत्कृष्ट आशातना है ।

स्थापनाचार्य की जघन्य आदि आशातनाएँ

1) स्थापनाचार्य को इधर-उधर ले जाना, अपने पैर आदि का स्पर्श होना जघन्य आशातना है ।

2) स्थापनाचार्य को भूमि पर गिराना, अवज्ञा से रखना मध्यम आशातना है ।

3) स्थापनाचार्य खो देना तथा अपने हाथों से टूटना उत्कृष्ट आशातना है ।

इसी प्रकार ज्ञान के उपकरण की तरह रजोहरण, मुँहपत्ति, दंडक, दंडिका आदि दर्शन और चारित्र के उपकरणों की आशातना का भी त्याग करना चाहिए ।

'अहवा नाणाइतिअं' इस वचन के अनुसार ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण की भी गुरु रूप में स्थापना कर सकते हैं इसलिए ज्ञानादि के उपकरण भी यथावश्यक ही रखना, ज्यादा न रखना, जहाँ-तहाँ न रखना क्योंकि जहाँ-तहाँ रखने से आशातना होती है और फिर आलोचना लेनी पड़ती है ।

महानिशीथ सूत्र में कहा है- ``अविधि से चोलपट्टा, कपड़ा, रजोहरण तथा दण्ड का उपयोग करे तो उपवास की आलोचना आती है'' अतः श्रावक को चरवला, मुँहपत्ति आदि का उपयोग विधिपूर्वक ही करना चाहिए और उपयोग करने के बाद उन्हें योग्य स्थान पर ही रखना चाहिए । यदि अविधि से उपयोग करे और जहाँ-तहाँ रखे तो धर्म की अवज्ञा का दोष लगता है ।

अनन्त संसार के कारण

इन आशातनाओं में उत्सूत्र बोलना, अरिहन्त और गुरु की अवगणना/आशातना करना सबसे भयंकर आशातना है, जो अनन्त संसार की हेतु है । उत्सूत्र प्ररूपणा से सावद्याचार्य, मरीचि, जमालि, कुलवालक आदि अनेक जीवों ने अपने संसार को बढ़ाया है । कहा भी है–

उस्सुत्तभासगाणं, बोहिनासो अणंतसंसारो ।
पाणच्चए वि धीरा, उस्सुत्तं ता न भासंति ।।1।।

तित्थयरपवयणसुअं, आयरिअं गणहरं महिड्ढीअं ।
आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ ।।2।।

''उत्सूत्र बोलने वाले के बोधि-बीज का नाश होता है और अनन्त संसार की वृद्धि होती है । इसी कारण प्राणान्त आपत्ति में भी धीर पुरुष उत्सूत्र भाषण नहीं करते हैं ।''

''तीर्थंकर-प्रवचन, श्रुत, गणधर तथा महर्द्धिक की आशातना करने से प्राणी प्रायःअनन्त संसारी होता है ।''

इसी प्रकार देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य, साधारणद्रव्य तथा गुरुद्रव्य-वस्त्र-पात्र आदि का विनाश करने तथा उनकी उपेक्षा करने से भी भयंकर आशातना होती है । कहा भी है–

``देवद्रव्य का विनाश, ऋषि-हत्या, प्रवचन की हीलना एवं साध्वी के चौथे व्रत का भंग करना-बोधिलाभ के मूल में आग लगाने के समान हैं । ''

यहाँ देवद्रव्य के विनाश से तात्पर्य देवद्रव्य का भक्षण एवं उसकी अवगणना से है ।

श्रावक दिनकृत्य और दर्शनशुद्धि आदि में कहा है ``जो मोहितमति वाला देवद्रव्य और साधारण द्रव्य को नुकसान पहुँचाता है, वह या तो धर्म को समझता ही नहीं है अथवा नरक गति के आयुष्य का बन्ध कर चुका है ।'' **देवद्रव्य** तो प्रसिद्ध ही है । जिनमन्दिर, पुस्तक तथा आपत्तिग्रस्त श्रावकों के उद्धार (सहयोग) के लिए समृद्धिमान श्रावकों ने जो धन इकट्ठा किया हो वह साधारण द्रव्य है । उसका विनाश

करना अथवा ब्याज-व्यापार आदि के द्वारा उसका उपभोग करना ही साधारण द्रव्य का नाश कहलाता है । **कहा भी है**– ``देवद्रव्य और दो भेद वाले मन्दिर सम्बन्धी लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि के विनाश को देखकर साधु भी यदि उपेक्षा करें तो वे भी अनन्त संसारी होते हैं । ''

मन्दिर-सम्बन्धी लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि देवद्रव्य के दो भेद हैं- (1) योग्य (2) अतीत भाव ।

मन्दिर हेतु लायी हुई नवीन सामग्री **'योग्य'** कहलाती है और मन्दिर में उपयोग लिये हुए पत्थर आदि पड़े हुए हों तो वह सामग्री **'अतीत भाव'** कहलाती है ।

अथवा मूल और उत्तर इस प्रकार से दो भेद हैं । स्तम्भ, कुंभिका आदि मूल कहलाते हैं और छत आदि उत्तर कहलाते हैं ।

अथवा स्वपक्ष और परपक्ष ये दो भेद हैं ।

श्रावक आदि कृत विनाश स्वपक्ष और अन्य मिथ्यात्वी आदि कृत परपक्ष कहलाता है ।

इस प्रकार अनेक रीति से दो भेद हो सकते हैं ।

मूल गाथा में **'अपि'** शब्द का अध्याहार होने से श्रावक तो क्या सब सावद्य से निवृत्त साधु भी यदि देवद्रव्य के विनाश की उपेक्षा करे तो तीर्थंकर आदि ने उसे अनन्त संसारी बताया है ।

प्रश्न :- मन, वचन और काया से सर्व सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करने वाले साधु को देवद्रव्य की रक्षा का क्या अधिकार है ?

उत्तर :- यदि साधु किसी राजा, मन्त्री आदि से याचना कर घर, हाट, गाँव आदि लेकर देवद्रव्य उत्पन्न करे तब तो तुम्हारे कथनानुसार उसे दोष लगता है । परन्तु किसी भद्रिक जीव द्वारा धर्म आदि के लिए पहले से प्रदत्त द्रव्य अथवा कोई दूसरा देवद्रव्य नष्ट हो रहा है और साधु उसका रक्षण करता है तो इसमें कोई हानि नहीं है, बल्कि सम्यग् प्रकार से जिनाज्ञा की आराधना होने से चारित्र की पुष्टि ही है ।

नया मन्दिर बनवाने का साधु का आचार नहीं है फिर भी बने हुए मन्दिर के शत्रुओं का निग्रह करके भी रक्षण करने में किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं है और न ही प्रतिज्ञा-भंग है । आगम में भी यह बात कही है–

``मन्दिर के लिए क्षेत्र, सुवर्ण, चांदी, गाय, बैल, आदि की वृद्धि करने वाले साधु को त्रिकरण योग की शुद्धि कैसे रह सकती है ?''

इस **प्रश्न** का **समाधान** करते हुए कहते हैं- ``मन्दिर-निर्माण तथा देवद्रव्य की वृद्धि के लिए साधु स्वयं याचना करे तो उसे चारित्र में दोष लगता है, परन्तु उस देवद्रव्य की कोई चोरी करता हो और वह उसकी उपेक्षा करे तो वहाँ साधु को चारित्र की विशुद्धि नहीं हो सकती । शक्ति होने पर भी जो न रोके तो त्रिकरण की शुद्धि नहीं होती है और वह अमक्ति कहलाती है, अतः साधु को भी देवद्रव्य का विनाश अवश्य रोकना चाहिए ।'' देवद्रव्य के रक्षण के लिए साधु और संघ दोनों को अपनी ताकत लगानी चाहिए-परन्तु देवद्रव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

जो नासमझ श्रावक देवद्रव्य का भक्षण करता है या उसकी उपेक्षा करता है वह पापकर्म से लिप्त बनता है । नासममु वह है जो बिना सोचे-समझे ही कार्य कर देता है । किसी को बिना सोचे-समझे देवद्रव्य उधार दे और वह डूब जावे अथवा नासमझी के कारण देवद्रव्य से मन्दिर के लिए वस्तु खरीदने में या नौकरों को वेतन आदि में जरूरत से ज्यादा खर्च करे या कम खर्च करके ज्यादा नामे मांडे ।

``जो श्रावक देवद्रव्य की आय को तोड़ता है, देवद्रव्य में देने का तय कर पीछे से नहीं देता है, देवद्रव्य के नाश की उपेक्षा करता है तो वह भी संसार में परिभ्रमण करता है । ''

आयाणं जो भंजइ, पडिवन्नधणं न देइ देवस्स ।
नस्संतं समुविक्खइ, सोऽवि हु परिभमइ संसारे ।।1।।
जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ।।2।।
जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
रक्खंतो जिणदव्वंम, परित्तसंसारिओ होइ ।।3।।
जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
वुड्ढंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।।4।।

``जिनप्रवचन एवं ज्ञान-दर्शन और चारित्र आदि गुणों की वृद्धि कराने वाला जो देव-द्रव्य है, उसका जो प्राणी भक्षण करता है, वह अनन्त संसारी होता है ।''

देवद्रव्य हो तो उसमें से मन्दिर की मरम्मत, महापूजा, सत्कार आदि सम्भव है । वहाँ दर्शन हेतु मुनि भी पधारते हैं । उनसे व्याख्यान-श्रवण आदि का योग मिलने से जिनप्रवचन की भी वृद्धि होती है, इस प्रकार ज्ञानादि गुणों की प्रभावना होती है ।

``जिनप्रवचन की वृद्धि और ज्ञान-दर्शन आदि गुणों को प्रकाशित करने वाले देवद्रव्य का जो रक्षण करता है, वह अल्प संसारी होता है । ''

``जिनप्रवचन की वृद्धि और ज्ञानादि गुणों को प्रकाशित करने वाले देवद्रव्य की जो वृद्धि करता है, वह यावत् तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है । देवद्रव्य की वृद्धि अर्थात् पहले के देवद्रव्य का रक्षण करना और नवीन प्राप्त करना ।''

श्राद्धदिनकृत्य प्रकरण में **'तित्थयर'** पद की वृत्ति में लिखा है कि देवद्रव्य की वृद्धि करनेवाले के दिल में अरिहन्त पर अत्यन्त ही भक्ति होती है, जिससे वह तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करता है ।

31. देवद्रव्य की वृद्धि

पन्द्रह प्रकार के कर्मादान में देवद्रव्य की रकम न रोकें तथा सही व्यापार आदि से विधिपूर्वक देवद्रव्य की वृद्धि करें ।

कहा है-``जिनेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध देवद्रव्य की वृद्धि करने वाले भी मोह से मूढ़ अज्ञानी जीव भवसागर में डूबते हैं ।''

सम्यक्त्व पच्चीसी की टीका मे संकाश सेठ की कथा में सोने के आभूषण आदि लेकर ब्याज से देवद्रव्य की रकम देकर देवद्रव्य की वृद्धि करने की बात आती है । इसलिए कुछ आचार्यों का मत है कि जैनेतर को अधिक मूल्य की वस्तु गिरवी रखकर वह देवद्रव्य की रकम ब्याज से देनी चाहिए । इस प्रकार ब्याज से भी देवद्रव्य की वृद्धि करना उचित ही है ।

देवद्रव्य-भक्षण से हानि-सागर श्रेष्ठी

साकेतपुर नगर में परमात्मभक्त सागर श्रेष्ठी नाम का श्रावक रहता था । वहाँ अन्य श्रावकों ने सागर श्रेष्ठी को सुश्रावक जानकर देवद्रव्य की व्यवस्था सौंपी और उसे कहा गया कि मन्दिर में काम करने वाले सुथार आदि को उनकी मजदूरी इसमें से देते रहना ।

लोभ के वशीभूत उस सागर श्रेष्ठी ने उस देवद्रव्य में से धान्य, गुड़, घी, तेल, कपड़ा आदि खरीद लिया और सुथार आदि को रोकड़ रुपये न देकर उनके काम के बदले में सस्ते भाव से धान्य, गुड़, घी आदि देने लगा । इसमें जो फायदा होता उसे वह स्वयं रखने लगा । इस प्रकार उसने रुपये के अस्सीवें भाग रूप एक हजार काकिणी का फायदा उठाया । इस प्रकार की प्रवृत्ति से उसने महाघोर पापकर्म का बन्ध किया । उस पाप की आलोचना नहीं करने के कारण वह मरकर समुद्र में जलमानव बना ।

वहाँ जात्यरत्न के ग्राहकों के द्वारा समुद्र में जलचर जीवों के उपद्रव को दूर करने वाले अंडगोलिक को ग्रहण करने के लिए वह वज्र की घट्टी में पेला गया । इस महाव्यथा से मरकर वह तीसरी नरक भूमि में गया ।

वेदान्त में भी कहा है- ``देवद्रव्य तथा गुरुद्रव्य से होने वाली धन की वृद्धि अच्छी नहीं है, क्योंकि उससे इसलोक में कुलनाश और परलोक में नरकगति की प्राप्ति होती है ।''

नरक में से निकलकर वह पाँच सौ धनुष लम्बा महामत्स्य हुआ । किसी म्लेच्छ ने उसे पकड़ा और उसके सभी अंग छेद दिये । अत्यन्त कदर्थनापूर्वक मरकर वह चौथी नरकभूमि में उत्पन्न हुआ ।

इस प्रकार एक-दो भवों के अन्तर से वह सातों नरकों में दो-दो बार उत्पन्न हुआ ।

उसने एक हजार काकिणी प्रमाण देवद्रव्य का उपभोग किया था । इसलिए उसने सान्तर अथवा निरन्तर कुत्ता, सुअर, भैंस, बकरा, भेड़, हिरण, खरगोश, शंबरमृग, गीदड़, बिल्ला, चूहा, नेवला, गृहकोल, छिपकली, सर्प, बिच्छू, विष्टा का कृमि, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वाउकाय, वनस्पतिकाय, शंख, छीप, जोंक, चींटी, कीड़ा, पतंगा, मक्खी, भ्रमर, मछली, कछुआ, गधा, भैंसा, बैल, ऊँट, खच्चर, घोड़ा, हाथी, आदि योनियों में एक-एक हजार बार उत्पन्न होकर लाखों भवों तक संसार में भ्रमण किया । प्रायःसभी भवों में शस्त्रघात आदि महाव्यथा को प्राप्त कर मरण प्राप्त किया ।

उसके बाद बहुत-सा पाप क्षीण हो जाने पर वसन्तपुर नगर में करोड़पति वसुदत्त सेठ की पत्नी वसुमती की कुक्षि में पुत्र के रूप में पैदा हुआ । उसके गर्भ में आने के साथ ही वसुदत्त सेठ का सभी द्रव्य नष्ट हो गया । पुत्र के रूप में उत्पन्न होने के साथ ही वसुदत्त सेठ की मृत्यु हो गयी । उसकी पाँच वर्ष की आयु में वसुमती की भी मृत्यु हो गयी । इस कारण लोगों ने उसका `निष्पुण्यक' नाम रखा और वह

रंक की तरह अत्यन्त कठिनाई से धीरे-धीरे बड़ा होने लगा ।

एक दिन उसका मामा स्नेह से उसे अपने घर ले गया परन्तु दुर्भाग्य से उसी रात्रि में चोरों ने उसके घर को लूट लिया । इस प्रकार वह जिस किसी के घर एक दिन भी रहता था उसके घर में चोरी, लूटपाट तथा अग्नि आदि के उपद्रव हो जाते थे ।

इस प्रकार उसके आगमन के साथ ही उपद्रव होने के कारण लोग उसे `यह तो कबूतर का बच्चा है ? जलती भेड़ों की पंक्ति है ? या मूर्तिमान उपद्रव है'- इत्यादि कहकर उसकी तीव्र निन्दा करने लगे । अपनी निन्दा से परेशान होकर वह अपने देश को छोड़कर अन्यत्र चला गया ।

वह निष्पुण्यक क्रमशःताम्रलिप्ति नगरी में पहुँचा । वहाँ पर विनयन्धर श्रेष्ठी के घर नौकरी के लिए रहा परन्तु उसी दिन उसका घर जल गया ।

सेठ ने उसे पागल कुत्ते की तरह अपने घर से बाहर निकाल दिया । किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना हुआ वह अपने दुष्कर्म की निन्दा करने लगा ।

``सभी जीव स्वाधीन होकर कर्म बाँधते हैं परन्तु उन कर्मों के उदय में पराधीन बन जाते हैं । व्यक्ति अपनी इच्छानुसार वृक्ष पर चढ़ता है, परन्तु पतन के समय वह पराधीन हो नीचे गिर पड़ता है ।''

`शायद अन्य स्थान में मेरा भाग्य उघड़ जाय'- इस प्रकार विचार कर वह समुद्र तट पर चला गया ।

उसी दिन धनावह सेठ की नौकरी स्वीकार कर वाहन में चढ़ा और क्रमशः क्षेमकुशल अन्य द्वीप पर पहुँच गया ।

उसने सोचा- ``मेरा भाग्य उघड़ गया है क्योंकि वाहन में चढ़ने के बाद भी वाहन टूटा नहीं अथवा दुर्भाग्य अपने कर्त्तव्य को भूल गया होगा । भगवान करे उसे लौटते समय भी याद न आये तो अच्छा ।''

निष्पुण्यक इस प्रकार सोच ही रहा था कि उसके दुर्भाग्य के अनुसार लौटते समय प्रचण्ड पवन से उसके वाहन के सैकड़ों टुकड़े हो गये । भाग्योदय से निष्पुण्यक को फलक हाथ लग गया और वह किसी भी प्रकार से समुद्र तट पर आ पहुँचा । वह गाँव के ठाकुर के वहाँ रहा । एक दिन चोरों ने उस ठाकुर को लूट लिया ।

ठाकुर का पुत्र समझकर चोर निष्पुण्यक को बाँधकर अपनी पल्ली में ले आये । उसी दिन दूसरे पल्लीपति ने उस पल्ली को नष्ट कर दिया । भाग्यहीन समझकर उस पल्लीवालों ने उसे बाहर निकाल दिया । **कहा भी है**–

`` सूर्य की किरणों के ताप से पीड़ित होकर गंजे सिर वाला (केशरहित पुरुष) मनुष्य बिल्ववृक्ष की छाया में गया, परन्तु वहाँ पहुँचने के साथ ही आवाज करता हुआ बिल्व का फल उसके मस्तक पर गिरा । सचमुच, अभागा व्यक्ति जहाँ भी जाता है, उसको आपत्ति आ ही जाती है ।''

इस प्रकार 999 बार तस्कर, जल, अग्नि, स्वचक्र, परचक्र, मरकी आदि अनेक उपद्रवों के होने से निष्कासित निष्पुण्यक भयंकर दुःख को सहन करता हुआ एक महा अटवी में पहुँचा । वहाँ आकर

उसने एकाग्रतापूर्वक सेलक यक्ष की आराधना की । अपने दु:ख के निवेदनपूर्वक उसने इक्कीस उपवास किये । यक्ष प्रसन्न हुआ और बोला, ``संध्या के समय मेरे सामने एक हजार स्वर्ण चन्द्रक वाला मोर नृत्य करेगा अत: तुम प्रतिदिन उसके गिरे हुए स्वर्ण-पिच्छों को ग्रहण कर सकोगे ।''

खुश हुए निष्पुण्यक ने सायंकाल में गिरे हुए कुछ स्वर्ण-पिच्छों को ग्रहण किया । इस प्रकार प्रतिदिन गिरने से उसने नव सौ पिच्छ इकट्ठे किये । एक सौ पिच्छ ही बकाया थे कि वह दुर्भाग्य से प्रेरित होकर सोचने लगा-

``इसे ग्रहण करने के लिए मुझे कितने दिनों तक जंगल में रहना पड़ेगा, इसके बजाय तो एक ही मुट्ठी के प्रहार से सभी पिच्छों को ग्रहण कर लूँ ।''

इस प्रकार उस दिन नाचते हुए मोर को मुट्ठी के प्रहार से ग्रहण करने के लिए जैसे ही वह तैयार हुआ, उसी समय वह मोर कौआ बनकर उड़कर चला गया और पहले ग्रहण किये हुए पिच्छ भी नष्ट हो गये ।

कहा भी है– ``देव की मर्यादा का उल्लंघन करके जो भी कार्य किया जाता है, वह फलदायी नहीं होता । जैसे कि- जलपान के लिए चातक द्वारा ग्रहण किया हुआ सरोवर का जल गले में रहते हुए छिद्र में से बाहर निकल जाता है ।''

``मुझे धिक्कार हो, मैंने व्यर्थ ही उत्सुकता रखी''- इस प्रकार खिन्न बना हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा । अचानक उसे एक ज्ञानी मुनि दिखाई दिये । मुनि को नमस्कार कर उसने अपने कर्मों के बारे में पूछा ।

ज्ञानी मुनि ने भी उसके पूर्व भव के स्वरूप को बतलाया । इसे सुनकर उसने देवद्रव्य से की गयी आजीविका के पाप का प्रायश्चित्त मांगा ।

मुनि ने कहा -``तुमने जितने देवद्रव्य का स्वकार्य में उपभोग किया, उससे अधिक प्रदान करने से और देवद्रव्य की रक्षा व वृद्धि से तुम्हारे दुष्कर्म का नाश होगा । इसके फलस्वरूप तुम्हें सभी प्रकार की भोग-ऋद्धि और सुख-लाभ भी होगा ।''

ज्ञानी गुरु के वचन सुनकर निष्पुण्य ने अभिग्रह किया कि जब तक पूर्वभव में उपभोग किये देवद्रव्य की हजार गुणी रकम मैं देवद्रव्य में जमा नहीं करूंगा, तब तक अपने आहार-वस्त्र के निर्वाह के सिवाय अन्य कुछ भी धन का संग्रह नहीं करूंगा- इस अभिग्रह के साथ उसने श्रावकधर्म भी स्वीकार किया ।

इसके बाद वह जो कुछ भी व्यवसाय करने लगा, उसमें अधिक-अधिक कमाने लगा और देवद्रव्य की रकम की भरपाई करने लगा ।

पूर्वभव में उसने देवद्रव्य की एक हजार काकिणी का उपयोग किया था, इस भव में उसने थोड़े ही दिनों में दस लाख काकिणी देवद्रव्य में प्रदान की ।

देवद्रव्य के ऋण से मुक्त बनकर बहुत से द्रव्य का उपार्जन कर वह अपने नगर में आया और सभी श्रेष्ठियों में मुख्य बनने से वह राजा को भी मान्य हुआ ।

उसके बाद अपनी सर्वशक्ति से स्वकृत तथा अन्यकृत जिनमन्दिरों की सभी प्रकार से देखभाल करने लगा ।

प्रतिदिन महापूजा, प्रभावना एवं यथाशक्ति देवद्रव्य के रक्षण-वृद्धि आदि उपायों द्वारा उत्पन्न पुण्य के फलस्वरूप उसने तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया । क्रमशःदीक्षा स्वीकार की और गीतार्थ बनकर यथायोग्य धर्मदेशना आदि द्वारा बीस स्थानक के प्रथम जिनभक्तिस्थानक की सुन्दर आराधना करके जिननामकर्म निकाचित किया ।

वहाँ से समाधि-मृत्यु प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में दीर्घकालीन देवायु को पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर पद को प्राप्त कर शाश्वत मोक्ष पद प्राप्त किया ।

ज्ञान और साधारण द्रव्य के भक्षण से हानि

भोगपुर नगर में चौबीस करोड़ स्वर्णमुद्राओं का अधिपति धनावह नाम का सेठ रहता था । उस सेठ के धनवती नाम की पत्नी थी । उस दम्पति के पुण्यसार और कर्मसार नाम के दो पुत्र युगल के रूप में पैदा हुए ।

एक बार धनावह श्रेष्ठी ने किसी नैमित्तिक से पूछा– ``मेरे दोनों पुत्रों का भविष्य कैसा है ?'' नैमित्तिक ने कहा-``कर्मसार जड़ प्रकृति वाला एवं अप्राज्ञ होने से विपरीत बुद्धि के कारण बहुत-सा प्रयत्न करने पर भी कुछ भी द्रव्य प्राप्त नहीं कर पायेगा । पूर्व के धन को भी खोने से और नया धन उपार्जन नहीं होने से वह बहुत काल तक दारिद्र्य और दासत्व आदि का दुःख प्राप्त करेगा ।

``पूर्व के सर्व द्रव्य और नवीन उपार्जित द्रव्य की बार-बार हानि से पुण्यसार भी इसी प्रकार दुःखी होगा, परन्तु वाणिज्य आदि कला में वह कुशल होगा । दोनों को वृद्धावस्था में धन, सुख और सम्पत्ति की अभिवृद्धि होगी ।''

सेठ ने अपने दोनों पुत्रों को अध्ययन हेतु कुशल पंडित के पास रखा । बहुत ही सरलता से पुण्यसार ने सभी विद्याएँ ग्रहण कर लीं । परन्तु अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी कर्मसार अक्षर मात्र भी नहीं सीख पाया । पढ़ना-लिखना तो उसके लिए मुश्किल था । पशु तुल्य समझकर उपाध्याय ने भी उसे पढ़ाना छोड़ दिया ।

क्रमशः दोनों युवावस्था को प्राप्त हुए । माता-पिता की समृद्धि के कारण श्रेष्ठि कन्याओं के साथ उन दोनों का विवाह हो गया ।

`परस्पर क्लेश न हो'- इस प्रकार विचार कर पिता ने उन दोनों को बारह-बारह करोड़ स्वर्णमुद्रायें देकर अलग कर दिया । माता-पिता ने दीक्षा स्वीकार ली और क्रमशःस्वर्ग में गये ।

स्वजनों के रोकने पर भी कर्मसार अपनी कुबुद्धि से ऐसे-ऐसे व्यवसाय करने लगा, जिनसे हानि ही हानि होने लगी । इस प्रकार थोड़े ही दिनों में उसने बारह करोड़ स्वर्णमुद्रायें खो दीं । चोरों ने गुप्त रूप से पुण्यसार के धन को लूट लिया । दोनों दरिद्र हो गये । क्षुधा आदि से पीड़ित दोनों की पत्नियाँ भी अपने पिता के घर चली गयीं ।

कहा भी है– ``सम्बन्ध न होने पर भी लोग धनवान के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं और वैभव क्षीण हो जाने पर निकट के सम्बन्धी भी सम्बन्ध कहने में लज्जा का अनुभव करते हैं ।''

वैभव के चले जाने पर गुणवान भी परिजनों के द्वारा निर्गुणी ही गिना जाता है और धनवान पुरुषों का दक्षता आदि काल्पनिक गुणों से भी गुणगान किया जाता है ।

बुद्धिहीन और भाग्यहीन कहकर लोग उनकी निन्दा करने लगे । निन्दा से लज्जित बने वे दोनों भाई अन्य देश में चले गये । अन्य कोई उपाय न होने से अलग-अलग किसी सेठ के घर नौकर रहे । कर्मसार जिस सेठ के घर रहा, वह सेठ झूठा, व्यापारी और कृपण था । निश्चित किया वेतन भी नहीं देता था । ``अमुक दिन के बाद दूंगा''- इस प्रकार बहुत दिन बीतने पर भी कर्मसार ने कुछ भी धन नहीं कमाया ।

पुण्यसार ने कुछ धन कमाया और प्रयत्नपूर्वक उसका रक्षण भी किया, परन्तु कोई धूर्त उसका धन ले गया ।

कर्मसार ने अन्य-अन्य सेठों के यहाँ नौकरी की । धातुविज्ञान, खानविज्ञान, सिद्धरसायन, रोहणाचल-गमन, मंत्रसाधना, रुदन्ती आदि औषधियों की प्राप्ति इत्यादि कृत्य बड़े पराक्रम के साथ ग्यारह बार किये परन्तु कुबुद्धि तथा विधि-विधान में विपरीतता के कारण कुछ भी धनार्जन नहीं कर सका, बल्कि ये दुःख ही सहन किये ।

पुण्यसार ने कुछ धन कमाया परन्तु प्रमाद आदि के कारण हर बार खोया । अन्त में दोनों हताश हो गये और एक वाहन पर चढ़कर रत्नदीप पहुँचे । वहाँ देवी के आगे मृत्यु को भी स्वीकार करके बैठ गये ।

आठवें उपवास में देवी ने कहा-``तुम दोनों का भाग्य नहीं है ।'' इसे सुनकर कर्मसार खड़ा हो गया ।

पुण्यसार ने इक्कीस उपवास किये, आखिर देवी ने उसे चिन्तामणि रत्न प्रदान किया । कर्मसार पश्चाताप करने लगा । तब पुण्यसार ने कहा- ``भाई ! चिन्ता मत करो, इसके प्रभाव से तुम्हारी भी इच्छापूर्ति होगी ।'' इस प्रकार बात कर दोनों वाहन पर चढ़ गये । रात्रि में पूनम के चन्द्रमा को देख कर बड़े भाई ने कहा– ``भाई ! चिन्तामणि रत्न को बाहर निकालो, जरा देखें कि रत्न अधिक तेजस्वी है या चन्द्र ?''

इस बात को सुनकर वाहन के तट पर खड़े छोटे भाई ने वह रत्न हाथ मे लिया, फिर एक बार रत्न पर, तो दूसरी बार चन्द्र पर, इस प्रकार पुनःपुनः एक दूसरे को देखने लगा । अचानक वह रत्न समुद्र में गिर पड़ा । उसके सारे अरमान वहीं समाप्त हो गये ।

वे दोनों अत्यन्त दुःखी होकर अपने घर लौटे । किसी ज्ञानी गुरु से उन्होंने अपने पूर्व भव पूछे ।

ज्ञानी गुरु ने कहा-चन्द्रपुर नगर में जिनदत्त और जिनदास नाम के दो श्रेष्ठी श्रावक थे । एक बार अन्य श्रावकों ने मिलकर उन दोनों को क्रमशःबहुत ज्ञानद्रव्य और साधारणद्रव्य की व्यवस्था का कार्यभार सौंपा । वे दोनों अच्छी तरह से व्यवस्था करने लगे ।

एक बार जिनदत्त ने अपनी बही में कोई अतिआवश्यक बात लहिए से लिखवाई । उस समय दूसरा पैसा पास में नहीं होने से ``यह भी ज्ञान का ही कार्य है'' ऐसा विचार करके ज्ञानखाते में से उसने बारह द्रम्म लहिए को दिये ।

जिनदास ने एक बार सोचा- ``साधारणद्रव्य सात क्षेत्रों के लिए योग्य होने से श्रावक के लिए भी योग्य है और मैं भी श्रावक हूँ''-इस प्रकार विचार कर अपने घर के जरूरी कार्य के लिए दूसरा द्रव्य नहीं होने से साधारणद्रव्य में से बारह द्रम्म लेकर व्यय कर लिये ।

वहाँ से दोनों भाई मरकर उस दुष्कर्म के कारण पहली नरक में गये ।

वेदान्त में भी कहा है- ``कण्ठगत प्राण आने पर भी साधारण द्रव्य लेने की इच्छा नहीं करनी चाहिए । अग्नि से दग्ध ठीक हो जाता है, परन्तु साधारणद्रव्य-भक्षण की आग से जला हुआ ठीक नहीं होता है ।''

''साधारणद्रव्य, ब्रह्महत्या, दरिद्री का धन, गुरु की स्त्री और देवद्रव्य स्वर्ग में भी प्राणी को नीचे गिराते हैं ।''

नरक में से निकल कर वे दोनों सरीसृप बने । वहाँ से पुनः दूसरी नरक में गये । नरक से निकलकर गिद्ध बने । फिर तीसरी नरक में गये । इस प्रकार एक-दो आदि भवों के अन्तर से वे सातों नरकों में, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंच के बारह हजार भवों में अत्यन्त दुःख या अनुभव कर बहुत सा पापकर्म क्षीण हो जाने के कारण तुम दोनों के रूप में उत्पन्न हुए ।

बारह द्रम्म का उपभोग करने के कारण दोनों को बारह हजार भवों में भटकना पड़ा और इस भव में बारह करोड़ सोना मोहर खोनी पड़ी । बारह बार प्रयत्न करने पर भी धन का लाभ नहीं हुआ, बल्कि दासत्व, दरिद्रत्व आदि दुःख उठाने पड़े । कर्मसार ने ज्ञानद्रव्य का उपयोग किया था, उस कारण उसे प्रज्ञाहीनता आदि दुःख भी उत्पन्न हुए । इस प्रकार अपने पूर्वभव को सुनकर उन दोनों ने श्राद्धधर्म के स्वीकारपूर्वक अपने पापों की आलोचना की । प्रायश्चित्त के रूप में बारह द्रम्म की हजार गुणी रकम अर्थात् बारह हजार द्रम्म ज्ञान और साधारण द्रव्य में देने का अभिग्रह किया ।

उसके बाद पूर्व कर्म का क्षय हो जाने से और धनप्राप्ति होने से एक हजार गुणी रकम उन्होंने ज्ञान व साधारण द्रव्य में अर्पित कर दी । क्रमशः वे बारह करोड़ स्वर्णमुद्राओं के अधिपति बने । अन्त में श्रावकधर्म का सुन्दर रूप से पालन करते हुए एवं ज्ञान-साधारण द्रव्य की रक्षा व वृद्धि करते हुए श्राद्धधर्म की आराधना कर दीक्षा स्वीकार कर सिद्ध बने ।

卐 卐 卐

देवद्रव्य की तरह ज्ञानद्रव्य भी श्रावकों के लिए कल्प्य नहीं है । साधारणद्रव्य भी संघ ने दिया हो तो ही कल्प्य है अन्यथा नहीं । संघ भी सात क्षेत्रों में ही उसका उपयोग करे पर भिखारी वगैरह को न दे क्योंकि वे सात क्षेत्रों के अन्तर्गत नहीं हैं । याचकों को तो अनुकम्पा द्रव्य और गाय, बैल वगैरह पशुओं के चारा-पानी आदि के लिए जीवदया का द्रव्य खर्च किया जाता है । वर्तमान व्यवहार से गुरु के न्युछन आदि से इकट्ठा किया गया साधारणद्रव्य श्रावक, श्राविका को देना योग्य नहीं है परन्तु श्रावक धर्मशाला (पौषधशाला) आदि में उस न्युंछन की रकम का उपयोग कर सकते हैं ।

ज्ञानद्रव्य में साधु-साध्वी को दिये गये कागज-पत्र आदि का उपयोग श्रावक अपने निजी कार्य के लिए नहीं कर सकते हैं ।

अधिक नकरा दिये बिना अपनी पुस्तक आदि पर भी वह कागज नहीं लगाना चाहिए । गुरुद्रव्य होने से साधु की मुँहपत्ती आदि का उपयोग भी श्रावक के लिए कल्प्य (उचित) नहीं है ।

स्थापनाचार्य और जपमाला आदि तो श्रावकों को देने के लिए गुरु ने बहोरी हो तो उसको ग्रहण करने में श्रावक को कोई दोष नहीं है । गुरु की आज्ञा बिना लेखक (अच्छे अक्षरों में नकल लिखने वाले) के पास लिखाना तथा वस्त्र-दोरी आदि को बहोरना भी साधु के लिए कल्प्य नहीं है ।

देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य और साधारणद्रव्य की थोड़ी भी रकम अपने निजी कार्य में उपयोग में लेने से उसका बुरा परिणाम बहुत अधिक भुगतना पड़ता है, इसे जानकर विवेकी व्यक्ति को देवद्रव्य आदि के उपभोग का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

उपधान तथा संघमाला, पहरामणी तथा न्युंछन आदि की रकम बोलने के बाद तुरन्त भरपाई कर देनी चाहिए । यदि तुरन्त शक्य न हो तो शीघ्र देने का प्रयत्न करना चाहिए । शीघ्र देने में अधिक लाभ है और देर करने से, किसी दुर्भाग्यवश मृत्यु अथवा सर्वधन का नाश हो जाय तो सुश्रावक आदि को भी नरकादि दुर्गति में जाना पड़ सकता है ।

देवद्रव्य चुकाने में विलम्ब से हानि

महापुर नगर में परमात्म-भक्त ऋषभदत्त नाम का श्रावक सेठ रहता था । किसी पर्वदिन में वह मन्दिर-दर्शनार्थ गया । पास में धन नहीं होने से उसने उधार पर मन्दिर में चन्दोवा आदि भेंट करने का संकल्प किया । अन्य-अन्य कार्य में व्यस्त हो जाने से वह न दे सका । दुर्भाग्य से उसके घर पर लुटेरों ने लूट मचाई और उसका सब कुछ लूट लिया ।

सेठ के हाथों में शस्त्र देखकर डरे हुए लुटेरों ने शस्त्रों के प्रहार से सेठ ऋषभदत्त को खत्म भी कर दिया ।

सेठ मरकर उसी नगर में निर्दयी, दरिद्री और कृपण भिश्ती के घर भैंसे के रूप में उत्पन्न हुआ और प्रतिदिन प्रतिगृह जल आदि के भार को वहन करने लगा । वह नगर बहुत ऊँचाई पर था और नदी बहुत ही निम्न भाग में बहती थी । वह रात और दिन बहुत ही ऊँचाई तक भारवहन की पीड़ा, भूख और प्यास की तीव्र पीड़ा और निरन्तर चाबुकों की मार की घोर पीड़ा को सहता था । एक बार नवीन जिनमन्दिर के परकोटे के लिए जलभार को वहन करते हुए जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा को देख उसे जातिस्मरण हो गया । वह किसी भी प्रकार से जिनमन्दिर छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब किसी ज्ञानी के वचन से उसके पुत्र ने पूर्वभव की देवद्रव्य की रकम एक हजार गुणी देकर उसे ऋण-मुक्त किया । अन्त में उस भैंसे ने अनशन स्वीकार किया । वह मरकर स्वर्ग में गया—-और क्रमशः उसने मोक्ष प्राप्त किया ।

देवद्रव्य के अर्पण में विलम्ब करने के इस फल को जानकर देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य आदि प्रदान करने में थोडा भी विलम्ब नहीं करना चाहिए ।

विवेकी पुरुष व्यवहार में अन्य भी कर्ज चुकाने में विलम्ब नहीं करते हैं तो देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य आदि को चुकाने में देरी क्यों करेंगे ?

जिस समय उपधान-संघ आदि के माला-परिधान की जितनी रकम बोल दी जाती है, उतनी रकम उस समय देवद्रव्य की बन जाती है तो फिर उसका उपभोग कैसे किया जाय? उस रकम से उत्पन्न ब्याज आदि भी कैसे ले सकते हैं? क्योंकि ऐसा करने से तो देवद्रव्य के भक्षण का दोष लगता है। इस कारण वह देवद्रव्य आदि शीघ्र ही चुका देना चाहिए। यदि शीघ्र चुकाना सम्भव न हो तो पहले ही सप्ताह-पक्ष आदि का समय निश्चित कर लेना चाहिए और निश्चितसमय के भीतर बिना माँगे ही चुका देना चाहिए। समय-मर्यादा के बीत जाने पर तो देवद्रव्यादि के उपभोग का दोष लगता है।

देवद्रव्य आदि की उगाही का कार्य भी अपनी ही रकम की भाँति मन लगाकर शीघ्र करना चाहिए। अन्यथा बहुत विलम्ब करने पर अकाल, देशनाश तथा दारिद्र्य आदि की प्राप्ति हो जाय तो बहुत प्रयत्न करने पर भी वह रकम प्राप्त नहीं होती है, इससे महादोष लगता है।

देवद्रव्य की उपेक्षा न करें

महेन्द्रपुर नगर में एक सुन्दर जिनमन्दिर था। मन्दिर सम्बन्धी चन्दन, कपूर, फूल, चावल, फल, नैवेद्य, दीप, तैल-भण्डार, पूजा की सामग्री, पूजा की रचना, देवद्रव्य की उगाही, उसका हिसाब-किताब रखना, यतनापूर्वक देवद्रव्य रखना, उसके जमा-खर्च का विचार करना इत्यादि प्रत्येक कार्य के लिए संघ की ओर से चार-चार व्यक्ति नियुक्त किये गये। वे सब लोग अपना-अपना कार्य बराबर करते।

एक बार मुख्य कार्यकर्त्ता उगाही करने के लिए किसी के घर गया। रकम मिलना तो दूर रहा, बदले में उसे दो-चार शब्द ही सुनने पड़े, इससे उसका मन एकदम खट्टा हो गया। फलस्वरूप वह अपने कार्य में आलस करने लगा।

लोक-व्यवहार में मुख्य व्यक्ति का अनुसरण होता है। इस कारण अन्य व्यक्ति भी अपने-अपने कार्य में एकदम शिथिल हो गये। उसी समय देशभंग आदि हो जाने से बहुत-सा देवद्रव्य नष्ट हो गया। इस दुष्कर्म के कारण उसे असंख्य भवों तक संसार में भटकना पड़ा।

देवद्रव्य की जो भी रकम देनी हो वह सच्ची (नकली नहीं बल्कि असली) रकम देनी चाहिए। घिसे हुए अथवा नकली सिक्के (रुपये) नहीं देने चाहिए क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति से देवद्रव्य आदि के उपभोग का दोष लगता है।

देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य तथा साधारणद्रव्य सम्बन्धी घर, दुकान, खेत, बाड़ी, पाषाण, ईंट, काष्ठ, बाँस, खपरैल, मिट्टी, खड़ी आदि, चन्दन, केसर, कपूर, फूल आदि पिड़्गानिका, टोकरी, धूपदानी, कलश, वासक्षेप की डिब्बी आदि, छत्र सहित सिंहासन, चामर, चँदोवा, झल्लरी, भेरी आदि वाद्य यन्त्र, साबाण, सरावले, पर्दा, कम्बल, चटाई, कपाट, पाट, पाटला, कुंडी, घड़ा, चन्दन घिसने का पत्थर, काजल, जल, प्रदीप आदि तथा मन्दिर के विभाग की नाल में से पड़ता हुआ जल स्वयं के उपभोग में नहीं लेना चाहिए। क्योंकि देवद्रव्य की तरह उसके उपभोग से भी दोष लगता है।

चामर, साबाण आदि वस्तु के उपभोग से वह मलिन हो जाए और टूट-फूट जाए तो अधिक दोष भी लगता है।

मन्दिर की कोई भी वस्तु काम में नहीं आती है, इसके लिए कहा भी है- प्रभु समक्ष दीपक करके उससे गृहकार्य नहीं करने चाहिए । क्योंकि ऐसा करने से आत्मा तिर्यंच गति में जाती है ।

देवद्रव्य से गृहकार्य नहीं करें

इन्द्रपुर नगर में देवसेन नाम का एक व्यापारी था । उसके धनसेन नाम का सेवक था, जो ऊँट की सवारी करता था । धनसेन के घर से प्रतिदिन एक सांडनी देवसेन के घर आती थी । धनसेन उसे मारपीट कर अपने घर ले जाता फिर भी स्नेहवश वह पुनः देवसेन के घर आ जाती । सांडनी की इस प्रवृत्ति को देख देवसेन ने वह खरीद ली । दोनों को एक-दूसरे पर स्नेह था । एक बार किसी ज्ञानी गुरु भगवन्त को सांडनी के स्नेह के बारे में पूछने पर गुरु भगवन्त ने कहा, ``यह सांडनी पूर्वभव में तुम्हारी माता थी । इसने प्रभु के समक्ष दीपक करके उसी दीपक से इसने गृहकार्य किया था । धूपदानी के अंगारे से चूल्हा सुलगाया था । उस पापकर्म के कारण ही यह मरकर सांडनी बनी है । कहा भी है–

``प्रभु के समक्ष किये गये दीप के प्रकाश में कागज नहीं पढ़ना चाहिए, गृहकार्य नहीं करना चाहिए, सिक्के (धन) की परीक्षा नहीं करनी चाहिए । प्रभु के दीप से अपने निजी कार्य के लिए दीपक नहीं प्रगटाना चाहिए ।''

प्रभु के चन्दन से अपने कपाल आदि पर तिलक नहीं करना चाहिए । प्रभु के जल से अपने हाथ भी नहीं धोने चाहिए ।

देव की शेषा (न्हवण जल आदि) भी प्रभु के देह के नीचे गिरा हुआ अल्प मात्रा में लेना चाहिए, परन्तु प्रभु के शरीर पर से अपने हाथ से नहीं लेना चाहिए ।

चैत्य सम्बन्धी झल्लरी, भेरी आदि भी गुरु या संघ के समक्ष नहीं बजानी चाहिए ।

कुछ आचार्यों का मत है- ``विशेष कारण आ पड़ने पर गुरु या संघ के समक्ष भेरी-झल्लरी आदि बजानी पड़े तो उसका विशेष नकारा (भाड़ा) देना चाहिए ।'' **कहा भी है–**

''जिनेश्वर सम्बन्धी चामर, छत्र, कलश आदि उपकरण जो मूढ़ पुरुष मूल्य (भाड़ा) चुकाए बिना अपने निजी कार्य में उपयोग में लेता है, वह दुःखी होता है ।''

भाड़ा (नकरा) देकर अपने कार्य के लिए उपयोग में ली गयी भेरी-झल्लरी आदि टूट जाय तो उसकी मरम्मत निजी द्रव्य से करानी चाहिए ।

गृहकार्य के लिए प्रगटाये गये दीपक को प्रभु-दर्शन के लिए प्रभु-समक्ष लाने मात्र से वह देवदीप नहीं बन जाता है । पूजा के लिए ही दीप प्रगटाया हो तो ही वह देवदीप बनता है ।

मुख्यतया देवदीप के लिए सकोरे आदि अलग ही रखने चाहिए । अपने सकोरे आदि में देवपूजा हेतु दीपक करने पर मन्दिर के तेल बाट आदि का अपने कार्य में उपयोग नहीं करना चाहिए ।

यदि किसी ने पूजा करने वाले लोगों के हाथ-पैर धोने के लिए मन्दिर में अलग से जल रखा

हो तो उस जल से हाथ-पैर आदि धोने में कोई आपत्ति नहीं है ।

इसीलिए पिंगानिका, टोकरी, केसर घिसने का पत्थर आदि तथा चन्दन, केशर, कपूर, कस्तूरी आदि वस्तु अपनी निश्रा में ही रखकर उनका देवपूजा आदि में उपयोग करना चाहिए । परन्तु उन्हें देव सम्बन्धी नहीं करनी चाहिए । देव सम्बन्धी न की हो तो अपने घर के निजी प्रयोजन में भी उनका उपयोग कर सकते हैं । इसी प्रकार झल्लरी-भेरी आदि के लिए भी समझना चाहिए ।

यदि धर्मकार्यों के लिए बनाकर रखे हों तो समस्त धर्मकृत्यों में उनका उपयोग हो सकता है ।

अपनी ही मालिकी के साबाण, पर्दे आदि वस्तु जिनमन्दिर के उपयोग के लिए कुछ दिनों के लिए रखे हों तो इतने मात्र से वे देवद्रव्य नहीं बन जाते हैं, क्योंकि उसमें मन के परिणाम ही प्रमाणभूत हैं । यदि ऐसा न हो तो प्रभु के समक्ष जिस पात्र में नैवेद्य रखा जाय, वह पात्र भी देवद्रव्य बन जाना चाहिए ।

देवद्रव्य तथा ज्ञानद्रव्य सम्बन्धी मकान, पाट आदि वस्तुएँ भाड़ा देकर भी श्रावक को अपने उपयोग में नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि निर्ध्वंस परिणाम की सम्भावना बनी रहती है ।

मकान आदि वस्तु साधारण खाते सम्बन्धी हों तो संघ की अनुमति से लोक-व्यवहार की रीति से उचित भाड़ा देकर उनका उपयोग कर सकते हैं । वह भाड़े की रकम भी समय-मर्यादा के भीतर शीघ्र चुका देनी चाहिए ।

अपने उपयोग के बीच यदि मकान की दीवार आदि टूट जाय और उसकी मरम्मत करनी पड़े तो उस भाड़े में से मरम्मत की रकम घटा सकते हैं क्योंकि ऐसा लोक-व्यवहार देखा जाता है । परन्तु अपने स्वयं के लिए मकान के ऊपर नयी मंजिल खड़ी की जाय तो उसका खर्च भाड़े में से घटा नहीं सकते हैं । क्योंकि ऐसा करने से साधारणद्रव्य के भक्षण का दोष लगता है ।

कोई साधर्मिक अत्यन्त दुःखी हो तो संघ की अनुमति से बिना भाड़ा दिये भी साधारण-खाते के मकान में रह सकता है ।

अन्य स्थान न मिलने पर तीर्थ में तथा जिनमन्दिर में अधिक देर तक ठहरना पड़े तथा निद्रा आदि लेनी पड़े तो जितनी सुविधा प्राप्त की हो उससे कुछ अधिक भाड़ा देना चाहिए । अल्प भाड़ा दे तो दोष ही है ।

इसी प्रकार देव, ज्ञान और साधारण द्रव्य सम्बन्धी वस्त्र, नारियल, सोने-चांदी के पाटे, कलश, फूल, पक्वान्न, सुखड़ी आदि वस्तु उद्यापन, नंदी तथा पुस्तक, पूजा आदि में पूरा भाड़ा (नकरा) दिये बिना नहीं रखनी चाहिए ।

उद्यापन आदि कृत्यों में अपने नाम से बड़ा आडम्बर किया जाता है । इससे लोक में अधिक प्रशंसा होती है । अतःअगर वह अल्प भाड़ा देकर वस्तुएँ उद्यापन आदि में रखे तो स्पष्ट रूप से दोष लगता है ।

लक्ष्मीवती

किसी नगर में लक्ष्मीवती नाम की अत्यन्त समृद्धिमान और धर्मिष्ठ श्राविका थी । उसमें अत्यन्त महत्त्वाकांक्षा थी ।

वह हमेशा थोड़ा भाड़ा (नकरा) देकर बड़े आडम्बर के साथ विविध प्रकार के उद्यापन आदि धर्मकृत्य करती और कराती थी । मन में यह समझती थी कि मैं देवद्रव्य की वृद्धि और प्रभावना करती हूँ । इस प्रकार श्रावकधर्म का पालन कर वह प्रज्ञापराध के कारण मरकर नीच देवी के रूप में देवलोक में पैदा हुई । स्वर्ग में से च्यवकर किसी धनवान और पुत्ररहित श्रेष्ठी के घर मान्य पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई ।

वह गर्भ में थी । तब अचानक दुश्मन राजा का भय आ जाने से उसकी माता का सीमंत महोत्सव नहीं हो पाया । यह महोत्सव गर्भाधान के चौथे, छठे या आठवें महीने में स्त्रियाँ मनाती हैं ।

उसके पिता ने उसके जन्म के बाद उसके जन्मोत्सव, छठी उत्सव, नामकरण महोत्सव, मुंडन महोत्सव आदि कराने की बड़े आडम्बर के साथ तैयारी की थी परन्तु राजा-मंत्री आदि के घर शोक हो जाने से यह सब न हो सका ।

सेठ ने अपनी पुत्री के लिए रत्नजड़ित स्वर्ण के अनेक आभूषण बनाये परन्तु चोर आदि के भय के कारण वह एक दिन भी नहीं पहन सकी ।

सर्वमान्य होने पर भी उस कन्या के पूर्वकर्म को दोष के कारण भोजन-वस्त्र आदि की सामग्री भी सामान्यजन के योग्य ही मिल पाती है । **कहा भी है**–

``हे रत्नाकर ! तू रत्नों से भरा हुआ है, फिर भी मेरे हाथ में, मेंढ़क आया, इसमें तेरा नहीं किन्तु मेरे ही पूर्वकर्म का दोष है ।''

``पुत्री का एक भी महोत्सव नहीं हो पाया''- इस प्रकार विचार कर पिता ने अत्यन्त ही आडम्बर के साथ उसका लग्न महोत्सव प्रारम्भ करवाया, परन्तु उसी बीच उसकी माँ की मृत्यु हो जाने से वर-वधू का पाणिग्रहण बिल्कुल सादगी से ही सम्पन्न हुआ ।

लग्न के बाद अत्यन्त उदार और समृद्ध ससुर के घर जाने पर भी और सभी को मान्य होने पर भी पूर्व की तरह नये-नये भय, शोक, बीमारी आदि उत्पन्न होने के कारण वह पुत्री अपने मनपसन्द विषय-सुख को और उत्सव आदि प्रसंग के आनन्द को न पा सकी ।

इस प्रकार की स्थिति के कारण वह मन में अत्यन्त उद्विग्न बनी । ऐसी स्थिति से वह धर्मबोध को प्राप्त हुई । एक दिन केवली भगवन्त से पूछने पर उन्होंने कहा कि ``तुमने पूर्वभव में थोड़ा भाड़ा (नकरा) देकर जिनमन्दिर आदि की बहुत सी वस्तुओं का उपयोग किया था और बड़ा आडम्बर दिखाया था-इसी दुष्कर्म के कारण यह फल प्राप्त हुआ है ।''

केवली के इन वचनों को सुनकर उसने अपने पापों की आलोचना की और अन्त में दीक्षा ग्रहण कर मुक्ति प्राप्त की ।

अतः उद्यापन आदि में चढ़ाने के लिए टोपरा, नारियल, लड्डू आदि वस्तु, जिसका जो मूल्य हो और उसको तैयार कर लाने में जितना द्रव्य लगा हो उससे कुछ अधिक देने से सही मूल्य चुकाया कहा जाता है ।

हाँ ! यदि किसी ने अपने नाम से उद्यापन का आयोजन किया हो परन्तु अपनी आर्थिक शक्ति अधिक न हो तो उद्यापन की विधि के पालन की पूर्ति के लिए अपनी हैसियत के अनुसार जितना (अल्प) मूल्य दे उसमें कोई दोष नहीं है ।

गृह मन्दिर के अक्षत आदि की व्यवस्था

अपने घर-मन्दिर में भगवान के सामने रखे गये चावल, सुपारी, नैवेद्य आदि को बेचकर जो रकम प्राप्त हो, उस रकम से अपने स्वयं के मन्दिर के लिए पुष्प, भोग आदि सामग्री नहीं लानी चाहिए और दूसरे जिनमन्दिर में भी स्वयं अपने हाथों से प्रभु पर नहीं चढ़ानी चाहिए बल्कि सही बात बतलाकर पूजा करने वाले लोगों के हाथों से चढ़वानी चाहिए ।

जिनमन्दिर में पूजा करने वाले का योग न हो तो सभी लोगों को वस्तु-स्थिति कहकर फिर अपने हाथों से प्रभु पर चढ़ाये ।

ऐसा न करे तो झूठी प्रशंसा कराने का दोष लगता है ।

गृहचैत्य की नैवेद्य आदि सामग्री माली को वेतन के रूप में नहीं देनी चाहिए । हाँ, पहले से ही नैवेद्यपूर्वक मासिक वेतन तय किया हो तो कोई दोष नहीं है । मुख्यतया तो वेतन अलग से ही देना चाहिए ।

गृहचैत्य की नैवेद्य आदि सामग्री मुख्य जिनमन्दिर में रख देनी चाहिए । अन्यथा गृहचैत्य की सामग्री से ही प्रभुपूजा गिनी जायेगी, स्वद्रव्य से नहीं । इस प्रकार करने से तो अनादर-अवज्ञा आदि दोष उत्पन्न होते हैं । अपने कुटुम्ब के निर्वाह के लिए बहुत-सा धन व्यय करने वाले गृहस्थ के लिए ऐसा करना उचित नहीं है ।

मुख्य जिनमन्दिर में प्रभु-पूजा भी स्वद्रव्य से ही करनी चाहिए, न कि स्वगृहचैत्य में रखे गये नैवेद्य आदि सामग्री के व्यय से उत्पन्न द्रव्य से या देव-सम्बन्धी पुष्प आदि से; इनसे पूजा करने से पूर्वोक्त सभी दोष लगते हैं ।

मुख्य जिनमन्दिर में आयी हुई नैवेद्य-चावल आदि सामग्री का अपनी ही वस्तु की तरह अच्छी तरह से रक्षण करना चाहिए और योग्य भाव से उसे बेचना चाहिए । उसे जैसे-तैसे नहीं रखनी चाहिए । जिनमन्दिर सम्बन्धी नैवेद्य आदि सामग्री की अच्छी तरह से व्यवस्था न की जाय तो देवद्रव्य का विनाश आदि दोष लगते हैं ।

हर तरह से देवद्रव्य के रक्षण आदि की चिन्ता करने पर भी यदि चोर, अग्नि आदि के उपद्रव से देवद्रव्य का विनाश हो जाय तो भी व्यवस्था करने वाला निर्दोष ही गिना जाता है, क्योंकि अवश्यम्भावी घटनाओं को कोई टाल नहीं सकता ।

देव-गुरु की भक्ति, तीर्थयात्रा, संघपूजा, साधर्मिक वात्सल्य, स्नात्रपूजा, प्रभावना, ज्ञान-लेखन, वाचना आदि कार्यों में यदि अन्य किसी व्यक्ति की आर्थिक मदद ली जाय तो चार-पाँच

व्यक्तियों के समक्ष ही ग्रहण करनी चाहिए और उस धन-व्यय के समय गुरु-संघ आदि के समक्ष स्पष्ट कर देना चाहिए, अन्यथा दोष लगता है ।

तीर्थ आदि में पूजा, स्नात्र, ध्वज, पहरामणी आदि अवश्य करने योग्य कार्यों में दूसरों का धन नहीं डालना चाहिए । यानी किसी ने तीर्थ में प्रभुभक्ति में खर्च करने के लिए जो धन दिया हो वह इन कार्यों में नहीं लगाना चाहिए । ये कृत्य तो यथाशक्ति स्वयं ही करने चाहिए तथा दूसरे के धन को महापूजा, भोग, अंगपूजा आदि में सभी की साक्षी में अलग ही व्यय करना चाहिए ।

यदि बहुत लोग मिलकर तीर्थयात्रा, साधर्मिक वात्सल्य, संघ-पूजा आदि करते हों तो जिसका जितना भाग हो उसे सभी की उपस्थिति में स्पष्ट कर देना चाहिए । ऐसा न करे तो दूसरों के द्वारा पुण्य कार्य में किये गये अधिक धन-व्यय की चोरी करने का दोष लगता है ।

माता-पिता आदि अन्तिम अवस्था में हों तो उनकी जागृति (होश) में, गुरु तथा साधर्मिक आदि की साक्षी में कहना चाहिए कि ``आपके पुण्य के लिए इतने दिनों में इतना धन खर्च करूंगा, उसकी आप अनुमोदना करो ।''

इस प्रकार कहने के बाद निश्चित समय-मर्यादा के भीतर उतना धन खर्च कर देना चाहिए ।

हाँ, वह बोली हुई रकम माता-पिता आदि के नाम से ही खर्च करनी चाहिए, अपने नाम से नहीं, अन्यथा पुण्यकार्यों में भी चोरी का दोष लगता है ।

पुण्यकार्य में चोरी आदि करने से तो मुनिजन को भी हीन गति मिलती है । **कहा भी है– ``जो साधु तप, व्रत रुप आचार और भाव की चोरी करता है, वह किल्बिषिक देवायु का बन्ध करता है ।''**

मुख्यतया धर्मव्यय की रकम साधारण ही रखनी चाहिए । रकम साधारण रखने से जहाँ जिस क्षेत्र में आवश्यकता हो वहाँ उस रकम का उपयोग हो सकता है ।

सात क्षेत्रों में जो क्षेत्र कमजोर हो, उसमें धन व्यय करने से अधिक लाभ होता है ।

कोई श्रावक कमजोर हो तो उसे, जो उस धन से सहायता की जाय तो वह श्रावक आश्रय मिल जाने से धनवान बनने पर सातों क्षेत्रों की वृद्धि कर सकता है । लोक में भी कहा है–

``हे राजेन्द्र ! तुम दरिद्र व्यक्ति का पोषण करो, समृद्ध का नहीं । रोगी व्यक्ति के लिए औषध पथ्य है, नीरोग को औषध से क्या प्रयोजन है ?''

इसी कारण प्रभावना, संघ की पहरामणी, सम्यक्त्व-ग्रहण (चतुर्थव्रत आदि) की खुशहाली में संघ में बाँटे जाते लहाणो लड्डू आदि करनी हो तो निर्धन साधर्मिकों को विशिष्ट वस्तु अर्पित करना ही योग्य है, अन्यथा धर्म की अवज्ञा का दोष आता है । अनुकूलता हो तो धनवान साधर्मिक की अपेक्षा निर्धन साधर्मिक को विशेष देना चाहिए । अगर ऐसा न बन सके तो सबको समान देना, परन्तु निर्धन को कम न देना । ऐसा सुना जाता है कि यमुनापुर में ठाकुर जिनदास ने सम्यक्त्वमोदक को देते वक्त समृद्ध श्रावकों के मोदक में एक-एक स्वर्ण मोहर और निर्धन श्रावकों के मोदक में दो-दो स्वर्णमोहरें डाली थीं ।

पिता आदि तथा पुत्र आदि को एक दूसरे के लिए पुण्यार्थ धन का व्यय करना हो तो प्रथम से ही करना योग्य है । क्योंकि पता नहीं किसकी कब और किस प्रकार मृत्यु होगी ? जो धर्मकार्य में खर्च करने के लिए निश्चित किया हो उतना अलग ही खर्चना चाहिए, परन्तु अपने दैनिक भोजन, दान आदि कृत्यों में नहीं गिनना चाहिए, क्योंकि इससे धर्मस्थान में व्यर्थ ही दोष आता है ।

ऐसा होने पर भी जो लोग यात्रा के लिए इतना द्रव्य खर्चूंगा- इस प्रकार निर्णय कर उसी रकम में से खाना-पीना, गाड़ी-भाड़ा, प्रेषण आदि का खर्च करते हैं उन मूढ़ लोगों की क्या गति होगी ?

यात्रादि के लिए जितना द्रव्य निश्चित किया हो वह द्रव्य देव आदि का द्रव्य हो गया, अतःउसका अपने भोजन आदि में उपयोग करने से देव आदि के द्रव्य के उपयोग का दोष कैसे नहीं लगेगा ?

इसी प्रकार अज्ञानता अथवा गलतफहमी से कभी कुछ देवादिद्रव्य का उपयोग हो गया हो तो उसकी आलोचना के रूप में, जितने देवद्रव्य का उपभोग हो गया हो अन्दाज से उतनी या उससे अधिक रकम देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य आदि में डाल देनी चाहिए। जीवन की अन्तिम अवस्था में तो देवद्रव्य आदि का चुकारा खास करके करना चाहिए।

अपनी शक्ति अधिक न हो तो धर्मक्षेत्र में, दूसरे धर्मकार्यों में चाहे कम खर्च करें परन्तु किसी भी प्रकार का ऋण तो नहीं रखना चाहिए और खास करके देव आदि के द्रव्य ऋण तो चुका ही देने चाहिए। ग्रन्थकार ने कहा भी है–

विवेकी पुरुषों को एक क्षण भी ऋण नहीं रखना चाहिए तो फिर अति भयंकर देवादि द्रव्य का ऋण तो कैसे रखा जाए ? अतःबुद्धिमान पुरुष को सर्वत्र विवेक से काम लेना चाहिए। कहा भी है–

जिस प्रकार कामधेनु गाय प्रतिपदा के चन्द्र को, नेवला नकुली वनस्पति को, हंस पानी में रहे दूध को और पक्षी चित्रा बेल को जानता है, उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष सूक्ष्म-धर्म को जानते हैं।

अब इस विषय के अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं हैं।

पच्चक्खाण विधि

जिनपूजा करने के बाद ज्ञानादि पंचाचारों का दृढ़ता से पालन करने वाले गुरु के पास जाकर पहले जो स्वयं पच्चक्खाण धारण किया हो वह अथवा उसमें विशेष मिलाकर गुरु-मुख से पच्चक्खाण लेना चाहिए (ज्ञानादि पाँच आचारों की विशेष व्याख्या ग्रन्थकार के द्वारा विरचित **'आचारप्रदीप'** ग्रन्थ से समझ लेनी चाहिए।)

पच्चक्खाण तीन की साक्षी में किया जाता है- आत्मसाक्षिक, देवसाक्षिक और गुरुसाक्षिक।

जिनमन्दिर में देववन्दन अथवा स्नात्र महोत्सव के दर्शन, धर्मदेशना आदि के लिए आये हुए सद्गुरु के पास वन्दनापूर्वक पच्चक्खाण लेना चाहिए।

मन्दिर मे न हो तो उपाश्रय में जाकर मन्दिर की विधि के अनुसार तीन बार निसीहि और पाँच प्रकार के अभिगम के पालनपूर्वक यथायोग्य विधि से प्रवेश कर देशना से पूर्व अथवा देशना के बाद पच्चीस, आवश्यक से द्वादशावर्त वन्दनपूर्वक पच्चक्खाण ग्रहण करना चाहिए।

गुरुवन्दन का फल

गुरुवन्दन का महान् फल है। कहा भी है -

''गुरुवन्दन से आत्मा नीचगोत्र कर्म का क्षय करती है, उच्च गोत्र कर्म का बन्ध करती है और मोहनीय कर्म की ग्रन्थि को शिथिल करती है।''

नीआगोअं खवे कम्मं, उच्चागोअं निबंधए ।
सिढिलं कम्मगंठिं तु, वंदणेणं नरो करे ।।1।।
तित्थयरत्तं सम्मत्तखाइअं सत्तमीइ तइआए ।
आउं वंदणएणं, बद्धं च दसारसीहेणं ।।2।।

कृष्ण महाराजा ने गुरुवन्दन के फलस्वरूप और उसके साथ ही सातवीं नरक का बाँधा हुआ आयुष्य तीसरी नरक का कर दिया । शीतलाचार्य को वन्दन के लिए आये हुए उनके चार भानजे सूर्यास्त हो जाने से नगर के बाहर ही रुक गये और उन्हें रात्रि में ही केवलज्ञान हो गया ।

शीतलाचार्य ने दूसरे दिन वहाँ आकर अपने चार भानजों को पहले तो क्रोध से द्रव्य-वन्दना की परन्तु बाद में वास्तविक स्थिति का पता चलने पर उन्होंने भाव से वन्दन किया । जिसके फलस्वरूप उन्हें भी केवलज्ञान पैदा हो गया ।

गुरु-वन्दन के प्रकार और विधि

गुरुवन्दन तीन प्रकार का है । भाष्य में कहा है–

``गुरुवन्दन तीन प्रकार का है -फिट्टा वन्दन, थोभ वन्दन और द्वादशावर्त वन्दन ।''

केवल मस्तक झुकाना आदि **फिट्टावन्दन** कहलाता है । पंचांग प्रणिपात नमस्कारपूर्वक दो खमासमणे देकर जो वन्दन करते हैं, उसे **थोभ वंदन** कहते हैं और दो वांदणों से जो वन्दन किया जाता है, उसे द्वादशावर्त वन्दन कहते हैं । फिट्टा वन्दन परस्पर चतुर्विध संघ को किया जाता है । थोभवन्दन चारित्रात्मा को किया जाता है तथा द्वादशावर्त वन्दन तो आचार्य आदि पदस्थों को किया जाता है ।

जिसने प्रतिक्रमण नहीं किया हो उसे विधिपूर्वक वन्दन करना चाहिए ।

प्रातःकालीन वन्दन-विधि

सर्वप्रथम **'इरियावही'** करके **'कुसुमिण-दुसुमिण'**(कुस्वप्न-दुःस्वप्न) का एक सौ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । कुस्वप्न देखा हो तो एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करें । उसके बाद आदेश मांगकर चैत्यवन्दन कर मुहपत्ती पडिलेहना करनी चाहिए ।

तत्पश्चात् दो वांदणा देकर **'राइ अं आलोउं'** इत्यादि कहकर पुनःदो वांदणा दें । उसके बाद **'अब्भुट्ठिओ'** खमावे, फिर दो वांदणा देकर पच्चक्खाण करे । उसके बाद **'भगवानहं'** इत्यादि कहकर चार खमासमणा दे । फिर **'सज्झाय संदिसाहु'** और **'सज्झाय करू'** कहकर दो खमासमण देकर स्वाध्याय करें ।

संध्याकालीन गुरुवन्दन विधि

प्रथम इरियावही प्रतिक्रमण कर आदेश मांगकर चैत्यन्यवन्दन करे । उसके बाद मुहपत्ति पडिलेहन कर दो वांदणा दे और उसके बाद **'दिवस चरिम'** का पच्चक्खाण करे और उसके बाद दो वांदणा देकर दैवसिक आलोचना करे । फिर दो वांदणा देकर **'अब्भुट्ठिओ'** से खमावे । उसके बाद **'भगवानहं'** इत्यादि कह चार खमासमण देकर **'देवसिअ पायच्छित्तं'** का कायोत्सर्ग करे । उसके बाद **'सज्झाय संदिसाहु' ! 'सज्झाय करूँ?'** का आदेश मांगकर दो खमासमणे देकर सज्झाय (स्वाध्याय) करे ।

गुरु अन्य किसी में व्यग्र हो और द्वादशावर्त वन्दन का योग न हो तो थोभवन्दन से गुरुवन्दन करना चाहिए । इस प्रकार वन्दन कर गुरु के पास पच्चक्खाण करना चाहिए । कहा भी है–

``पहले जिसका संकल्प किया हो वह पच्चक्खाण अथवा उससे अधिक पच्चक्खाण गुरु-साक्षी से लेना चाहिए, क्योंकि धर्म के साक्षी गुरु हैं ।''

गुरु-साक्षी धर्म से लाभ

1) गुरुसाक्षी से धर्म/व्रत में दृढ़ता आती है ।
2) **'धर्म गुरु साक्षी हो'**–जिनेश्वर की इस आज्ञा का पालन होता है ।
3) गुरुवचन की प्रेरणा से शुभ भाव उत्पन्न होने से क्षयोपशम अधिक होता है ।
4) क्षयोपशम अधिक हो जाने से पूर्व निश्चित पच्चक्खाण से भी अधिक पच्चक्खाण लेने की इच्छा होती है ।

श्रावक प्रज्ञप्ति में कहा है–

संतंमिवि परिणामे गुरुमूलपवज्जणंमि एस गुणो ।
दढया आणाकरणं, कम्मखओवसमवुड्ढी अ ।।1।।

``पहले से ही पच्चक्खाण लेने के परिणाम होने पर भी गुरु के पास जाने से परिणाम की दृढ़ता होती है, भगवान की आज्ञा का पालन होता है और कर्म से क्षयोपशम में वृद्धि होती है ।''

यदि सम्भव हो तो दिवस सम्बन्धी और चातुर्मास सम्बन्धी नियम भी गुरुसाक्षी से ग्रहण करने चाहिए । पाँच नामादि, बाईस मूल तथा 492 प्रतिद्वार सहित द्वादशावर्त वन्दन की विधि गुरुवन्दन भाष्य आदि से और दश प्रत्याख्यानादि, नौ मूल द्वार और 90 प्रतिद्वार सहित पच्चक्खाण की विधि पच्चक्खाण भाष्य आदि से समझ लेनी चाहिए । ऊपर तो सिर्फ पच्चक्खाण का लेश ही स्वरूप बतलाया है ।

पच्चक्खाण का फल

पच्चक्खाण इस लोक और परलोक दोनों में हितकारी है ।

धम्मिल कुमार ने छह मास आयंबिल का तप किया था । इसके फलस्वरूप बड़े श्रेष्ठी, राजा तथा विद्याधरों की बत्तीस कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ था, यह इहलोक फल समझना चाहिए ।

चार हत्याएँ करने वाला दृढ़ प्रहारी छहमास के तप के फलस्वरूप उसी भव में मुक्ति में गया, यह पारलौकिक फल समझना चाहिए । कहा भी है–

पच्चक्खाणंमि कए, आसवदाराइं हुंति पिहिआहिं ।
आसववुच्छेअण य, तण्हावुच्छेअणे हवइ ।।1।।
तण्हावुच्छेएणं, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं ।
अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ।।2।।
तत्तो चरित्तधम्मो, कम्मविवेगो अपुव्वकरणं तु ।
तत्तो केवलनाणं, तत्तो मुक्खो सयासुक्खो ।।3।।

पच्चक्खाण करने से आस्त्रवद्वार बन्द हो जाते हैं । आस्त्रव के उच्छेद से तृष्णा का उच्छेद होता है । तृष्णा के उच्छेद से मनुष्य अत्यन्त उपशान्त बनता है । अत्यन्त उपशम से पच्चक्खाण शुद्ध होता है । शुद्ध पच्चक्खाण से चरित्र धर्म की प्राप्ति होती है और चरित्र धर्म की प्राप्ति से कर्मों का क्षय होता है । कर्म के क्षय से क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ होता है और उससे **'केवल'** उत्पन्न होता है और केवलज्ञान के बाद शाश्वत सुख स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है ।

उसके बाद अन्य साधु-साध्वी आदि चतुर्विध-संघ को यथाविधि वन्दन करना चाहिए ।

जिनमन्दिर आदि में गुरु का आगमन हो तो उसी समय खड़े होकर उनका आदर-सत्कार करना चाहिए । **कहा भी है**–

``गुरु के दिखाई देने पर खड़े हो जाना चाहिए । वे सामने आ रहे हों तो उनके सम्मुख जाना चाहिए । दो हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहिए । उन्हें आसन प्रदान करना चाहिए । आसन पर गुरु जब तक नहीं बैठें तब तक स्वयं अपने आसन पर नहीं बैठना चाहिए । भक्तिपूर्वक गुरु की वन्दना करनी चाहिए । गुरु की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए और गुरु के जाने पर कुछ दूरी तक उन्हें पहुँचाने जाना चाहिए । इस प्रकार संक्षेप में गुरु का आदर-सत्कार जानना चाहिए ।

अविनय होने से गुरु के दोनों ओर तथा पीठ पीछे भी नहीं बैठना चाहिए । गुरु की जंघा का स्पर्श करते हुए भी नहीं बैठना चाहिए ।

श्रावक को गुरु-सन्मुख पलाठी लगाकर दोनों हाथों के बीच में दोनों घुटनों को लेकर तथा पैर लम्बे करके भी नहीं बैठना चाहिए । अन्यत्र कहा है-गुरु के पास पलाठी लगाना, दीवार के सहारे बैठना, पैर लम्बे करना, विकथा करना, अति हास्य करना-इत्यादि क्रियाओं का त्याग करना चाहिए ।

निद्दाविकहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं ।
भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेअव्वं ।।4।।

निद्रा और विकथा को छोड़कर मन, वचन और काया की गुप्ति का पालन करते हुए हाथ जोड़कर उपयोग सहित भक्ति और बहुमानपूर्वक गुरु का उपदेश सुनना चाहिए ।

गुरु की आशातनाओं से बचने के लिए सिद्धान्तोक्त विधि के अनुसार साढ़े तीन हाथ का अवग्रह छोड़कर उस अवग्रह क्षेत्र के बाहर जीव-जन्तु रहित भूमि पर बैठकर धर्मदेशना का श्रवण करना चाहिए ।

32. उपदेश श्रवण से लाभ

धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणघर्मनिर्वापी ।
गुरुवदनमलयनिःसृत-वचनरसश्चन्दनस्पर्श ।।1।।

कहा भी है– ``सद्गुरु के मुख रूप मलयाचल पर्वत से उत्पन्न चन्दनकरस समान गुरु-वचन की प्राप्ति धन्य पुरुषों को ही होती है । वह गुरुवचन विपरीत आचरण से उत्पन्न ताप का नाश करने वाला है ।''

धर्म-देशना-श्रवण से

1. अज्ञान और मिथ्याज्ञान का नाश होता है । 2. सम्यक् तत्त्वों का बोध होता है ।
3. संशयों का निवारण होता है । 4. धर्म में दृढ़ता आती है ।
5. व्यसन आदि उन्मार्ग से निवृत्ति होती है । 6. सन्मार्ग के विषय में प्रवृत्ति होती है ।
7. कषाय आदि दोषों का उपशमन होता है । 8. विनय आदि गुणों की प्राप्ति होती है ।
9. कुसंगति का त्याग होता है । 10. सत्संग की प्राप्ति होती है ।
11. संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है । 12. मोक्ष की इच्छा पैदा होती है ।
13. सम्यग् देशविरति और सर्वविरति धर्म की प्राप्ति होती है ।
14. सम्पूर्ण रीति से स्वीकृत देशविरति और सर्वविरति धर्म की एकाग्र मन से आराधना होती है ।

नास्तिक प्रदेशी राजा, आम राजा, कुमारपाल और थावच्चापुत्र आदि के दृष्टान्तों से भी धर्म देशना-श्रवण का लाभ ख्याल में आ जाता है । कहा भी है–

''जिनवाणी के श्रवण से मोह का नाश होता है । कुपथ का उच्छेद होता है । मोक्ष की इच्छा दृढ़ बनती है । उपशम फैलता है । वैराग्य और आनन्द की वृद्धि होती है । सच पूछा जाय तो जिनेश्वर की वाणी से क्या नहीं मिलता है ? अर्थात् सब कुछ प्राप्त होता है । ''

``शरीर क्षणभंगुर है, बान्धव बन्धन समान हैं, लक्ष्मी विविध अनर्थों को पैदा करने वाली है । अतः जिनवाणी से उत्पन्न संवेग आदि मनुष्य पर कौनसा उपकार नहीं करते हैं !''

प्रदेशी राजा

श्वेताम्बी नगरी में प्रदेशी नाम का राजा था और उसके चित्र नाम का मंत्री था । श्रावस्तीनगरी में चार ज्ञान के धारक केशी गणधर के पास चित्र ने श्रावक धर्म स्वीकार किया था । चित्र मंत्री के आग्रह से केशी गणधर श्वेताम्बी नगरी में पधारे ।

चित्र मंत्री एक दिन प्रदेशी राजा को घोड़े पर बिठाकर घूमने के बहाने केशी गणधर के पास ले गया ।

गर्व से राजा ने केशी गणधर को कहा–``हे महर्षि ! आप व्यर्थ ही कष्ट मत उठाओ । क्योंकि जगत् में धर्म आदि नहीं है । मेरी माता श्राविका थी और पिता नास्तिक थे । मरते समय मैंने उनको आग्रहपूर्वक कहा था, ``मृत्यु के बाद स्वर्ग में सुख अथवा नरक में दुःख हो तो मुझे कहना ।'' परन्तु मृत्यु के बाद न तो माता ने स्वर्ग के सुख की बात मुझे कही और न ही पिता ने नरक के दुःख की बात मुझे कही । इतना ही नहीं मैंने एक चोर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, परन्तु मुझे कहीं भी जीव दिखाई नहीं दिया । मैंने जीवित और मृत व्यक्ति को तौला परन्तु उनके वजन में कुछ भी परिवर्तन दिखायी नहीं दिया । मैंने एक पुरुष को छिद्र रहित कोठी में बन्द कर दिया और उसके ऊपर मजबूत ढक्कन लगा दिया । वह व्यक्ति अन्दर मर गया । उसके शरीर में मैंने असंख्य कीड़े देखे । उस कोठी में उस मनुष्य के जीव को बाहर आने और कीड़ों के अन्दर प्रवेश करने का लेश भी मार्ग नहीं था । -इस प्रकार अनेक परीक्षाओं के बाद मैं नास्तिक बना हूँ । ''

श्री केशी गणधर ने कहा-``तुम्हारी माता स्वर्गसुख में निमग्न होने के कारण नहीं आई और तुम्हारे पिता नरक की वेदना से आकुल होने के कारण यहाँ नहीं आये ।

``अरणि-काष्ठ में अग्नि होने पर भी उसके चाहे जितने टुकड़े कर दो तो भी उसमें अग्नि दिखाई नहीं देती है । उसी प्रकार शरीर के कितने ही टुकड़े कर दो तो भी जीव दिखाई नहीं देता है ।

``लुहार की धमण को खाली अथवा भरी तौलें तो भी उसमें कोई फर्क दिखाई नहीं देगा, उसी प्रकार जीवित और मृत शरीर के वजन में भी कोई फर्क नहीं पड़ता है ।

``बन्द कोठी में रहा व्यक्ति अन्दर रहकर शंख बजाये तो वह शब्द बाहर भी सुनाई देता है ।

जैसे- बन्द कोठी में से शब्द कैसे बाहर निकला, यह जान नहीं सकते हैं, उसी प्रकार कुम्भी में रहा मनुष्य का जीव कैसे बाहर निकला और कीड़ों ने कैसे प्रवेश किया, यह भी जान नहीं सकते हैं ।''

इस प्रकार अनेक युक्तियों से केशी गणधर ने जीव की सिद्धि आदि द्वारा प्रदेशी राजा को प्रति-बोध दिया तब राजा ने कहा- ``आपकी बात सत्य है किन्तु कुल-परम्परा से प्राप्त नास्तिकता को कैसे छोड़ूँ ?''

गुरु ने कहा- ***''जैसे व्यक्ति कुल-परम्परा से प्राप्त दरिद्रता, रोग और दुःख का त्याग करता है, उसी प्रकार नास्तिकता का भी त्याग कर देना चाहिए ।''***

आखिर गुरु के उपदेश से प्रदेशी राजा ने प्रतिबोध पाया और उसने श्रावकधर्म अंगीकार कर लिया ।

उस राजा के सूर्यकान्ता नाम की रानी थी । वह रानी पर-पुरुष में आसक्त हो गयी अतःएक दिन उसने पौषध के पारणे में प्रदेशी राजा को जहर खिला दिया ।

प्रदेशी राजा को इस बात का पता चला । उसने चित्र मन्त्री से बात कही । चित्र मंत्री के वचन से उसने अपने मन को समाधि में रखा और आराधना व अनशन कर सौधर्म देवलोक में सूर्याभ देव बना ।

इधर भयभीत बनी सूर्यकान्ता जंगल में भाग गयी और सर्पदंश से मरकर नरक में नारकी हुई ।

एक बार आमलकल्पा नगरी में वीर प्रभु का समवसरण रचा गया । उस समय सूर्याभदेव ने दायें हाथ में से एक सौ आठ कुमार और बायें हाथ में से एक सौ आठ कुमारिकाओं की रचना कर अत्यन्त भक्ति से प्रभु समक्ष आश्चर्यकारी दिव्य नाटक किया, फिर स्वर्गलोक में चला गया ।

उसके बाद गौतम स्वामी के पूछने पर प्रभु ने उसका पूर्व भव और भविष्य में महाविदेह में से सिद्धिपद-प्राप्ति की सब बातें कहीं ।

बप्पभट्टि सूरि महाराजा ने आम राजा को प्रतिबोध दिया । हेमचन्द्राचार्य जी ने कुमारपाल महाराजा को प्रतिबोध दिया । यह सब प्रसिद्ध ही है ।

थावच्चापुत्र

द्वारकानगरी में किसी अत्यन्त समृद्ध सार्थवाह का थावच्चापुत्र नाम का पुत्र था । बत्तीस कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ था । एक बार नेमिनाथ प्रभु के उपदेश को सुनकर थावच्चापुत्र को प्रतिबोध हुआ । वह दीक्षा के लिए तैयार हो गया । बहुत समझाने पर भी जब वह नहीं रुका तो पुत्र के दीक्षा महोत्सव के लिए थावच्चा माता ने श्रीकृष्ण के पास राजचिह्नों की याचना की ।

उसके घर आकर श्रीकृष्ण ने थावच्चापुत्र को समझाया, ``दीक्षा मत लो । अनुकूल सामग्री का भोग करो ।''

थावच्चापुत्र ने कहा- ``भयभीत को भोग कैसे पसन्द पड़े ?''

कृष्ण ने पूछा- ``मेरे रहते तुझे किससे भय है ?''

उसने कहा- ``मृत्यु से ।''

इत्यादि प्रकार से उसकी परीक्षा करके कृष्ण ने उसकी दीक्षा का भव्य महोत्सव किया और उसने भी एक हजार अन्य राजकुमारों के साथ दीक्षा स्वीकार की । दीक्षा लेने के बाद थावच्चापुत्र क्रमशः चौदहपूर्वी बने ।

सेलकपुर में पाँच सौ मंत्रियों सहित सेलक राजा को श्रावक बनाकर थावच्चापुत्र आचार्य सौगन्धिका नगरी में पधारे ।

उस नगरी में व्यास का पुत्र शुक परिव्राजक एक हजार शिष्यों के साथ रहता था । वे परिव्राजक त्रिदण्ड, कमण्डल, छत्र, त्रिकाष्ठी, अंकुश, पवित्रक तथा केसरी नाम की वस्तु अपने हाथ में रखते थे । उनके वस्त्र गेरुए रंग के थे । वे सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच व्रत (यम) और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर-प्रणिधान इन पाँच नियमों को मिलाकर शौच-मूलक दस प्रकार के परिव्राजक धर्म का पालन करते थे और दानधर्म की प्ररूपणा करते थे ।

उसकी प्रेरणा से सुदर्शन नामक नगरसेठ ने शौचधर्म स्वीकार किया था । थावच्चापुत्र आचार्य ने उसे पुनः प्रतिबोध दिया और उसे विनयमूलक जैनधर्म स्वीकार कराया ।

सुदर्शन सेठ की उपस्थिति में शुक परिव्राजक और थावच्चापुत्र आचार्य के बीच इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए-

शुक परिव्राजक :- `` हे भगवन ! सरिसवय भक्ष्य है या अभक्ष्य है ? ''

थावच्चापुत्र :- ``हे परिव्राजक ! सरिसवय भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है ।''

सरिसवय दो प्रकार के हैं- मित्र सरिसवय (सदृशवय) और धान्य सरिसवय (सर्षप) । मित्र सरिसवय तीन प्रकार के हैं- एक साथ उत्पन्न हुए, एक साथ वृद्धि पाये हुए और बाल्य वय से धूल में एक साथ खेले हुए । ये तीनों प्रकार के सरिसवय साधु के लिए अभक्ष्य हैं । धान्य सरिसवय दो प्रकार के हैं- शस्त्र से परिणात और शस्त्र से अपरिणत । शस्त्र-परिणत सरिसवय दो प्रकार के हैं- प्रासुक और अप्रासुक । प्रासुक सरिसवय दो प्रकार के हैं- याचित और अयाचित । याचित सरिसवय दो प्रकार के हैं- एषणीय और अनेषणीय । एषणीय सरिसवय दो प्रकार के हैं- लब्ध और अलब्ध ।

``इस प्रकार धान्य सरिसवय में शस्त्र से अपरिणत, अप्रासुक, अयाचित, अनेषणीय और अलब्ध अभक्ष्य हैं और शेष सभी प्रकार के सरिसवय साधु के लिए भक्ष्य हैं ।

``इसी प्रकार कुलत्थ और मास के लिए भी समझ लेना चाहिए । इसमें इतना विशेष है- मास तीन प्रकार के हैं- कालमास (महीना), अर्थमाश (सोने-चांदी की एक विशेष तौल) और धान्यमाष (उड़द) ।''

इस प्रकार थावच्चापुत्र आचार्य से प्रतिबोध पाकर अपने एक हजार शिष्य-परिवार सहित शुक परिव्राजक ने दीक्षा स्वीकार की । थावच्चापुत्र आचार्य अपने एक हजार शिष्यों के साथ शत्रुंजय महातीर्थ पर सिद्धिपद को प्राप्त हुए ।

उसके बाद शुक्राचार्य ने पन्थक आदि पाँच सौ मन्त्रियों के साथ सेलकपुर के राजा सेलक को प्रतिबोध देकर दीक्षा प्रदान की । उसके बाद शुक्राचार्य भी मोक्ष में चले गये ।

सेलकमुनि ग्यारह अंगों के ज्ञाता बने और अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ पृथ्वीतल पर विचरने लगे । इसी बीच हमेशा रूखा आहार लेने के कारण सेलकमुनि खुजली व पित्तरोग से ग्रस्त हो गये ।

वे विहार करते हुए सेलकपुर में आये । वहाँ उनका सांसारिक पुत्र मंडूक राजा था । राजा ने उन्हें अपनी वाहनशाला में रखा ।

प्रासुक औषध और पथ्य आहार का योग मिलने से सेलक मुनि शीघ्र रोग मुक्त हो गये, फिर भी स्निग्ध आहार की लोलुपता के कारण वहाँ से विहार न कर वहीं रुक गये । सेलक मुनि की वैयावच्च के लिए पंथक मुनि को रखकर अन्य सब मुनियों ने वहाँ से विहार कर दिया ।

एक बार कार्तिक चौमासी के दिन सेलक मुनि यथेच्छ आहार खाकर सो गये । प्रतिक्रमण का समय हुआ तब पंथक मुनि ने क्षमापना के लिए उनके चरणों में अपने मस्तक का स्पर्श किया । पंथक के देह-स्पर्श से सेलक मुनि की निद्रा भंग हो गयी और वे गुस्से में आ गये । तब पंथक मुनि ने कहा- ``भगवन् ! चातुर्मास में हुए अपराधों की क्षमा-याचना के लिए मैंने आपके चरणों का स्पर्श किया था ।''

पंथक मुनि के इन वचनों को सुनते ही सेलक मुनि की मोह-निद्रा उड़ गई । उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ । वे सोचने लगे- ``रस में आसक्त बने, ऐसे मुझको धिक्कार हो ।'' इस प्रकार जागृत बनकर उन्होंने तुरन्त ही वहाँ से विहार कर दिया ।

उसके बाद दूसरे शिष्य भी इकट्ठे हो गये । सभी शत्रुंजय तीर्थ पर पहुँचे और वहीं से सब मोक्ष में पधारे ।

33. ज्ञान और क्रिया का समन्वय

इस कारण प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनना चाहिए और उसके अनुसार यथाशक्ति उद्यम करना चाहिए । क्योंकि औषध व भोजन के ज्ञान मात्र से कभी आरोग्य-प्राप्ति या तृप्ति नहीं होती है, किन्तु उसके उपयोग से ही आरोग्य-प्राप्ति व तृप्ति होती है । **कहा भी है** –

''क्रिया ही फलदायी है, सिर्फ ज्ञान फलदायी नहीं बन सकता । स्त्री, भक्ष्य और भोग को जानने मात्र से कोई उसके सुख का अनुभव नहीं कर पाता है ।''

तैरने की क्रिया में निष्णात होने पर भी यदि व्यक्ति अपने हाथ पैर नहीं हिलाये तो वह व्यक्ति नदी में डूब ही जाता है । क्रिया हीन ज्ञानी की भी यही हालत होती है ।

दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि में भी कहा है- जो अक्रियावादी है, वह भव्य हो या अभव्य, परन्तु निश्चय से कृष्णपाक्षिक है । क्रियावादी तो निश्चय से भव्य ही होता है और निश्चय से शुक्लपाक्षिक होता है । वह

समकिती हो या असमकिती, एक पुद्गलपरावर्त के भीतर अवश्य सिद्धिपद प्राप्त करता है, अतःक्रिया करना श्रेयस्कर है ।

ज्ञानरहित क्रिया भी फलदायी नहीं होती है । **कहा भी है** –

अज्ञान के द्वारा जो कर्मक्षय होता है वह मंडूक चूर्ण की भाँति समझना चाहिए । तालाब आदि सूख जाने पर मृत मेंढ़क के कलेवर के जितने टुकड़े हो जाते हैं, उन पर पानी आदि पड़ने पर उतने ही नये मेंढ़क पैदा होते हैं । यानी अज्ञानता से थोड़े कर्मों का क्षय होता है और सम्यग्ज्ञान नहीं होने की वजह से अज्ञानी कई अधिक कर्मों का बंधन करता है । उससे भवभ्रमण बढ़ जाता है । सम्यग्ज्ञान युक्त क्रिया मंडूक के चूर्ण की राख समान समझनी चाहिए । अर्थात् सम्यग्क्रिया से भव का अन्त ही हो जाता है ।

``अज्ञानी व्यक्ति करोड़ों वर्षों के तप-जप द्वारा जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्म मन, वचन और काया की गुप्ति से गुप्त ज्ञानी श्वास मात्र में खपा देता है ।''

इसी कारण तामली और पूरण आदि तापस अत्यन्त तप-क्लेश सहने पर भी ईशानेन्द्र और चमरेन्द्रपने के अल्प फल को ही प्राप्त कर सके ।

श्रद्धारहित सिर्फ ज्ञान से अंगारमर्दकाचार्य की तरह सम्यक्क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती है । **कहा भी है**–

ज्ञानरहित पुरुष की क्रिया निष्फल है, क्रियारहित पुरुष का ज्ञान निष्फल है और श्रद्धारहित पुरुष का ज्ञान और क्रिया दोनों निष्फल हैं । ज्ञानरहित पुरुष अंधे के समान है । क्रियारहित पुरुष पंगु के समान है और श्रद्धारहित पुरुष गलत रास्ते पर चलने की इच्छा रखने वाले पुरुष के समान है । ऐसे तीनों पुरुष अन्तराय रहित अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते ।

उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सुभग संयोग प्राप्त होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है । अतः इन तीनों की आराधना के लिए उद्यम करें, यही तात्पर्य है ।

34. गोचरी-निमन्त्रण

जिनवाणी के श्रवण के बाद साधु भगवन्त की सेवा आदि के लिए उनकी संयमयात्रा आदि की सुखसाता पूछनी चाहिए । वह इस प्रकार-

``हे भगवन्त ! आपकी संयमयात्रा सुखपूर्वक चल रही है ? गत रात्रि सुखपूर्वक व्यतीत हुई ? आप शरीर से स्वस्थ हैं ? आपके शरीर में कोई पीड़ा तो नहीं है ? हमारे योग्य कोई कार्य है? क्या किसी वैद्य अथवा औषध का प्रयोजन है ? क्या आहार के विषय में किसी पथ्य औषधअनुपान की आवश्यकता है ?'' इस प्रकार के प्रश्न करने से महानिर्जरा होती है । **कहा भी है**–

``गुरु के सम्मुख जाने से, वन्दन करने से, नमस्कार करने से तथा सुखसाता पूछने से अनेक वर्षों में संचित किये हुए पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं ।''

पहले गुरुवंदन के प्रसंग पर **'इच्छकार सुहराई सुखतप सरीर-निराबाध'** इत्यादि प्रश्न करने पर भी यहाँ सम्पूर्ण जानकारी के लिए और उसके उपाय के लिए विशेष पृच्छा की जाती है ।

अतः गुरु के चरणों में प्रणाम कर **'इच्छाकारि'** इत्यादि पाठ बोलना चाहिए ।

उस पाठ का भावार्थ इस प्रकार है–

''हे भगवन् ! मुझ पर कृपा कर अचित्त और कल्प्य आहार, पानी, खादिम और स्वादिम वस्तु, वस्त्र, पात्र, कम्बल, आसन, तथा कार्य-समाप्ति के बाद वापस लौटाने योग्य यानी मर्यादित समय के लिए जो उपयोग में लिये जाते हैं; ऐसे पाट, पाटला, शय्या, संथारा, औषध, भैषज्य आदि ग्रहण कर अनुग्रह करो ।'' इस प्रकार प्रगट रूप से निमन्त्रण देना चाहिए ।

पैर फैलाकर सो सकते हैं, उसे शय्या कहते हैं । संथारा तो उस से थोड़ा छोटा होता है । एक द्रव्य से बना औषध कहलाता है । अनेक द्रव्यों से बना भैषज्य होता है । वर्तमान काल में श्रावक बृहद् वन्दन के बाद इस प्रकार का निमन्त्रण देते हैं । जिसने गुरु के साथ प्रतिक्रमण किया हो वह तो सूर्योदय के बाद अपने घर जाते समय निमन्त्रण देते है । जिसने गुरु के साथ प्रतिक्रमण नहीं किया हो, वह जब गुरु को वन्दन के लिए आये तब इस प्रकार से निमन्त्रण करे ।

मुख्यतया तो दूसरी बार जिनपूजा के समय प्रभु-समक्ष नैवेद्य आदि चढ़ाकर भोजन के लिए अपने घर जाते समय पुनःगुरु के पास उपाश्रय में आकर निमन्त्रण देना चाहिए । यह बात श्राद्धदिन-कृत्य आदि में लिखी गयी है ।

उसके बाद यथावसर वैद्य आदि के पास गुरु आदि की चिकित्सा करावे, औषध आदि प्रदान करे । जो भी योग्य पथ्य हो, वह पथ्य प्रदान करे । अन्य भी कोई कार्य हो तो करे । **कहा भी है** –

''ज्ञानादि गुणों की सहायता हेतु साधुओं को जो-जो आहार, औषध और वस्त्र आदि देय योग्य हो वह-वह वस्तु देनी चाहिए ।''

जब अपने घर साधु गोचरी बहोरने के लिए पधारे तब उनके योग्य जो-जो पदार्थ हो, उन पदार्थों को बहोरने हेतु उनके नाम कहें । यदि ऐसा न करे तो पहले की हुई निमन्त्रणा निष्फल जाती है और नाम कहने पर भी साधु नहीं बहोरे तो भी श्रावक को पूरा लाभ मिलता ही है । **कहा भी है**–

``मन से भी पुण्य होता है, वचन से (निमंत्रण करने से) अधिक पुण्य होता है और काया से सामग्री प्रदान करने से वह (दान) कल्पवृक्ष की तरह फलदायी बनता है ।''

मुँह से यदि नहीं कहा जाय तो कोई वस्तु दिखाई देने पर भी साधु भगवन्त नहीं बहोरते हैं, इससे बहुत बड़ा नुकसान होता है । इस प्रकार निमन्त्रण देने पर कदाचित् गुरु भगवन्त नहीं पधारें तो भी निमन्त्रण देने वाले को तो पुण्य होता है और भावों की अधिकता हो तो विशेष पुण्य होता है ।

जीर्ण श्रेष्ठी

विशाला नगरी में जीर्ण नाम का एक श्रेष्ठी छद्मस्थ अवस्था में चार मास के उपवास करके प्रतिमा में रहे वीर प्रभु को पारणे के लिए पधारने हेतु प्रतिदिन आमन्त्रण देता था ।

चार माह के अन्त में, **'आज तो पारणा होगा ही'** इस प्रकार मानकर जीर्ण श्रेष्ठी प्रभु को आमन्त्रण देकर अपने घर आया और भावना करने लगा कि अहो ! मुझे ध्यान है, आज प्रभु मेरे घर पधारेंगे और पारणा करेंगे । इस प्रकार की भावना से उसने अच्युत देवलोक के आयुष्य का बंध किया ।

परन्तु पारणा तो प्रभु ने मिथ्यादृष्टि अभिनव श्रेष्ठी के घर भिक्षाचर की रीति से दासी द्वारा विलाए गये उड़द के बाकुले से किया । उसी समय पंच दिव्य प्रगट हुए । यदि उस समय जीर्ण श्रेष्ठी ने देवदुन्दुभि की आवाज नहीं सुनी होती तो उसे उसी समय केवलज्ञान हो जाता, ऐसा ज्ञानियों का वचन है । यह गुरु-निमन्त्रण पर जीर्ण श्रेष्ठी का दृष्टान्त है ।

आहार आदि बहोराने के विषय में शालिभद्र आदि का और (औषध के दान में) भगवान महावीर प्रभु को औषधदान के विषय में जिन नाम कर्म का बंध करने वाली रेवती श्राविका का दृष्टान्त समझना चाहिए ।

35. ग्लान सेवा

ग्लान साधु की सेवा (वैयावच्च) करने में महान् लाभ है ।

आगम में कहा है–

''जो ग्लान की सेवा करता है, वही सच्चा सम्यग्दृष्टि है और जो सच्चा सम्यग्दृष्टि है वह ग्लान की सेवा करता ही है ।''

अरिहन्त की आज्ञा का पालन यही सम्यग्दर्शन है ।

वैयावच्च के विषय में कृमि और कोढ़ के रोग से पीड़ित साधु की वैयावच्च करने वाले श्री ऋषभदेव प्रभु के जीव जीवानन्द वैद्य का दृष्टान्त समझना चाहिए ।

साधु भगवन्तों को उतरने के लिए वसति (उपाश्रय) आदि का दान करना चाहिए । **कहा भी है**–

वसही सयणासणभत्तपाणभेसज्जवत्थपत्ताई ।
जइवि न पज्जत्तधणो, थोवावि हु थोवयं देइ ।।1।।

जो देइ उवस्सयं जइवराण तवनिअमजोगजुत्ताणं ।
तेणं दिन्नावत्थन्नपाणसयणासणविगप्पा ।।2।।

''स्वयं अधिक समृद्ध न हो तो थोड़ी भी वसति, शय्या, आसन, भोजन, पान, औषधि, वस्त्र तथा पात्र आदि का दान करना चाहिए ।''

``तप-नियम के योग से युक्त मुनियों को जो उपाश्रय प्रदान करता है, उसने वस्त्र, अन्न, पान, शयन और आसन आदि सब कुछ दे दिया है, क्योंकि उपाश्रय मिलने पर ही आहार, स्वाध्याय, शयन आदि होते हैं । साधु को वसतिदान करने से जयन्ती श्राविका, वंकचूल, अवन्ति सुकुमाल, कोशा आदि संसार-सागर से तर गये ।

श्रावक अपनी सर्वशक्ति से साधुओं की निन्दा आदि करने में तत्पर ऐसे जिनप्रवचन के दुश्मनों का प्रतिकार करता है । **कहा भी है**–

''शक्ति हो तो (प्रभु) आज्ञाभंजकों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, बल्कि मीठे वचन अथवा कटु वचन आदि से भी उन्हें सीख देनी चाहिए ।''

जिस प्रकार अभयकुमार ने द्रमक मुनि के निन्दकों को अपनी बुद्धि से रोका था, उसी प्रकार जिन-शासन के निन्दकों को रोकना चाहिए ।

साधु भगवन्त की तरह साध्वी भगवन्त को भी सुखसाता आदि पूछनी चाहिए । इसमें विशेष इतना है कि दु:शील और नास्तिकों से साध्वी का रक्षण अवश्य करना चाहिए । अपने घर के समीप अत्यन्त सुरक्षित (गुप्त) स्थान में उन्हें वसति प्रदान करनी चाहिए ।

अपनी स्त्री आदि द्वारा साध्वीजी की सेवा-वैयावच्च करानी चाहिए । अपनी पुत्री आदि को उनके पास रखना चाहिए और यदि वह दीक्षा के लिए तैयार हो तो उसे साध्वी भगवन्त को सौंप देनी चाहिए ।

विस्मृत हुए कर्त्तव्य उन्हें पुनः याद करायें । अनुचित प्रवृत्ति से उन्हें बचायें । एक बार अनुचित प्रवृत्ति करे तो समझाये और पुनः गलत प्रवृत्ति करे तो कठोर शब्दों से ताड़ना-तर्जना करें । इसके साथ ही उचित वस्तु से उनकी सेवा-भक्ति भी करें ।

36. शास्त्र-अध्ययन

गुरु के पास नवीन शास्त्र-अध्ययन करना चाहिए । **कहा भी है–**

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य वि (च) वर्द्धनम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ।।1।।
सन्तोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः,स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु चैव न कर्त्तव्यो, दाने चाध्ययने तपे ।।2।।
गृहीत इव केशेषु, मृत्युना धर्ममाचरेत् ।
अजरामरवत्प्राज्ञो, विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् ।।3।।
जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुअमपुव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाए ।।4।।
जो इह पढइ अपुव्वं, स लहइ तित्थंकरत्तमन्नभवे ।
जो पुण पाढेइ परं, सम्मसुअं तस्स किं भणिमो ? ।।5।।

``(प्रातः) अंजन के क्षय और वल्मीक की वृद्धि को देखकर दान देना चाहिए और नवीन अभ्यास करके दिन को सफल करना चाहिए ।'' ।।1।।

''अपनी पत्नी, भोजन और धन में (सदा) सन्तोष रखना चाहिए, परन्तु दान, अध्ययन और तप में कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए ।'' ।।2।।

``अपने मस्तक की चोटी यमराज के हाथों में है, ऐसा मानकर अप्रमत्त भाव से धर्म में उद्यत रहना चाहिए । विद्या और अर्थ की प्राप्ति के समय **''मैं अजर हूँ, अमर हूँ''** समझकर प्रयत्नशील बने रहना चाहिए ।'' ।।3।।

''अतिशय रस से भरे हुए अपूर्व श्रुत का ज्यों-ज्यों अध्ययन करते हैं, त्यों-त्यों मुनि नवीन श्रद्धा और संवेग से आनन्दित बनते जाते हैं ।'' ।।4।।

``जो अभिनव श्रुत को पढ़ता है वह आगामी भवों में तीर्थंकर पद प्राप्त करता है । जो दूसरों को सम्यग् श्रुत पढ़ाता है, उसकी तो क्या बात करें ?'' ।।5।।

बहुत ही अल्प बुद्धि होने पर भी पाठ (अध्ययन) में उद्यमशील माषतुष आदि मुनियों को उसी भव में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । अतः निरन्तर नये-नये अभ्यास में प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

37. द्रव्य-उपार्जन

जिनपूजा के कर्त्तव्य-पालन के बाद ही श्रावक द्रव्य उपार्जन का प्रयत्न करे ।

यदि स्वयं राजा या मंत्री हो तो राजसभा में और वणिक् आदि हो तो बाजार या दुकान में जाकर अपने-अपने योग्य स्थान में रहकर धर्म से अविरुद्ध आचरण द्वारा अर्थार्जन करे ।

दरिद्र और धनवान, मान्य और अमान्य, उत्तम और अधम में किसी भी प्रकार का भेद किये बिना मध्यस्थ दृष्टि से न्याय करना, यह राजा के लिए धर्म-अविरुद्ध वर्तन है ।

यशोवर्म

कल्याणकटकपुर में न्यायनिष्ठ यशोवर्म नाम का राजा राज्य करता था । उसने अपने राजभवन के द्वार पर न्याय-घण्ट बँधवाया था ।

एक बार राज्य की अधिष्ठात्री देवी ने राजा की परीक्षा करने का निर्णय लिया । तत्काल देवी ने गाय का रूप धारण किया और ताजे जन्मे बछड़े के साथ क्रीड़ा करती हुई वह राजमार्ग में खड़ी रही । इसी बीच राजपुत्र तेज रफ्तार से दौड़ती हुई घोड़ागाड़ी में बैठकर उस राजमार्ग से निकला । अत्यन्त वेग के कारण उसकी गाड़ी का चक्र नवजात बछड़े के पैरों पर चलने से तत्काल उस बछड़े की मृत्यु हो गयी ।

बछड़े की मृत्यु देखकर वह गाय जोर से चिल्लाने लगी और रोने लगी । उसी समय किसी ने उसे कहा, ``तुम राजद्वार पर जाकर न्याय की याचना करो ।''

यह सुनकर वह गाय राजद्वार पर चली गयी, उसने अपने सींगों से घण्टा बजा दिया । राजा उस समय भोजन कर रहा था, घण्टे के शब्द सुनकर वह बोला- ``अरे ! यह घण्टा कौन बजा रहा है ?''

सेवकों ने देखकर कहा- ``कोई नहीं है स्वामिन् ! आप भोजन करें ।''

राजा ने कहा- ``निर्णय के बिना कैसे भोजन किया जाय ?''

राजा भोजन के थाल को छोड़कर द्वार पर आया और किसी पुरुष के बजाय एक गाय को देखकर बोला- ``क्या किसी ने तुम्हारा पराभव किया है ? वह मुझे बताओ ।''

वह गाय आगे बढ़ी और राजा उसके पीछे-पीछे चला । उसने अपना मृत बछड़ा दिखाया ।

राजा ने कहा- `जिसने वह गाड़ी चलायी है, वह मेरे सामने आये ।''

उस समय सब मौन हो गये । राजा ने कहा- ``मैं तभी भोजन करूंगा, जब इस बात का न्याय हो जायेगा ।''

राजा को उस दिन लंघन (उपवास) हुआ । प्रातःकाल राजकुमार ने आकर कहा–

``पिताजी ! मैं अपराधी हूँ, आप मुझे योग्य दण्ड दें ।''

राजा ने स्मृति के जानकारों को बुलाया और उनसे पूछा, ``इसे क्या दण्ड दिया जाय ?''

उन्होंने कहा- ``राजन् ! राज्य के योग्य एक ही तो पुत्र है, उसे क्या दण्ड दिया जाय ?''

राजा ने कहा- ``किसका राज्य और किसका पुत्र ? मेरे लिए तो न्याय ही महान् है ।'' **कहा भी है**– ``दुष्ट को दण्ड, सज्जन का सत्कार, न्याय से कोष की वृद्धि, अपक्षपात और दुश्मनराष्ट्र से रक्षा, ये पाँच राजा के यज्ञ कहे गये हैं ।''

सोमनीति में कहा गया है- ``अपराध के अनुरूप दण्ड तो पुत्र को भी देना चाहिए ।''

``अतःजो भी दण्ड योग्य हो वह कहो ।'' इस प्रकार कहने पर भी जब वे मौन रहे तब राजा ने मनोमन निश्चय किया- ``जो दूसरे के साथ जैसा व्यवहार करता है, वैसा ही व्यवहार उसके साथ करना चाहिए । अपराध के अनुसार दण्ड देना चाहिए ।''

इस प्रकार विचार कर राजा ने स्वयं गाड़ी मँगवाई और राजपुत्र को कहा- ``तुम मार्ग में लेट जाओ ।''

राजकुमार भी विनीत होने से उसी समय लेट गया ।

राजा ने आदेश दिया- ``इसके ऊपर वेग से गाड़ी चलायी जाय ।'' परन्तु कोई भी व्यक्ति गाड़ी चलाने के लिए तैयार नहीं हुआ । तब दूसरों के द्वारा रोकने पर भी राजा स्वयं उस गाड़ी में बैठकर पुत्र के पैरों पर गाड़ी चलाने को तत्पर हुआ, तभी देवी प्रगट हुई और उसने पुष्पवृष्टि की । उस समय न वहाँ गाय थी और न बछड़ा ।

देवी ने कहा- ``राजन् ! मैंने तुम्हारी परीक्षा ली । प्राणप्रिय इकलौते पुत्र से भी तुम्हें न्याय प्रिय है अतःतुम निर्विघ्नतया दीर्घकाल तक राज्य करो ।'' यह न्याय पर दृष्टान्त है ।

यदि स्वयं मंत्री हो तो राजा और प्रजा उभय का हित हो सके और धर्म में बाधा न आये, इस प्रकार करे; जैसा कि अभयकुमार व चाणक्य आदि ने किया था ।

कहा भी है– ``राजा का हित करे और प्रजा की उपेक्षा करे, तो लोक में द्वेष-विरोध पैदा होते हैं और प्रजा का हित करे एवं राजा की उपेक्षा करे तो राजा नौकरी ही छुड़ा देता है । इस प्रकार दोनों को सम्हालने में बड़ी कठिनाई है । इसी कारण उभय (राजा व प्रजा) का हितकर्त्ता मिलना अत्यन्त ही दुर्लभ है ।''

38. व्यापार-विधि

व्यवहार-शुद्धि आदि के परिपालन से व्यापारी धर्म-अविरुद्ध जीवन जी सकता है । **मूल गाथा में कहा है**–

''श्रावक व्यवहार की शुद्धि से, देश आदि के विरुद्ध के त्याग से, उचित आचरण के पालन से अपने धर्म का निर्वाह करता हुआ अर्थ-चिन्ता करे ।''

व्यवहार-शुद्धि अर्थात् अर्थार्जन के उपाय की शुद्धि । मन, वचन और काया के कपट बिना अर्थार्जन करना व्यवहार-शुद्धि है । व्यापार करते समय देश आदि के विरुद्ध प्रवृत्ति के त्याग और उचित आचार के पालन पूर्वक तथा स्वीकार किये गये व्रत-अभिग्रहों के पालनपूर्वक व्यापार आदि करना चाहिए न कि लोभ और ग्रहण किये गये नियमों के विस्मरण से धर्म को बाधा पहुँचाते हुए ।

``दुनिया में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो धन से सिद्ध नहीं होती हो । अतःबुद्धिमान् व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक एक अर्थ को ही सिद्ध करता है ।''

यहाँ **'अर्थचिन्ता'** ● अनुवाद्य है । क्योंकि वह तो अनादि संस्कार के कारण स्वयंसिद्ध ही है, परन्तु वह अर्थचिंता धर्म के नियमों के पालनपूर्वक हो, इसी बात का यहाँ विधान करना है ।

'इहलोइअंमि कज्जे, सव्वारंभेण जह जणो जयइ ।
तह जइ लक्खंसेण वि, धम्मे ता किं न पज्जत्तं ।।1।।''

कहा भी है– ``इस लोक के कार्यों में व्यक्ति सर्व आरम्भ से प्रयत्न करता है । उसका एकलाखवाँ भाग भी प्रयत्न धर्म के लिए करे तो उसे क्या नहीं मिल सकता ! ''

39. आजीविका के सात उपाय

आजीविका के सात उपाय हैं (1) व्यापार (2) विद्या (3) खेती (4) पशुपालन (5) शिल्प (6) सेवा और (7) भिक्षा ।

(1) वणिक् लोग व्यापार से, वैद्य आदि अपनी विद्या से, किसान खेती से, गो-पालक पशुपालन से, सुथार, शिल्पी आदि शिल्प से, सेवक लोग सेवा से और भिखारी भिक्षा से अपनी आजीविका चलाते हैं ।

अनाज, घी, तेल, कपास, सूत, वस्त्र, लोहा, तांबा, पीतल आदि धातु, मणि, मोती, सिक्के आदि अनेक वस्तुओं का व्यापार होता है । लोक में किराणे की 360 वस्तुएँ प्रसिद्ध हैं । उन वस्तुओं के भेद-प्रभेद किये जाँय तो संख्या बहुत बड़ी हो जाये । ब्याज से रकम देना, गिरवी रखना आदि भी व्यापार के अन्तर्गत ही आते हैं ।

(2) औषध, रस, रसायन, अंजन, वास्तु, शकुन-निमित्त, सामुद्रिक, चूड़ामणि, धर्म, अर्थ, काम, ज्योतिष, तर्क आदि के भेद से अनेक प्रकार की विद्याएँ हैं । इसमें वैद्यविद्या और पंसारी (दवाई की दुकान) के व्यापार में दुर्ध्यान की सम्भावना होने से ये विशेष लाभकारी नहीं हैं । यद्यपि धनवान की बीमारी में वैद्य और पंसारी (दवाई वाले) को अधिक लाभ होता है और बहुमान आदि भी होता है । कहा है- ``रोगी के लिए वैद्य पिता समान है ।'' कहीं लिखा भी है- रोगी के लिए वैद्य मित्र है । ऋद्धिमान को चाटुकार (चापलूसी करने वाले) मित्र है, दुःख से पीड़ित को मुनि मित्र समान है और क्षीण सम्पत्ति वाले को ज्योतिषी मित्र समान है ।

● **न्यायकोश में अनुवाद्यता-'प्रमाणान्तरसिद्धस्य किञ्चिद्धर्म विधानार्थं पुनरुपन्यास्यता ।' जो वस्तु सिद्ध हो उसी के बारे में कुछ विशेष बताने हेतु वापस उल्लेख किया जाता है, ऐसी वस्तु सिद्ध हो उसी के बारे में कुछ विशेष बताने हेतु वापस उल्लेख किया जाता है, ऐसी वस्तु को 'अनुवाद्य' कहते हैं । जैसे-प्रस्तुत में 'अर्थचिन्ता' (धन का उपार्जन) ।**

``रोगिणां सुहृदो वैद्याः, प्रभूणां चाटुकारिणः ।
मुनयो दुःखदग्धानां, गणकाः क्षीणसंपदाम् ।।1।।
पण्यानां गान्धिकं पण्यं, किमन्यैः काञ्चनादिकैः? ।
यत्रैकेन गृहीतं यत् तत्सहस्त्रेण दीयते ।।2।।

विक्रेयवस्तु में पंसारी की ही विक्रेयवस्तु प्रशंसनीय है । सोना-चांदी वगैरह से क्या लाभ ? पंसारी की विक्रेयवस्तु एक रुपये में ली हो तो कभी-कभी वह हजार में बेची जाती है ।

फिर भी जिसको जिससे लाभ होता है, वह उसी की इच्छा करता है । **कहा है**–

``सैनिक युद्ध चाहते हैं, वैद्य रोग से पीड़ित लोग चाहते हैं, ब्राह्मण बहुतों के मरण की इच्छा करते हैं और निर्ग्रन्थ सुकाल चाहते हैं ।''

धन पाने की इच्छा से जो वैद्य- **'लोग बीमार पड़ें'** ऐसी इच्छा करता है, वह रोगियों को विरुद्ध औषध देकर उनके रोग को बढ़ावा भी दे सकता है क्योंकि ऐसे वैद्य में दया कहाँ से होगी ?

कुछ वैद्य तो साधु, दरिद्र, अनाथ और मृत्यु शय्या पर पड़े लोगों से भी जबरन धन पाने की इच्छा करते हैं, अभक्ष्य औषधि आदि करवाते हैं और द्वारका नगरी के अभव्य वैद्य धन्वन्तरि की तरह विविध औषधियों आदि के कपट से लोगों को ठगते हैं । ऐसे वैद्य तो स्व-पर का नुकसान ही करते हैं ।

जो वैद्य अच्छी प्रकृति (स्वभाव वाले) होते हैं, अल्प लोभी और परोपकारी होते हैं उनकी वैद्य-विद्या ऋषभदेव के जीवानन्द वैद्य की तरह उभय लोक के लिए हितकारी होती है ।

(3) खेती तीन प्रकार से होती है– (1) वर्षा के जल से, (2) कुए के जल से, (3) वर्षा और कुए के जल से ।

(4) गाय, भैंस, बकरी, ऊँट, बैल, घोड़ा, हाथी आदि के भेद से पशुपालन अनेक प्रकार का है ।

कृषि और पशु-पालन विवेकीजन के लिए उचित नहीं है । **कहा भी है**– ``हाथी के दाँतों पर राजा की लक्ष्मी, बैल के स्कन्ध पर पामरजनों की लक्ष्मी, तलवार की धार पर सैनिकों की लक्ष्मी और स्तन पर वेश्याओं की लक्ष्मी रही हुई है ।''

यदि अन्य कोई उपाय न हो और खेती करनी पड़े तो अनाज बोने के समय आदि का ध्यान रखना चाहिए और पशुपालन करना पड़े तो मन में बहुत दया रखनी चाहिए । **कहा भी है**– ``जो किसान बोने के समय को अच्छी तरह से जानता है, खेती के योग्य भूमि को बराबर पहिचानता है अपने खेत में न होने वाली फसल को नहीं बोता है और मार्ग की भूमि को छोड़ देता है, वह हर तरह से वृद्धि पाता है ।''

``धन के लिए यदि पशुपालन करना पड़े तो दया भाव का त्याग न करे और पशुओं के कार्य में स्वयं जागृत रहकर चर्मच्छेद आदि का त्याग कराये ।''

(5) शिल्प सौ प्रकार का है । कहा है- कुम्भकार, लुहार, चित्रकार, जुलाहा और नापित (हज्जाम) के मुख्य पाँच शिल्प हैं, इन सब के बीस-बीस भेद होते हैं । प्रभेद विवक्षा से तो इससे भी अधिक भेद हो जाते हैं । आचार्य के उपदेश से जन्य शिल्प कहलाता है और वे ऋषभदेव स्वामी के उपदेश से प्रवृत्त हुए हैं ।

आचार्य के उपदेश बिना, परम्परा से प्रवृत्त कृषि-व्यापार आदि कर्म कहलाते हैं । **आर्षवाणी है**- ``आचार्य के उपदेश बिना जो होता है वह कर्म और आचार्य के उपदेश से जो होता है वह शिल्प कहलाता है । कृषि, वाणिज्य आदि कर्म और कुम्भकार, लुहार आदि के कार्य शिल्प गिने जाते हैं ।

यहाँ कृषि, व्यापार और पशुपालन साक्षात् कहे गये हैं । शेष सभी कार्यों का समावेश शिल्पादि में होता है । स्त्री-पुरुष की कुछ कलाओं का समावेश विद्या में और कुछ का समावेश शिल्प में होता है । सामान्यत: कर्म के चार भेद हैं-

``बुद्धि से कर्म करने वाले उत्तम, हाथ से कर्म करने वाले मध्यम, पैर से कर्म करने वाले अधम और मस्तक पर भार उठाने वाले अधमाधम समझने चाहिए ।''

बुद्धिकर्म

चम्पा नगरी में धन सेठ का मदन नाम का पुत्र था । एक बार वह बुद्धि बेचने वाले की दुकान पर गया और 500 द्रम्म देकर **'दो लड़ते हों तो वहाँ नहीं ठहरना'**- बुद्धि खरीद कर अपने घर आ गया ।

घर आने पर मित्रों ने उसकी मजाक बनायी और पिता ने भी उसे फटकारा । वह अपनी रकम लेने के लिए पुन:उस दुकान पर गया तब व्यापारी ने कहा- ``दो के झगड़े में वहीं खड़े रहने का वचन दो तो मैं तुम्हें तुम्हारी रकम लौटा दूँ ।'' मदन ने उसकी बात स्वीकार कर ली । व्यापारी ने उसकी रकम लौटा दी ।

एक बार राजा के दो सैनिक परस्पर लड़ रहे थे । उस समय मदन पास में खड़ा रहा । उन दोनों ने मदन को साक्षी कर दिया । न्याय के लिए वे राजा के पास गये । राजा ने साक्षी रूप में मदन को बुलवाया । उन दोनों सैनिकों ने अलग-अलग रूप से धन सेठ को धमकी दी कि तुम्हारे पुत्र ने मेरे पक्ष में साक्षी नहीं दी तो तुम्हारी हालत खराब हो जायेगी । इस घटना से मदन का पिता धन अत्यन्त व्याकुल हो गया । वह बुद्धि बेचने वाले व्यापारी के यहाँ गया और अपने पुत्र की रक्षा के लिए करोड़ द्रम्म देकर एक बुद्धि खरीद लाया । व्यापारी ने कहा- ``तुम अपने पुत्र को पागल बना दो अर्थात् राजदरबार में वह पागल की तरह व्यवहार करे ।''

इस प्रकार करने से मदन बच गया ।

व्यापार आदि करने वाले हाथ से काम करने वाले हैं ।

दूत आदि का काम करने वाले पैर से काम करने वाले हैं ।

भार-वहन करने वाले मस्तक से काम करने वाले हैं ।

(6) सेवा के चार भेद हैं- 1) राजा की, 2) अमलदार की, 3) सेठ की और 4) अन्य लोगों की ।

रात-दिन पराधीनता होने के कारण राजा आदि की सेवा करना अत्यन्त कठिन कार्य है । **कहा भी है**–

``सेवक यदि मौन रहता है तो मूक कहलाता है. यदि ज्यादा बोलता है तो बकवासी कहलाता है, यदि अत्यन्त पास में बैठता है तो धृष्ट कहलाता है और दूर बैठे तो बुद्धिहीन कहलाता है । क्षमा रखता है तो कमजोर कहलाता है और सहन न करे तो कुलहीन कहलाता है । सचमुच सेवा-धर्म परम गहन है, वह तो योगियों के लिए भी अगम्य है ।''

``अपनी उन्नति के लिए मस्तक झुकाता है, जीवन के लिए प्राणों का त्याग करता है और सुखी बनने के लिए दु:खी होता है, सचमुच सेवक को छोड़कर दूसरा कौन मूर्ख है ?''

``सेवा की तुलना श्वानवृत्ति से करने वालों ने सोच-समझकर कहा हो, ऐसा नहीं लगता है, क्योंकि कुत्ता तो अपनी पूँछ हिलाकर ही चापलूसी करता है, जबकि सेवक को तो बारम्बार मस्तक हिलाना पड़ता है ।''

सेवक का यह स्वरूप और सेवक की यह स्थिति होने पर भी आजीविका का अन्य कोई उपाय न हो तो सेवा से भी निर्वाह किया जाता है । **कहा भी है**–

``धनवान व्यापार से, अल्पधनी खेती से अपना निर्वाह करता है परन्तु जिसके कोई व्यवसाय (उपाय) न हो वह सेवावृत्ति से भी निर्वाह करता है ।''

40. योग्य सेव्य कौन ?

जो समझदारी और कृतज्ञता आदि गुणों से युक्त है, वही व्यक्ति सेवा के लिए योग्य है । **कहा है**–

``कान का कच्चा न हो, शूरवीर हो, कृतज्ञ हो, सात्त्विक हो, गुणवान हो, दाता हो तथा गुणरागी हो ऐसा समृद्ध स्वामी किसी पुण्य से ही प्राप्त होता है ।''

``जो क्रूर हो, व्यसनी हो, लोभी हो, नीच हो, सदा रोगी हो, मूर्ख हो, अन्यायी हो- ऐसे व्यक्ति को कभी अपना स्वामी नहीं बनाना चाहिए ।''

``अविवेकी राजा के पास जो समृद्ध बनने की इच्छा करता है, सचमुच वह मिट्टी के घोड़े पर सौ योजन जाने की इच्छा करता है ।''

कामन्दकीय नीतिसार में कहा है- ``वृद्धानुसारी राजा सत्पुरुषों को मान्य होता है और कदाचित् दुष्ट लोग उसे अकार्य की प्रेरणा करें तो भी वह अकार्य नहीं करता है ।''

सेवक की योग्यतानुसार उसका सम्मान आदि करना, यह स्वामी का कर्त्तव्य है ।

कहा भी है–``यदि राजा सभी नौकरों के साथ एक ही समान व्यवहार करता है तो उद्यमशील नौकरों का उत्साह भंग हो जाता है ।''

सेवक को भी भक्ति, चातुर्य आदि गुणों से युक्त बनना चाहिए ।

कहा है–``बुद्धिहीन और कायर सेवक स्वामी पर खूब अनुराग रखे तो भी इससे स्वामी को क्या लाभ ? सेवक प्रज्ञावान् और पराक्रमी हो परन्तु उसके दिल में स्वामी के प्रति आदर न हो तो भी स्वामी को क्या लाभ ? अत: प्रज्ञा, पराक्रम और भक्ति से युक्त सेवक ही राजा को सम्पत्ति और विपत्ति के समय में उपयोगी बन सकता है, इसके सिवाय अन्य सेवक तो केवल स्त्री समान ही हैं ।''

राजा खुश हो जाय तो वह सेवकों को मान-सम्मान ही प्रदान करता है, जबकि सम्मानित बने सेवक तो अपने प्राण देकर भी राजा का उपकार करते हैं ।

सेवा हमेशा अप्रमत्तभाव से होनी चाहिए । **कहा भी है**– ``उपायों से वशीभूत किये गये सर्प, व्याघ्र, हाथी और सिंहों को देखकर अप्रमत्त बुद्धिमानों को सोचना चाहिए कि राजा को वश में करना तो क्या कठिन है !''

राजा को वश करने की विधि नीतिशास्त्र आदि में इस प्रकार कही है- ``सेवक को राजा (स्वामी) के समीप उसके मुख की ओर नजर कर हाथ जोड़कर बैठना चाहिए । राजा के संकेत व स्वभाव को पहिचान कर राजा के सब कार्य करने चाहिए ।''

सभा में राजा के अति निकट या अतिदूर नहीं बैठना चाहिए । राजा से ऊँचे अथवा समान आसन पर भी नहीं बैठना चाहिए । राजा के एकदम पीछे और एकदम आगे भी नहीं बैठना चाहिए । ``अत्यन्त निकट बैठने से स्वामी की पीड़ा होती है, दूर बैठने से साहसहीनता प्रगट होती है, आगे बैठे तो दूसरे के ऊपर का कोप उस पर उतर जावे और पीछे बैठने पर तो दिखाई ही नहीं देगा ।''

''राजा यदि थका हुआ हो, भूखा हो, कुपित हो, व्याकुल हो, सोने की तैयारी में हो, प्यासा हो, अन्य किसी ने अर्ज की हो, उस समय उसे किसी प्रकार की अर्ज नहीं करनी चाहिए ।'' राजमाता, महारानी, राजकुमार, मुख्यमंत्री, राजपुरोहित तथा द्वारपाल आदि के साथ भी राजा की तरह व्यवहार करना चाहिए ।

``इस दीपक को तो मैंने ही प्रगटाया है, अत:इसकी अवगणना करूंगा तो भी यह मुझे नहीं जलायेगा,'' इस भ्रम से भी दीपक की लौ के साथ अंगुली का स्पर्श नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह दीपक इतनी दया नहीं करता है कि इसने मुझे प्रगटाया है, अत:इसे मैं कैसे जलाऊँ ? इसी प्रकार राजा के साथ भी व्यवहार करते समय यह सावधानी रखनी चाहिए ।

स्वयं राजा को मान्य हों तो भी उसका गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि **''गव्वो मूलं विणासस्स''** यानी गर्व विनाश का मूल है, यह एक प्रसिद्ध कहावत है ।

सुना जाता है कि दिल्ली में राजा को मान्य किसी मन्त्री ने गर्व से किसी को कहा- ``राज्य तो मेरे द्वारा ही चलता है ।'' इस बात का राजा को पता चलते ही राजा ने उसे अपने पद से नीचे उतार दिया और उसके स्थान पर अपने हाथ में रांपड़ी (चमार का औजार) रखने वाले किसी चमार को बिठा दिया । उसके हिसाब-किताब के कागजों पर रांपड़ी ही पहचान का चिह्न था । आज (श्राद्धविधि रचना के काल में) भी उसकी परम्परा मान्य है ।

राजसेवा आदि से लाभ

इस प्रकार सेवा से राजा आदि प्रसन्न हो जाय तो ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति का लाभ कठिन नहीं है । **कहा भी है**– ``ईख का खेत, समुद्र, योनि-पोषण तथा राजा का अनुग्रह शीघ्र ही दरिद्रता का नाश करता है ।''

``सुख के इच्छुक अभिमानी लोग भले ही राजसेवकों की निन्दा करें परन्तु राजसेवा किये बिना स्वजन का उद्धार व शत्रु का संहार शक्य नहीं है ।''

आपत्ति के समय में अच्छी तरह से सेवा करने वाले वोसिरी ब्राह्मण को कुमारपाल राजा ने लाट देश प्रदान किया था । सर्प के उपद्रव को दूर करने से प्रसन्न बने जितशत्रु राजा ने पहरेदार राजपुत्र देवराज को अपना राज्य दे दिया और स्वयं ने दीक्षा स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त किया ।

मंत्री, श्रेष्ठी, सेनानी आदि के व्यापार भी राजसेवा के अन्तर्गत ही आते हैं। वह व्यापार पापमय तथा परिणाम में नीरस होने से मुख्यतया तो श्रावकों को नहीं करना चाहिए।

कहा भी है– ``मनुष्य को जो अधिकार दिया जाता है, उसमें वह चोरी किये बिना नहीं रहता ? क्या धोबी खरीद करके कपड़े पहनेगा ?''

अधिकार नयी-नयी समस्याओं को ही बढ़ाने के कारण प्रत्यक्ष जेलखाने ही हैं। राजकर्मचारी को पहले बन्धन नहीं होता है, परन्तु बाद में तो उसे भी बन्धन ही है। हर प्रकार से राजनौकरी को छोड़ने में असमर्थ व्यक्ति को भी गुप्तिपाल (गुप्तचर), कोटवाल (किले का रक्षक) तथा सीमापाल (राज्य-सीमा का रक्षक) आदि व्यापार तो अत्यन्त पापमय और निर्दयी लोगों के लायक होने से श्रावक को नहीं करने चाहिए। दीवान, तलावर्तक, नम्बरदार, मुखिया आदि बनना सुखदायी नहीं है।

राज-सम्बन्धी अन्य व्यापार स्वीकार करने पड़ें तो वस्तुपाल मंत्री तथा पृथ्वीधर आदि की तरह श्रावक के सुकृतों की कीर्ति बढ़े-इस प्रकार करने चाहिए।

कहा भी है–``जो लोग पापमय राजकार्य करने पर भी उसके द्वारा धर्मकृत्य कर पुण्य उपार्जन नहीं करते हैं, वे मनुष्य धन के लिए धूल धोने वाले (निहारिया) लोगों से भी अधिक मूढ़ हैं।''

''राजा की अपने ऊपर बहुत कृपा हो तो भी प्रजा को चिढ़ाना नहीं चाहिए। यदि किसी कार्य में अपनी नियुक्ति की जाये तो भी मुखिया को आगे रखकर काम करना चाहिए।''

श्रावक को राजसेवा करनी पड़े तो भी सुश्रावक राजा की ही करनी उचित है।

कहा भी है–ज्ञान और दर्शन से युक्त श्रावक के घर दास होना स्वीकार है, परन्तु मिथ्यात्व से मोहितमति वाला राजा या चक्रवर्ती बनना स्वीकार नहीं है।

निर्वाह का अन्य कोई साधन न हो तो समकिती को ● **'वित्तिकन्तारेणं आगार'** होने से यदि मिथ्यादृष्टि राजा आदि की भी सेवा करनी पड़े तो अपनी शक्ति और युक्ति के अनुसार अपनी धर्म-बाधा (अन्तराय) को टालना चाहिए और आजीविका का थोड़ा भी कोई उपाय मिल जाये तो श्रावक मिथ्यादृष्टि की सेवा का त्याग कर दे।

(7) धातु, धान्य और वस्त्र आदि के भेष से भिक्षा के अनेक भेद हैं।

सर्वसंग का परित्याग करने वाले मुनियों को ही धर्मकार्य के लिए आधार-भूत आहार, वस्त्र, पात्र आदि की भिक्षा उचित है। **कहा भी है**– ``हे भगवती भिक्षा ! तू प्रतिदिन प्रयत्न बिना प्राप्त होने वाली है, भिक्षुकजन की माता समान है, साधुजन की कल्पलता समान है, राजा भी तुझे नमस्कार करते हैं, तू नरक को टालने वाली है, तुझे मैं नमस्कार करता हूँ।''

अन्य सब भिक्षाएँ तो मनुष्य की लघुता को उत्पन्न करने वाली हैं। **कहा भी है**– ``तभी तक मनुष्य के रूप, गुण, लज्जा, सत्य, कुलक्रम व स्वाभिमान की कीमत है जब तक वह `मुझे दो' इस प्रकार नहीं बोलता। (याचना के प्रारम्भ के साथ ही रूप आदि गुण नष्ट हो जाते हैं)।''

● **इस आगार का अर्थ यह होता है कि अगर निर्वाह का अन्य कोई साधन नहीं हो तो मिथ्यादृष्टि आदि को नमस्कार, सेवा आदि करके भी अपनी आजीविका चलायी जाती है।**

''तृण से भी हल्की रुई है, परन्तु याचक तो रुई से भी हल्का है । फिर प्रश्न उठता है कि तो फिर पवन उसे क्यों नहीं उड़ाकर ले जाता है ? उत्तर यही है कि पवन को भी भय है कि शायद मेरे पास भी यह याचना करेगा तो ?''

रोगी, चिरप्रवासी, दूसरे का अन्न खाने वाला, दूसरे के घर सोने वाला मनुष्य जीता भी है तो वह उसका मरण ही है और उसका जो मरण है, वह उसका विश्राम है ।

भिक्षा से जीवन जीने वाला, चिन्तामुक्त होने से अतिभोजन, आलस्य,निद्रा आदि की प्रचुरता होने के कारण कुछ काम भी नहीं कर सकता ।

भिक्षान्न खाने में अवगुण

किसी कापालिक के भिक्षापात्र में घांची के बैल ने अपना मुँह डाल दिया, तब कोलाहल करके कापालिक ने कहा- ''मुझे तो दूसरी भिक्षा मिल जायेगी, परन्तु इस बैल ने भिक्षापात्र में मुँह डाल दिया । इसके फलस्वरूप यह आलसी व निद्रालु बनकर कुछ काम न कर सकेगा । इसी का मुझे भय है ।''

भिक्षा के भेद

श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी म.ने पाँचवें अष्टक में भिक्षा के तीन भेद बतलाये हैं– (1) सर्व सम्पत्करी, (2) पौरुषघ्नी और (3) वृत्तिभिक्षा ।

गुरु की आज्ञा में रहकर जो शिष्य ध्यान आदि से युक्त है और सदा अनारम्भी है, उसकी भिक्षा सर्वसम्पत्करी कहलाती है । प्रव्रज्या को स्वीकार करके प्रव्रज्या के ही विरुद्ध वर्तन करता है और असत् आरम्भ (सावद्यक्रिया) करता है उसकी अथवा प्रव्रज्या के विरुद्ध वर्तन करने वाले साधु की तथा असत् प्रारम्भ करने वाले गृहस्थ की भिक्षा पौरुषघ्नी (पुरुषार्थ का हनन करने वाली) कही गयी है ।

शरीर से पुष्ट और मूढ़ साधु दीनता से भिक्षा द्वारा उदरपूर्ति करके धर्म की ही लघुता करता है और अपने ही पुरुषार्थ का हनन करता है ।

निर्धन, अन्ध, पंगु और अन्य कार्य करने में असमर्थ व्यक्ति अपनी आजीविका के निर्वाह के लिए भिक्षा माँगते हैं, यह वृत्ति भिक्षा कहलाती है ।

निर्धन और अन्ध आदि के लिए यह वृत्तिभिक्षा अत्यन्त दुष्ट नहीं है क्योंकि अनुकम्पा में निमित्तभूत होने से इस वृत्तिभिक्षा से धर्म की लघुता नहीं होती है । गृहस्थ को इस भिक्षावृत्ति का त्याग करना चाहिए और विशेषकर धर्मात्मा को तो अवश्य छोड़नी चाहिए ।

भिक्षा मांगने वाला व्यक्ति (गृहस्थ) चाहे जितना धर्म करे तो भी दुर्जन की मैत्री की तरह अवज्ञा, निन्दा आदि दोषों का कारण है । धर्म-निन्दा में निमित्त बनने से बोधि-दुर्लभता आदि दोष भी उत्पन्न होते हैं ।

ओघनिर्युक्ति में साधु को लक्ष्य कर कहा है- ***''षट्काय में दया करने वाला भी संयत दुगुंछित कुल से गोचरी ग्रहण करने से तथा आहार, निहार में अविधि के कारण धर्म की निन्दा में निमित्त बनता हो तो वह बोधिदुर्लभ बनता है ।''***

लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये, किञ्चिदस्ति च कर्षणे ।
अस्ति नास्ति च सेवायां, भिक्षायां न कदाचन ।।1।।

भिक्षावृत्ति से कोई समृद्ध या सुखी नहीं बन सकता । **कहा भी है**– ``लक्ष्मी का मुख्य वास व्यापार में है, थोड़ी बहुत खेती में और नहींवत् सेवा में रहती है परन्तु भिक्षा में तो कभी नहीं रहती है । '' भिक्षा से तो सिर्फ उदरपूर्ति हो सकती है, इस कारण इसे आजीविका के रूप में गिना गया है ।

मनुस्मृति के चौथे अध्याय में तो इस प्रकार कहा है- ``ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत उपाय से अपनी आजीविका चलाये, परन्तु श्वानवृत्ति समान सेवा का तो सदा त्याग ही करना चाहिए ।''

साधु की गोचरी ऋत कहलाती है । बिना याचना से प्राप्त अमृत कहलाता है, याचना से प्राप्त मृत कहलाता है । खेती से प्राप्त प्रमृत और व्यापार से प्राप्त सत्यानृत कहलाता है । वणिक् के लिए अर्थार्जन का श्रेष्ठ व मुख्य उपाय व्यापार ही कहा गया है ।

कहा भी है–``लक्ष्मी न तो विष्णु के वक्षस्थल में रहती है और न ही कमलाकर में । लक्ष्मी का शुभस्थान तो पुरुष का व्यवसाय रूपी सागर ही है ।'' व्यापार भी अपने सहायक, धन, बल, भाग्योदय, देश, काल आदि के अनुरूप ही करना चाहिए, अन्यथा अचानक हानि आदि हो सकती है । ग्रन्थकार ने लिखा है–

``बुद्धिमान् पुरुष को अपनी शक्ति के अनुसार ही कार्य करना चाहिए । स्व-शक्ति का विचार न किया जाय तो असफलता, लज्जा, उपहास, हीलना, धन व कायबल की हानि है । दूसरों ने भी कहा है-

``कौनसा देश है ? कौन-कौन मित्र है ? कौनसा काल है ? आय-व्यय के साधन कौन से हैं ? मैं कौन हूँ ? मेरी शक्ति कितनी है ? इत्यादि बार-बार सोचना चाहिए ।''

``द्रुतगति से कार्य करने वाले, विघ्न, बिना के एवं सम्भवित साधनवाले कारण-कार्य की सिद्धि को प्रथम से ही मालूम करा देते हैं ।''

बिना यत्न प्राप्त होने वाली और प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न होने वाली लक्ष्मी ही पुण्य और पाप के भेद को बतलाती है ।

41. व्यापार में व्यवहारशुद्धि

व्यापार में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार की व्यवहारशुद्धि कही गयी है ।

1) **द्रव्यशुद्धि :-** पन्द्रह प्रकार के कर्मादान आदि में कारणभूत विक्रेय वस्तु का त्याग करना चाहिए । **कहा भी है**– ``धर्म में विघ्नकारक और अपयश को देने वाली विक्रेयवस्तु में अधिक लाभ होता हो तो भी पुण्य के अर्थी को उस प्रकार की वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए ।''

``तैयार वस्त्र, सूत, रुपया, सोना तथा चांदी आदि का व्यापार प्रायः निर्दोष होता है ।''

व्यापार में कम-से-कम आरम्भ, जीवहिंसा हो, उसके लिए सदैव प्रयास करना चाहिए ।

अकाल के समय आजीविका का अन्य साधन न हो और अधिक आरम्भ वाला खर कर्म करना पड़े तो भी अनिच्छा से ही करना चाहिए । इसके साथ ही उस कर्म को करते हुए आत्मनिन्दा करनी चाहिए और वह कार्य करुणासहित करना चाहिए ।

आगम में भावश्रावक के लक्षण में कहा है- ``श्रावक तीव्र आरम्भ का त्याग करता है, अन्य साधन से निर्वाह नहीं होता हो तो अनिच्छा से करता है और आरम्भ रहित लोगों की अनुमोदना करता है । श्रावक सर्वजीवों के प्रति दयालु होता है ।

``उन महामुनियों को धन्य है, जो मन से भी परजीव को पीड़ाकारक विचार नहीं करते हैं, आरम्भ और पाप से रहित होकर त्रिकोटि परिशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं ।''

व्यापार में सावधानी

नहीं देखा हुआ और अपरीक्षित माल स्वीकार नहीं करना चाहिए । लाभ में यदि शंका वाला और सामूहिक माल हो तो समूह में ही लेना चाहिए, अकेले में नहीं क्योंकि उसमें अचानक आपत्ति आ जाय तो अनेक सहायक होने से वह आपत्ति-नुकसान भी विभक्त हो जाता है ।

यदि व्यापारी लक्ष्मी बढ़ाने की इच्छा रखता हो तो कहा भी है- ``नहीं देखी हुई वस्तु की पेशगी न दे । कदाचित् वैसा करने की आवश्यकता ही पड़े तो बहुत जनों के साथ मिलकर करे परन्तु अकेला न करे ।''

(2) **क्षेत्रशुद्धि :-** जिस क्षेत्र में स्वचक्र, परचक्र, रोग तथा व्यसन आदि का उपद्रव न हो और धर्म की सर्वसामग्री हो, उसी क्षेत्र में व्यापार करना चाहिए; अन्य क्षेत्र में अधिक लाभ हो तो भी व्यापार नहीं करना चाहिए ।

(3) **कालशुद्धि :-** प्रतिवर्ष तीन अठाइयों तथा पर्वतिथियों में व्यापार का त्याग करे तथा आगे कहे जाने वाले वर्षा ऋतु आदि में जो व्यापार निषिद्ध हो, उसका भी त्याग करे ।

(4) **भावशुद्धि :-** भाव से व्यापार के अनेक भेद हैं । क्षत्रिय, व्यापारी तथा राजा आदि के साथ की गयी लेन-देन लाभकारी नहीं होती है । क्योंकि अपने हाथों से दिया गया धन भी जिनसे मांगने में भय रहता हो, उनके साथ थोड़ा भी व्यवहार लाभ के लिए कैसे हो सकता है ? **कहा भी है**– ``ब्राह्मण व्यापारी और शस्त्रधारियों के साथ धन के इच्छुक वणिक् को कभी व्यवहार (लेन-देन) नहीं करना चाहिए ।'' ``विरोधियों के साथ व्यापार उधार नहीं करना चाहिए ।'' संग्रह की वस्तु को अवसर आने पर बेचने पर मूल कीमत तो मिलती ही है, परन्तु वैर-विरोध करने वाले को तो उधार देना उचित नहीं है ।

नट, विट (वेश्या के दलाल), वेश्या तथा जुआरी को तो कभी उधार नहीं देना चाहिए क्योंकि उससे मूलधन का ही नाश हो जाता है ।

ब्याज का व्यवसाय भी, जितनी रकम देनी हो, उससे अधिक कीमत की वस्तु गिरवी रखकर ही करना उचित है; अन्यथा रकम मांगने पर अत्यन्त क्लेश और विरोध पैदा हो सकता है । कभी धर्महानि और बंधन आदि अनेकविध आपत्तियाँ भी आ सकती हैं ।

मुग्ध सेठ

जिनदत्त सेठ के मुग्ध नाम का पुत्र था । वह नाम के अनुसार मुग्ध/भोला ही था । पिता की अपार सम्पत्ति के कारण वह लहेर करता था । पिता ने दस पीढ़ी से शुद्ध खानदान में उत्पन्न हुई नन्दिवर्धन श्रेष्ठी की कन्या के साथ अपने पुत्र का बड़े महोत्सव पूर्वक लग्न कराया ।

अन्तिम समय में पिता ने अपने पुत्र की उसी स्थिति को देख गूढ़ार्थ वचनों के द्वारा इस प्रकार उपदेश दिया-

1) वत्स ! सब तरफ दाँतों के द्वारा बाड़ बनाना ।
2) किसी को ब्याज पर रकम देने के बाद पुनः न मांगना ।
3) बंधन में रही पत्नी को ताड़ना करना । 4) मधुर ही भोजन करना ।
5) सुखपूर्वक ही सोना । 6) गाँव-गाँव में घर बनाना ।
7) आपत्ति के समय में गंगातट खोदना ।
8) इनके अर्थ में सन्देह होने पर पाटलिपुत्र में मेरे मित्र सेठ सोमदत्त को पूछना ।

पिता की इन हितकारिणी शिक्षाओं के रहस्य को नहीं जानने के कारण क्रमशःउस प्रकार की प्रवृत्ति करता हुआ कुछ ही दिनों में वह निर्धन हो गया । इससे वह दुःखित हुआ । पत्नी आदि को अप्रिय हो गया तथा हर एक प्रकार से हरकतें भोगने लगा । लोग भी `यह महामूर्ख है' कहकर उसकी मजाक करने लगे ।

आखिर परेशान होकर वह मुग्ध पाटलिपुत्र चला गया और वहाँ जाकर उसने श्रेष्ठी सोमदत्त को भावार्थ पूछा । सोमदत्त ने कहा-

1) ``दाँतों के द्वारा बाड़ करना अर्थात् सभी के साथ प्रिय और हितकारी वचन बोलना ।''
2) किसी को ब्याज से धन उधार देना हो तो पहले से ही उससे अधिक कीमत की वस्तु न्यास (गिरवी) रखना ताकि उससे रकम मांगने की जरूरत ही न पड़े, वह स्वयं ही ब्याज सहित रकम लौटा दे ।
3) बंधनयुक्त पत्नी को ताड़ना अर्थात् लड़का-लड़की हो जाने के बाद ही कारण पड़े तो पत्नी को पीटना अन्यथा रुष्ट होकर वह पितृगृह जा सकती है अथवा कुए में गिरकर आत्महत्या भी कर सकती है ।
4) मीठा ही भोजन करना अर्थात् जहाँ आदर-प्रीति दिखाई दे, उसी के घर भोजन करना । अथवा भूख लगने पर ही भोजन करना, जिससे लूखी वस्तु भी मीठी लगे ।
5) सुखपूर्वक सोना अर्थात् नींद आने पर ही सोना (उसके सिवाय श्रम करते रहना) ।
6) गाँव-गाँव में घर बनाना अर्थात् हर गाँव में लोगों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना ताकि अपने घर की तरह अन्यत्र भी भोजन सुखपूर्वक मिल सके ।
7) आपत्ति में गंगातट खोदना अर्थात् घर में गंगा नाम की गाय जहाँ बँधी हुई है, उस स्थान को खोदना, वहाँ से पिता द्वारा गाड़ा हुआ धन प्राप्त होगा ।

सोमदत्त सेठ के पास से उन शिक्षाओं के गूढ़-अर्थों को जानकर मुग्ध बड़ा खुश हुआ और उसी प्रकार जीवन जीने के कारण धनी, सुखी और महान् बना ।

अतःव्यापार में उधार का व्यवहार नहीं रखना चाहिए । कदाचित् उधार-व्यवहार करना पड़े तो भी सत्यवादी लोगों के साथ ही करे और देश-काल का विचार कर एक, दो, तीन, चार, पाँच, प्रतिशत, जो भी शिष्टजन के लिए अनिंद्य हो, उसी प्रकार ग्रहण करे ।

कर्जदार को भी पूर्व निश्चित काल-मर्यादा के पहले ही रकम दे देनी चाहिए ।

पुरुष की प्रतिष्ठा वचन-पालन के आधार पर ही हुई है ।

कहा भी है– ``जितने वचन का पालन कर सको, उतना ही वचन मुँह से बोलना चाहिए । पहले से सोच-समझकर उतना ही भार उठाना चाहिए...जिससे बीच मार्ग में उतारना न पड़े ।''

यदि धन-हानि आदि के कारण मर्यादित समय के भीतर उधार ली गयी रकम न चुका सके तो `आपका धन मुझे जरूर देना ही है परन्तु वह धीरे-धीरे दूँगा यों कहकर थोड़ी-थोड़ी भी रकम चुकाते रहना चाहिए जिससे लेनदार को सन्तोष हो जाये । यदि ऐसा न करे तो विश्वासघात के कारण व्यवहार का भंग हो जाता है ।

ऋण-मुक्ति के लिए अपनी सर्वशक्ति से प्रयत्न करना चाहिए । वह कौन मूर्ख होगा जो इस लोक और परलोक में पराभव के कारणभूत ऋण को क्षणमात्र भी धारण करेगा ?

कहा भी है– ``धर्म-साधना करने में, ऋण के उच्छेद में, कन्यादान में, धन के आगमन में, शत्रु के घात में तथा अग्नि व रोग में थोड़ा भी विलम्ब नहीं करना चाहिए ।''

``तेल की मालिश, ऋण का छेद तथा कन्या की मृत्यु तत्काल ही दु:खदायी मालूम होते हैं परन्तु परिणाम में सुखदायी हैं ।''

जीवन-निर्वाह में असमर्थता के कारण यदि कर्ज चुकाने की ताकत न हो तो लेनदार के घर कुछ काम करके भी ऋणमुक्त बनना चाहिए, अन्यथा भवान्तर में उसके घर नौकर, भैंस, बैल, ऊँट, गधा, खच्चर, घोड़ा आदि बनकर कर्ज चुकाना पड़ता है ।

यदि कर्जदार ऋण चुकाने में अत्यन्त अशक्त हो तो लेनदार को भी बारम्बार याचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे निरर्थक क्लेश और पापवृद्धि ही होती है । परन्तु उसे ``जब शक्ति हो तब दे देना, न दे सको तो उतना भले ही धर्मादा हो'' कह देना चाहिए ।

लम्बे समय तक ऋण-सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए क्योंकि अचानक आयुष्य समाप्त हो जाय तो भवान्तर में दोनों के बीच वैरवृद्धि आदि होती है ।

कर्ज और भावड़ सेठ

भावड़ सेठ की पत्नी गर्भवती बनी । उसे अत्यन्त खराब स्वप्न आया और उसे खराब दोहद पैदा हुए । अन्य भी बहुत से अपशकुन हुए । गर्भकाल पूर्ण होने पर मृत्युयोग में दुष्ट पुत्र पैदा हुआ । माहणी नदी के किनारे एक सूखे वृक्ष के नीचे उसने उस बालक को छोड़ दिया ।

वह बालक पहले तो रोया, फिर हँसकर बोला- ``मैं एक लाख सोना मोहर मांगता हूँ, मुझे दो, अन्यथा भविष्य में अनर्थ होगा ।''

उसके बाद सेठ द्वारा उस बालक के जन्मोत्सव आदि के महोत्सव पर छठे दिन एक लाख सोना मोहरें खर्च होने पर बालक की मृत्यु हो गयी ।

इसी प्रकार दूसरे पुत्र के जन्मसमय भी यही घटना बनी और उस समय सेठ ने तीन लाख रुपये खर्च किये तब उस पुत्र की मृत्यु हो गयी ।

कुछ समय बाद सेठ की पत्नी तीसरी बार गर्भवती बनी । उस समय उसे अच्छे स्वप्न आये और शकुन भी अच्छे हुए ।

जन्म के बाद उस बालक ने कहा- ``मुझ पर तुम्हारा उन्नीस लाख सोनैयों का कर्ज है ।'' बाद में उसका नाम जावड़शाह रखा गया । उसने माता-पिता के नाम पर उतना धन धर्मादा खाते में निश्चित कर नौ लाख स्वर्णमुद्राएँ खर्च कर ऋषभदेव, पुंडरीक स्वामी और चक्रेश्वरी की मूर्ति काश्मीर में लेकर, दस लाख स्वर्णमुद्राएँ खर्च कर उनका प्रतिष्ठा (अंजन-शलाका) महोत्सव किया । उसके बाद अठारह जहाजों से उपार्जित अनगिनत स्वर्णमुद्राएँ लेकर वह शत्रुंजय महातीर्थ पर गया और वहाँ लेप्यमय प्रतिमाओं को उत्थापित कर उनके स्थान पर मम्माणी रत्न की वे तीन प्रतिमाएँ स्थापित कीं । इस प्रकार भवान्तर में ऋणमुक्ति की ।

ऋण के सम्बन्ध में प्राय:कलह नहीं मिटने के कारण वैर की वृद्धि आदि होती है अत:वर्तमान भव में ही किसी भी प्रकार से ऋणमुक्त बनने का प्रयास करना चाहिए ।

अन्य व्यवहार में भी यदि कुछ धन वापस न मिले तो उसे धर्मादा खर्च में डाल देना चाहिए जिससे पुण्य-प्राप्ति हो सके । इसी कारण मुख्यतया साधर्मिकों के साथ ही व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि साधर्मिक के पास अपना कुछ धन रह भी जाय तो भी उसका उपयोग धर्म में होगा ।

म्लेच्छ व अनार्य व्यक्ति के पास रहे धन का तो किसी पुण्य-कार्य में उपयोग नहीं हो सकता है, अत:उस धन की प्राप्ति की सम्भावना न हो तो उसका त्याग कर देना ही उचित है । कदाचित् त्याग कर देने के बाद म्लेच्छ आदि से अपना धन प्राप्त हो जाए तो उसे धर्मादा में खर्च करने के लिए संघ को सौंप देना चाहिए ।

इसी प्रकार अपना द्रव्य, कोई वस्तु अथवा शस्त्र आदि खो जाय अथवा कोई ले जाय और मिलने की सम्भावना न हो तो उसे वोसिरा देना चाहिए, ताकि उस वस्तु से जन्य पाप न लगे । इस युक्ति से अनन्त भव सम्बन्धी घर-देह, कुटुम्ब, धन, शस्त्र आदि सभी पाप की हेतुभूत वस्तुएँ विवेकी पुरुष को वोसिरा देनी चाहिए, अन्यथा उन-उन वस्तुओं से जन्य दुष्कृत (पाप) की अनन्त भवों से भी निवृत्ति नहीं होती है अर्थात् उन सब वस्तुओं से जन्य पाप लगता है ।

यह बात सिद्धान्त-विरुद्ध भी नहीं है । **भगवती सूत्र** के पाँचवें शतक के छठे उद्देश में कहा है कि जब शिकारी ने हिरण को मारा, तब जिस धनुष, बाण, डोरी और लोहे से उसकी हत्या हुई उस धनुष आदि के मूल जीवों को भी हिंसादि पापक्रिया लगती है ।

अचानक कभी धनहानि हो जाय तो भी विवेकी पुरुषों को विह्वल नहीं बनना चाहिए, क्योंकि अनिर्वेद ही लक्ष्मी का मूल है । **कहा भी है**–``सुव्यवसायी, कुशल, क्लेश को सहन करने वाला, विवेकपूर्वक कार्यारम्भ करने वाला यदि पीछा करे तो लक्ष्मी कितनी दूर जायेगी ?''

जहाँ धन कमाया जाता है, वहाँ कुछ खोना भी पड़ता है । किसान को पहले बीज खोने ही पड़ते हैं, उसके बाद ही उसे ढेर सा अनाज मिलता है ।

दुर्भाग्यवश भयंकर आर्थिक हानि हो जाय तो भी दीन नहीं बनना चाहिए बल्कि धर्म करना आदि जो उसका उचित प्रतिकार है, उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

कहा भी है– ``म्लान हुआ वृक्ष भी पुनः नवपल्लवित होता है । क्षीण चन्द्रमा भी पुनःपूर्णता को प्राप्त करता है । इस प्रकार विचार करने वाले सत्पुरुष आपत्ति में भी संताप नहीं पाते हैं ।''

``विपत्ति और सम्पत्ति भी बड़े पुरुषों को ही आती है । कृशता व पूर्णता चन्द्र में ही आती है, ताराओं में नहीं ।''

``हे आम्रवृक्ष ! फागुन मास ने मेरी समृद्धि हर ली है'' इस प्रकार विचार कर तू खेद क्यों करता है ? वसन्त-समय की प्राप्ति के साथ शीघ्र ही तेरी समृद्धि पुनःअवश्य हो जायेगी ।''

गया धन पुनःप्राप्त होने पर आभड़ सेठ का दृष्टान्त है ।

आभड़ सेठ

पाटण में श्रीमाल ज्ञाति का नागराज नाम का कोटिध्वज श्रेष्ठी था । प्रियामेला नामकी उसकी प्रिय पत्नी थी । जब वह गर्भवती थी, तभी विशूचिका रोग के कारण सेठ की मृत्यु हो गयी । `श्रेष्ठी के कोई पुत्र नहीं है' यह जानकर राजा ने उसका सब धन ले लिया ।

सेठानी अपने पिता के घर चली गयी । उसे गर्भप्रभाव से अमारि का दोहद हुआ । पिता ने उस दोहद को पूर्ण किया । क्रमशःउसने पुत्ररत्न को जन्म दिया । उसका नाम **'अभय'** रखा गया, परन्तु वह लोक में **'आभड़'** के नाम से प्रख्यात हुआ ।

जब वह बालक पाँच वर्ष का हुआ, तब दूसरे बच्चे उसे `तेरे बाप नहीं है'...कहकर चिढ़ाने लगे । बालक ने घर आकर माँ को आग्रह करके पूछा । माँ ने सब बात बतला दी । बाद में माँ के सामने हठ कर आडम्बर सहित वह पाटण गया । वहाँ अपने घर में रहकर उसने व्यापार चालू किया । कुछ समय बाद लाछलदेवी के साथ उसका विवाह भी हो गया । अचानक पूर्व के निधान की प्राप्ति हो जाने से वह पुनःकोटिध्वज बन गया । उसके तीन पुत्र हुए ।

पुनःकिसी दुष्कर्म के उदय के कारण उसकी स्थिति बदल गयी और वह निर्धन हो गया । उसने अपनी पत्नी को पुत्रों सहित पीहर भेज दिया ।

आभड़ किसी मणियार के यहाँ नौकरी करने लगा । मणि को घिसने पर उसे एक पायली प्रमाण जौ मिलते थे, जिसे वह स्वयं पीसकर, पकाकर खाता था । **कहा भी है**– ``जो लक्ष्मी, प्रीति और प्रेमपूर्वक अपनी गोद में बिठाने वाले सागर और कृष्ण के घर भी स्थिर नहीं रही, वह अन्य व्यय करने वाले के घर तो कैसे स्थिर रह सकती है ?''

एक बार हेमचन्द्राचार्य भगवन्त के पास इच्छापरिमाण धारण करते वक्त आभड़ बहुत ही संक्षेप करने लगा तब हेमचन्द्राचार्य ने उसे निषेध किया और आखिर उसने नौ लाख द्रम्म के परिग्रह का परिमाण किया । उसके अनुसार अन्य भी वस्तुओं का उसने नियम किया । परिग्रह-परिमाण से अधिक धन हो जाय तो उसे धर्मकार्य में खर्च करने का निश्चय किया ।

क्रमश:उसके पास पाँच द्रम्म इकट्ठे हुए । उसने पाँच द्रम्म देकर एक बकरी खरीद ली, जिसके गले में इन्द्रनीलमणि बँधा हुआ था । उसे उस मणि का ख्याल आने से उसने उसके अनेक टुकड़े किये और उन्हें लाख-लाख में बेच दिया ।

आभड़ पूर्व की तरह समृद्ध हो गया । उसका सारा कुटुम्ब इकट्ठा हो गया । वह प्रतिदिन घी का एक घड़ा मुनियों को बहोराने लगा । प्रतिदिन साधर्मिक वात्सल्य, सदाव्रत और महापूजा का आयोजन करने लगा ।

प्रतिवर्ष दो बार चतुर्विध संघ की पूजा, अनेक पुस्तकों का आलेखन, चैत्यों का जीर्णोद्धार और नये बिम्बों का निर्माण आदि कराने लगा ।

इस प्रकार चौरासी वर्ष की उम्र में एक बार जब आभड़ ने धर्मखाते का हिसाब मंगाया तो उसमें अट्ठाणु लाख भीमशाही द्रम्म के व्यय का हिसाब उसने सुना । अट्ठाणु लाख सुनकर आभड़ का मन खिन्न हो गया । वह बोला- ``हाय ! मैं कितना कृपण ! मैंने एक करोड़ द्रम्म का भी व्यय नहीं किया ?'' उसी समय उसके पुत्रों ने 10 लाख द्रम्म धर्मकार्य में खर्च किये । इस प्रकार उसका व्यय कुल करोड़ और आठ लाख का हो गया । इसके ऊपर आठ लाख और मंजूर किये । अन्त में अनशन कर आभड़ सेठ स्वर्ग में गया ।

आपत्ति में धैर्य

पूर्वभव के पापोदय के कारण कदाचित् पूर्वावस्था (समृद्धि) प्राप्त न हो तो भी धैर्य का आलम्बन लेना चाहिए, क्योंकि आपत्ति रूप सागर का पार पाने के लिए धैर्य ही नाव के समान है ।

एक समान दिन तो किसके बीते हैं ? ठीक ही कहा है- ``सब दिन होत न एक समान'' । **और यह भी कहा है–**

``यहाँ सदा के लिए सुखी कौन है ? किसकी लक्ष्मी स्थिर रही है ? किसका प्रेम स्थिर रहा है ? मृत्यु से कौन ग्रसित नहीं हुआ है ? विषयों में गृद्ध कौन नहीं है ?''

विषम स्थिति में सर्वसुख के मूलभूत सन्तोष का ही आलम्बन लेना चाहिए । अन्यथा व्यर्थ की चिन्ता से व्यक्ति इसलोक और परलोक उभयलोक से भ्रष्ट बनता है । **कहा है–**

``आशा रूपी जल से भरी हुई चिन्ता नाम की नदी बहती है, हे मन्द तैरने वाले ! तू उसमें डूबेगा इसलिए सन्तोष रूपी नाव का आश्रय ले ।''

अनेक प्रकार के उपाय करने पर भी अपनी भाग्य दशा के कारण आर्थिक स्थिति नहीं सुधरती हो तो युक्तिपूर्वक किसी भाग्यशाली व्यक्ति का आश्रय लेना चाहिए । काष्ठ का आधार लेने से लोहा और पाषाण भी तैरने लगता है ।

हिस्सेदार के भाग्य से प्राप्त लाभ

एक भाग्यशाली सेठ था । उसके यहाँ एक होशियार वणिक् नौकरी करता था । सेठ के सान्निध्य से वह नौकर भी धनी हो गया और क्रम से वह पुन:निर्धन हो गया ।

सेठ के मरने के बाद वह वणिक् श्रेष्ठि-पुत्रों का सान्निध्य चाहता था, परन्तु गरीब होने के कारण उससे कोई बोलता भी नहीं था। एक बार उसने दो-तीन की साक्षी में सेठ की पुरानी खाताबही में लिख दिया कि- ``मुझे सेठ को दो हजार टंक देने के हैं।''

एक बार सेठ के पुत्रों ने वह खाताबही देखी और उस वणिक् से दो हजार टंक मांगने लगे। वणिक् ने कहा- ``व्यापार के लिए मुझे कुछ धन दो, जिससे मैं थोड़े ही दिनों में आपका धन लौटा दूंगा।''

सेठ के पुत्रों ने उसे कुछ धन दिया। उस धन से उसने बहुत सा धन कमाया। सेठ के पुत्रों ने जब उससे धन मांगा तो उसने साक्षीपूर्वक सब बातें सही-सही बतला दीं। इस प्रकार वह श्रेष्ठि-पुत्रों के आधार से समृद्ध हुआ।

अहंकार न करें

निर्दयता, अहंकार, तृष्णा, कठोर भाषण और नीच व्यक्तियों से प्रेम-ये पाँच लक्ष्मी के साथ चलने वाले (दुर्गुण)हैं। लोक में यह कहावत दुर्जनों की अपेक्षा कही हुई होने से अधिक लाभ होने पर भी गर्व नहीं करना चाहिए। **कहा है**–

विपदि न दीनं सम्पदि न गर्वितं सव्यथं परव्यसने।
हृष्यति चात्मव्यसने येषां चेतो नमस्तेभ्यः ।।1।।

जं जं खमइ समत्थो, धणवंतो जं न गव्विओ होइ।
जं च सविज्जो नमिओ, तिहिं तेहि अलंकिआ पुहवी ।।2।।

``जिनका चित्त आपत्ति में दीन नहीं बनता है, सम्पत्ति में गर्व नहीं करता है, अन्य की आपत्ति में व्यथित बन जाता है और आत्म-संकट में भी प्रसन्न रहता है, उन महान् व्यक्तियों को नमस्कार हो।''

``समर्थ होने पर भी जो दूसरे के उपद्रव को सहन करता है, धनवान होने पर भी गर्व नहीं करता है और जो विद्वान् होने पर भी विनीत होता है, सचमुच उन तीनों से यह पृथ्वी अलंकृत है।''

सज्जन व्यक्ति को किसी के साथ थोड़ा भी झगड़ा नहीं करना चाहिए और विशेष करके बड़े व्यक्तियों के साथ तो बिल्कुल नहीं। **कहा है**–

``खाँसी के रोगी को चोरी का कार्य छोड़ना चाहिए। निद्रालु को जारकर्म, रोगी को रसना की लोलुपता और धनवान को दूसरे के साथ झगड़े का त्याग करना चाहिए।''

``धनवान, राजा, अधिक पक्षवाला, बलवान, क्रोधी, गुरु, नीच तथा तपस्वी के साथ वाद नहीं करना चाहिए।'' ``कदाचित् बड़ों के साथ अर्थ आदि का व्यवहार हो जाय तो नम्रता से ही अपने कार्य को सिद्ध कर लेना चाहिए, क्योंकि बलप्रयोग और कलह आदि करने में फायदा नहीं है।''

पंचाख्यान में भी कहा है- ``उत्तम पुरुषों को विनय से, पराक्रमी पुरुषों को भेद से, नीच पुरुषों को अल्प दान से और आत्मतुल्य को पराक्रम से वश में करना चाहिए।''

धन के अर्थी और धनवान को विशेष करके क्षमा रखनी चाहिए क्योंकि क्षमा ही लक्ष्मी की वृद्धि और उसके रक्षण का उपाय है। **कहा है**– ``ब्राह्मणों का बल होम-मंत्र, राजा का बल नीति-शास्त्र, अनाथ का बल राजा और वणिक्पुत्र का बल क्षमा है।'' ``अर्थ का मूल प्रियवाणी और क्षमा है। काम का मूल धन, शरीर और वय है। धर्म का मूल दान, दया और दमन है और मोक्ष का मूल सर्वसंग का त्याग है।'' वचन-क्लेश (दंत-कलह) का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

श्री दारिद्र्य संवाद में कहा है- लक्ष्मी कहती है- ``हे चक्र ! जहाँ गुरुजनों की पूजा होती है, जहाँ न्यायपूर्वक धन है, जहाँ झगड़े (दन्त-कलह) का अभाव है, वहाँ पर मैं रहती हूँ।''

दारिद्र्य कहता है- ``जो जुए का पोषण करता है, स्वजनों से द्वेष करता है, रसायनी (कीमियागर) है, सदैव आलस करता है, आय-व्यय का विचार नहीं करता है, वहाँ पर मैं हमेशा रहता हूँ।''

बकाया रकम की वसूली भी कोमलतापूर्वक अनिंद्यवृत्ति से ही करनी चाहिए। कठोर व निंद्य व्यवहार करने से कर्जदार के दाक्षिण्य व लज्जादि गुणों का लोप होता है, जिससे धन, धर्म और प्रतिष्ठा की हानि होती है।

स्वयं लंघन करे तो भी दूसरों को लंघन नहीं कराना चाहिए। स्वयं को छोड़कर दूसरों को लंघन कराना तो सर्वथा अयोग्य है। दूसरों को भोजन आदि का अन्तराय करने से ढंढणकुमार आदि की तरह भयंकर कष्ट सहना पड़ता है।

जितना कार्य समता से सिद्ध हो सकता है, उतना कार्य कोप से सिद्ध नहीं हो सकता और उसमें भी विशेषकर वणिक् आदि का। कहते भी हैं–

``यद्यपि साध्य की सिद्धि के लिए चार उपाय (साधन) बतलाये गये हैं, परन्तु कार्यसिद्धि तो सामनीति में ही रही हुई है, अन्य तो केवल नाम मात्र के उपाय हैं।''

तीक्ष्ण और अत्यन्त निष्ठुर व्यक्ति भी मृदुता से वश में हो जाते हैं। जीभ मृदु होने से नौकर की तरह ये दाँत उसकी उपासना करते हैं।

लेन-देन के सम्बन्ध में भ्रान्ति और विस्मृति के कारण कोई मतभेद पैदा हो जाय तो भी परस्पर विवाद नहीं करना चाहिए, परन्तु लोक में प्रतिष्ठित, चतुर और न्याय करने वाले चार-पाँच व्यक्तियों को नियुक्त कर, उनके निर्णय को मान्य करना चाहिए, अन्यथा विवाद का कोई अन्त ही न आये। **कहा भी है**– ``सगे भाइयों के विवाद को भी दूसरों से ही निपटाना चाहिए। गुत्थी वाले बाल कंघे से ही अलग किये जा सकते हैं।''

नियुक्त पुरुषों को भी मध्यस्थता (पक्षपात बिना) से न्याय करना चाहिए।

अपने ऊपर न्याय करने की जवाबदारी आये तो बराबर परीक्षा करके स्वजन और साधर्मिक के कार्य में ही जवाबदारी लेनी चाहिए। क्योंकि निर्लोभता पूर्वक सम्यक् न्याय करने में जैसे विवाद की समाप्ति और बड़प्पन आदि गुण हैं, उसी प्रकार दोष भी बड़े हैं।

विवाद को दूर करने के लिए कभी बराबर नहीं जानने आदि से देनदार को लेनदार और लेनदार को देनदार किया जाता है।

श्रेष्ठीपुत्री

एक समृद्ध श्रेष्ठी अत्यन्त ही प्रसिद्ध था । बड़प्पन और बहुमान के अभिमान के कारण वह सेठ जहाँ-तहाँ न्याय करने के लिए चला जाता था । सेठ की विधवा पुत्री जो अत्यन्त ही बुद्धिमती थी, बारंबार पिता को रोकती थी, परन्तु प्रतिष्ठा के लोभ में सेठ उसकी एक नहीं सुनता था ।

अपने पिता को बोध देने के लिए एक बार उसने झूठा झगड़ा पैदा किया । उसने पिता को कहा– ``मुझे मेरे न्याय की दो हजार सोना मोहर दो, उसके बाद ही मैं भोजन करूंगी ।'' -इस प्रकार कहकर वह लघंन (भूख हड़ताल) करने लगी और पिता पर आक्षेप करने लगी कि वृद्ध होने पर भी मेरे धन का लोभ करते हैं ।

लज्जित बने सेठ ने न्याय के लिए दूसरे लोगों को बुलाया-उन्होंने आकर सोचा- ``यह पुत्री बालविधवा है, अतः इस पर दया रखनी चाहिए ।'' -इस प्रकार विचार कर उन्होंने पिता के पास से दो हजार सोना मोहरें पुत्री को दिलवा दीं ।

सेठ को लगा- ``पुत्री ने मेरा धन भी ले लिया और लोक में मेरी निन्दा भी करा दी ।'' इस प्रकार सोचते हुए सेठ को अत्यंन्त ही दुःख हुआ ।

कुछ समय बाद पुत्री ने अपना सारा अभिप्राय पिता को समझाकर सब धन लौटा दिया, जिससे सेठ खुश हो गया और जहाँ-तहाँ न्याय करने का विचार छोड़ दिया । अतःन्याय करने वालों को भी जहाँ-तहाँ और जैसे-तैसे न्याय नहीं करना चाहिए ।

ईर्ष्या न करें

किसी के साथ ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए क्योंकि सम्पत्ति कर्म के आधीन है । इस लोक और परलोक दोनों मे दुःख की कारणभूत ईर्ष्या क्यों करें ?

ग्रन्थकार ने कहा भी है– ``दूसरों के बारे में हम जैसा विचार करते हैं, वैसा ही हमें प्राप्त होता है । इस प्रकार जानकर दूसरे की समृद्धि में व्यर्थ ही मत्सर क्यों करें ?''

धान्य के विक्रय में लाभ के लिए दुर्भिक्ष की, औषधि में लाभ के लिए रोगवृद्धि की और वस्त्र आदि में लाभ के लिए अग्नि आदि से वस्त्र आदि के क्षय की इच्छा न करें क्योंकि दुर्भिक्षादि जगत् को दुःखदायी होते हैं । कदाचित् दैवयोग से उस प्रकार की घटना बन जाय तो भी उसकी अनुमोदना न करें क्योंकि उस अनुमोदना से व्यर्थ मनोमालिन्य आदि दोष उत्पन्न होते हैं ।

मानसिक मलिनता

दो मित्र थे । उनमें से एक घी का व्यापारी था और दूसरा चमड़े का । वे दोनों घी और चमड़ा खरीदने के लिए जा रहे थे । मार्ग में किसी वृद्धा ढाबे वाली के घर रसोई करा जीमने आये । भोजन के समय उस वृद्धा ने घी के व्यापारी को घर के अन्दर बिठाया और चमड़े के व्यापारी को घर के बाहर बिठाया ।

लौटते समय वृद्धा ने चमड़े के व्यापारी को घर के भीतर और घी के व्यापारी को घर के बाहर बिठाया ।

जब उन दोनों ने उसका कारण पूछा तो वृद्धा ने कहा- ``- जब तुम दोनों घी व चमड़ा खरीदने के लिए जा रहे थे , तब घी के व्यापारी का मन शुद्ध था क्योंकि वह सुकाल चाहता था, क्योंकि सुकाल में घी सस्ता मिलता है और चमड़े के व्यापारी के दिल में दुष्काल की भावना थी । क्योंकि दुष्काल पड़े और अधिक पशु मरे तो चमड़ा सस्ता मिल सकता था ।

लौटते समय घी के व्यापारी के मन में **'दुष्काल पड़े तो घी महंगा बेचा जा सके'** का अशुभ विचार था और चमड़े के व्यापारी के मन में **'सुकाल पड़े तो अच्छा'** का शुभ विचार था क्योंकि सुकाल होने से चमड़ा महँगा हो जाएगा । **आद्यपञ्चाशक की टीका में कहा है**–

उचिअं मुत्तूण कलं दव्वाइ कमागयं च उक्करिसं ।
निवडिअमवि जाणंतो परस्स संतं न गिण्हिज्जा ।।

टीका का अर्थ :- सैकड़े पर सालाना चार-पाँच का ब्याज अथवा **'ब्याजे स्यात् द्विगुणं वित्तं'** यानी ब्याज से धन दुगुना होता है । इस कहावत के अनुसार नगद का अधिकतम दुगुना और धान्य का तीन गुना तथा गणिम, धरिमादि अनेक प्रकार के द्रव्यों के क्षय से कमी आने पर माल के भाव में वृद्धि हुई हो तो उससे अधिक नहीं लेना । अर्थात् किसी प्रकार से सुपारी आदि के क्षय से दुगुना तीन-गुना लाभ हो जाए तो उसे शुभ आशय से ग्रहण करें । मगर ऐसा विचार नहीं करना कि ``अच्छा हुआ सुपारी आदि का क्षय हुआ ।'' तथा दूसरे की गिरी हुई वस्तु भी नहीं लेनी चाहिए । ब्याज आदि में तथा क्रय-विक्रय में देश-काल आदि के अनुसार जो वाजिब हो एवं लोक से अनिन्दित हो, ऐसा ही मुनाफा ग्रहण करना चाहिए ।

झूठे माप-तौल न रखें

झूठा तराजू अथवा माप रखकर दूसरे को न ठगें । लेने में अधिक व देने में कम न दें । प्रवाही (रस) वस्तु में अथवा दूसरी वस्तु में हल्की वस्तु की मिलावट न करें । अनुचित मूल्यवृद्धि न करें । अनुचित ब्याज न लें, रिश्वत न लें । रिश्वत न दें । अघटित कर न लें । नकली या घिसा हुआ सिक्का न दें । दूसरे के क्रय-विक्रय का भंग न करें । दूसरे के ग्राहक को भ्रमित न करें । अच्छा माल बताकर खराब माल न दें । अंधेरे में वस्त्र आदि का लेन-देन कर किसी को न ठगें । अक्षर मे फेरफार करना इत्यादि अकृत्य सर्वथा त्यागने चाहिए । **कहा भी है**–

विधाय मायां विविधैरुपायैः, परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।
ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्गसुखान्महामोहसखाःस्वमेव ।।1।।

``जो लोग अनेकविध उपायों द्वारा माया करके दूसरों को ठगते हैं, वास्तव में देखा जाय तो वे महामोह के मित्र बनकर अपने आपको ही स्वर्ग और मोक्ष के सुखों से ठगते हैं ।'' (अर्थात् मायाचार करने वाला स्वर्ग व मोक्ष का सुख प्राप्त नहीं करता है, उन सुखों से वंचित रहकर अपने आपको ही ठगता है ।)

ऐसा कुतर्क देने की भी आवश्यकता नहीं है कि व्यापार में न्याय-नीति का पालन करने से गरीबों के लिए जीवन-निर्वाह ही दुष्कर हो जायेगा ।

सचमुच आजीविका तो अपने कर्म के अधीन है । व्यवहार-शुद्धि रखने से तो ग्राहक अधिक आते हैं, फलस्वरूप जीवन-निर्वाह विशेष प्रकार से हो सकता है ।

व्यवहारशुद्धि और हेलाक

किसी नगर में हेलाक नाम का सेठ था । उसके चार पुत्र थे । धन के लोभ के कारण उसने तीन-सेर, पाँच सेर आदि के झूठे माप-तौल बना दिये थे । वह अपने पुत्रों को त्रिपुष्कर, पंचपुष्कर आदि संकेतों से गाली देने के बहाने कम देकर और ज्यादा लेकर लोगों को ठगता था ।

सेठ की चौथी पुत्रवधू अत्यन्त विवेकी थी । उसे जब सेठ के इस दुर्व्यवहार का पता चला तो उसने सेठ को बहुत उलाहना दिया । तो सेठ ने कहा-``क्या करें ? इसके बिना तो जीवन-निर्वाह ही सम्भव नहीं है । भूखा व्यक्ति कौनसा पाप नहीं करता है ?''

पुत्रवधू ने कहा- ``हे तात ! ऐसा न बोलो । व्यवहार-शुद्धि रखने से तो सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं ।'' **कहा भी है**–

``न्याय से बर्ताव करने वाले यदि धर्मार्थी या द्रव्यार्थी हों तो उन्हें सत्यता से सचमुच धर्म और द्रव्य की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती । अगर न्याय से बर्ताव न करे तो किसी भी प्रकार से धर्म एवं द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती ।''

``अत:आप परीक्षा के लिए भी छह मास के लिए अनीति को छोड़ दें और फिर देखें आपको कितनी धनवृद्धि होती है । परीक्षा में सफलता मिले तो आगे भी वैसा ही करें ।''

सेठ ने पुत्रवधू की बात स्वीकार कर ली । व्यापार में न्याय-नीति के पालन के फलस्वरूप सेठ की दुकान पर बहुत ग्राहक आने लगे, जिससे सेठ का जीवन-निर्वाह भी आसानी से होने लगा । छह मास में **'पल'** प्रमाण सोने की भी वृद्धि हुई ।

``न्याय का धन खो जाय तो भी वापस मिल जाता है'' -पुत्रवधू के इस वचन की परीक्षा के लिए सेठ ने उस बचे हुए सोने पर लोहा जड़वाकर उस पर अपना नाम लिखकर उसका एक सेर बनवाया । अपनी दुकान में तौलने के लिए रख छोड़ा । इस प्रकार छह मास हुए फिर उसे किसी सरोवर में फेंक दिया । मत्स्य ने उसे भक्ष्य समझकर निगल लिया । कुछ समय बाद वही मत्स्य मच्छीमार के द्वारा पकड़ा गया । मत्स्य को चीरने पर उसमें से सेठ के नाम -से अंकित वह सेर मिला मच्छीमार ने जाकर वह सेठ को सौंप दिया ।

बाद में परिवार सहित सेठ को पुत्रवधू के वचन पर एकदम विश्वास आ गया । उसके बाद न्याय व नीतिपूर्वक व्यापार करने के कारण वह सेठ समृद्ध एवं राजमान्य बना । क्रमश:प्रसिद्ध श्रावक बना । लोग उसका नाम लेने लगे । उसके नाम के प्रभाव से अन्य लोगों के भी विघ्न दूर होने लगे । सुना जाता है कि आज भी बड़ी नाव को चलाते समय नाविक लोग उसके नाम को **'हेला-हेला'** कहकर याद करते हैं ।

``स्वामी, मित्र, विश्वासी, देव, गुरु, वृद्ध तथा बालक के साथ द्रोह करना और उनकी न्यास का अपहरण करना, यह तो उनकी हत्या के समान है, अतः ऐसे पाप एवं अन्य बड़े पापों का अवश्य त्याग करना चाहिए ।'' **कहा भी है–**

कूटसाक्षी दीर्घरोषी, विश्वस्तघ्नःकृतघ्नकः ।
चत्वारः कर्मचाण्डालाः, पञ्चमो जातिसम्भवः ।।1।।

``झूठी साक्षी देने वाला, दीर्घकाल तक रोष करने वाला, विश्वासघात करने वाला और कृतघ्न ये चार, कर्म-चांडाल हैं और पाँचवाँ जाति-चांडाल है ।''

विश्वासघात और विसेमिरा

विशालानगरी में नन्द नाम का राजा था । उसके विजयपाल नाम का पुत्र और बहुश्रुत नाम का मंत्री था । राजा की भानुमती नाम की रानी थी । राजा उसमें विशेष आसक्त था । राजसभा में भी वह भानुमती को अपने पास बिठाता था । यह देख एक बार मंत्री ने राजा को कहा- ``जिस राजा का वैद्य, गुरु और मंत्री केवल मधुरभाषी होता है, उस राजा के शरीर, धर्म और कोष की शीघ्र हानि होती है ।'' ....यह बात कहकर उसने कहा- ``हे राजन् ! राजसभा में रानी को पास में बिठाना उचित नहीं है । क्योंकि कहा भी है कि राजा, अग्नि, गुरु और स्त्री अत्यन्त पास में हों तो वे विनाश के लिए होते हैं और अत्यन्त दूर हों तो अपना फल नहीं देते हैं, अतःमध्यम भाव से ही उनकी सेवा करनी चाहिए । इस कारण रानी को पास में बिठाने के बजाय उसका चित्र बनवा दो ।''

राजा ने रानी का चित्र बनवा दिया और उसे अपने गुरु शारदानन्द को बताया ।

अपनी विद्वत्ता बताने के लिए उसने कहा- ``रानी की बाँयी जंघा पर तिल का निशान है, वह इसमें नहीं बतलाया है ।''

राजा के मन में रानी के शील के प्रति सन्देह पैदा हुआ और उसने तत्काल शारदानन्द को मारने के लिए मंत्री को आदेश कर दिया ।

मंत्री ने सोचा–``बुद्धिमान पुरुष को शुभ अथवा अशुभ कार्य करने के पूर्व उसके परिणाम पर अच्छी तरह से विचार करना चाहिए, क्योंकि किसी कार्य को जल्दबाजी में करने पर उसका परिणाम जीवनपर्यन्त हृदय को जलाने वाले शल्य की तरह दुःखदायी होता है ।''

``कोई भी कार्य जल्दबाजी में नहीं करना चाहिए । अविवेक ही सर्व आपत्तियों का स्थान है । विचारपूर्वक कार्य करने वाले को गुणों में लुब्ध सभी सम्पत्तियाँ स्वयं ही वरती हैं ।'' इस प्रकार नीतिशास्त्र में कही बात को याद कर मंत्री ने शारदानन्द को अपने घर में ही छुपा दिया ।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकःपरमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाःस्वयमेव सम्पदः ।।1।।

सगुणमपगुणं कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतःपण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ।।

एक बार राजपुत्र शिकार के लिए सुअर का पीछा करता हुआ बहुत दूर चला गया ।

संध्या समय सरोवर का पानी पीकर व्याघ्र के भय से राजपुत्र किसी वृक्ष पर चढ़ गया । वृक्ष पर व्यन्तराधिष्ठित बन्दर था । सर्वप्रथम वह राजपुत्र बन्दर की गोद में सो गया । तत्पश्चात् राजपुत्र की गोद में बन्दर सो गया । उसी समय भूख से पीड़ित एक व्याघ्र उस वृक्ष के नीचे आया । व्याघ्र के कहने पर उस राजपुत्र ने उस बन्दर को नीचे फेंक दिया । वह बन्दर व्याघ्र के मुख में गिरा और व्याघ्र के हँसने पर वह बाहर निकल गया और रुदन करने लगा । व्याघ्र के पूछने पर बोला- ``हे व्याघ्र ! जो अपनी जाति को छोड़कर अन्य जाति में आसक्त बने हैं, उन जड़ लोकों की क्या गति होगी ? यह विचार कर मैं रो रहा हूँ ।''

इसे सुनकर वह कुमार लज्जित हुआ । बन्दर ने उस राजपुत्र को पागल बना दिया । वह राजपुत्र **'विसेमिरा' 'विसेमिरा'** कहता पागल की तरह घूमने लगा ।

राजपुत्र का अश्व तो राजभवन में आ गया था, अतः राजा ने राजपुत्र की शोध चालू की और अन्त में राजपुत्र को राजभवन में लाया गया ।

किसी भी उपाय से जब राजपुत्र ठीक नहीं हुआ तब राजा ने शारदानन्द को याद किया ।

``मेरे राजपुत्र को जो ठीक करेगा उसे आधा राज्य दूंगा'' इस प्रकार राजा के निर्णय करने पर मंत्री ने कहा- ``मेरी पुत्री थोड़ा-बहुत जानती है ।''

पुत्रसहित राजा मंत्री के घर गया । उसी समय पर्दे के भीतर रहे शारदानन्द ने कहा- ``विश्वासपात्र व्यक्ति को ठगने में कौनसी चतुराई है और गोद में सोये हुए को खत्म करने में कौनसा पराक्रम है ?'' इस बात को सुनने पर राजपुत्र ने **'वि'** अक्षर छोड़ दिया ।

``समुद्र के सेतु पर जहाँ गंगा-सागर का संगम होता है वहाँ पर स्नान करने से ब्रह्महत्या के पाप से पापी मुक्त हो जाते हैं, परन्तु मित्र से द्रोह करने वाला कभी मुक्त नहीं होता है ।''

इस बात को सुनने पर राजपुत्र ने दूसरा अक्षर छोड़ दिया ।

``मित्र से द्रोह करने वाला, कृतघ्न, चोर और विश्वासघाती ये चार नरक में जाते हैं । जब तक चन्द्र, सूर्य हैं तब तक नरक के दुःख भोगते हैं ।''

इस बात को सुनने पर राजपुत्र ने तीसरा अक्षर भी छोड़ दिया ।

``हे राजन् ! यदि तुम राजपुत्र का भला चाहते हो तो सुपात्र में दान दो । गृहस्थ दान से ही शुद्ध होता है ।''

इस बात को सुनने पर राजपुत्र एकदम ठीक हो गया और उसने व्याघ्रादि का वृत्तान्त बता दिया ।

उसी समय राजा ने कहा-``हे बाला ! तू तो गाँव में रहती है तो फिर तू जंगल में हुई व्याघ्र, बन्दर एवं मनुष्य की बात को कैसे जानती है ?''

उसी समय पर्दे के भीतर रहे शारदानन्द ने कहा- ``देव-गुरु की कृपा से मेरी जीभ पर सरस्वती रही हुई है, अतः हे राजन् ! जिस प्रकार मैंने भानुमती रानी के तिल को जाना था, उसी प्रकार इस बात को भी जान लिया ।''

यह बात सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसी समय राजा और शारदानन्द का मिलन हुआ । दोनों खुश हो गये ।

पाप के प्रकार

पाप के दो प्रकार हैं -गुप्त और प्रगट । **गुप्त-पाप** के दो भेद हैं–छोटा और बड़ा । खोटे माप-तौल आदि रखना छोटा गुप्तपाप है और किसी का विश्वासघात करना बड़ा गुप्तपाप है ।

प्रगट-पाप भी दो प्रकार का है-(1) कुलाचार से करना और (2) निर्लज्ज बनकर करना ।

गृहस्थों के आरम्भ-समारम्भ के पाप और म्लेच्छों के हिंसादि पाप कुलाचार के प्रगट पाप हैं ।

साधु-वेष में रहकर निर्लज्ज बनकर हिंसादि पापाचरण करना महापाप है । निर्लज्जता से पापाचरण शासन-मलिनता का हेतु होने से अनन्त संसार-भ्रमण का कारण बनता है ।

कुलाचार से प्रगट पापाचरण में अल्प कर्म का बंध होता है और गुप्त पाप करने से तीव्रतर कर्म का बंध होता है, क्योंकि गुप्त-पाप असत्यमय होता है । मन, वचन, और काया से असत्य आचरण भयंकर पाप है । असत्यप्रेमी ही गुप्त पाप करते हैं । जो असत्य का त्यागी है, वह गुप्त पाप नहीं कर सकता । असत्य प्रवृत्ति से मनुष्य निर्दय बनता है । निर्दय व्यक्ति स्वामी, मित्र, विश्वासी का भी द्रोह कर महापाप कर सकता है । इसीलिए **योगशास्त्र** के आन्तर श्लोक में भी कहा है, ``तराजू के एक पलड़े में असत्यजन्य पाप रखें और दूसरे पलड़े में अन्य सब पाप रख दें तो भी असत्य के पाप का पलड़ा भारी हो जायेगा ।'' अतःअसत्यमय गुप्त पाप रूप दूसरे को ठगने के पाप का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

न्यायमार्ग का अनुसरण

परमार्थ से अर्थार्जन का रहस्यभूत उपाय न्याय ही है । वर्तमान में भी देखा जाता है कि न्याय से अर्थार्जन करने वाले को थोड़ा-थोड़ा धन उपार्जन करने पर भी तथा प्रतिदिन धर्मस्थान में धनव्यय करने पर भी उसका धन कुए के जल की भाँति अक्षय बना रहता है ।

``अन्याय-अनीति से अर्थार्जन करने वाले लोग कदाचित् ज्यादा धन कमा लें और बहुत खर्च न करें तो भी मरुभूमि के सरोवर की भाँति उनका धन शीघ्र नष्ट हो जाता है ।''

कहा भी है– ``छिद्र (पाप) से होने वाली परिपूर्णता कभी उन्नति के लिए नहीं होती है, बल्कि आत्मनाश के लिए ही होती है । क्या अरहट में बारम्बार डूबते हुए घटीयंत्र (घड़ों) को नहीं देखते हो ?''

प्रश्न :- न्यायमार्ग में एकनिष्ठ होने पर भी कुछ लोग निर्धनता आदि के कारण अत्यन्त दुःखी दिखाई देते हैं और कुछ लोग अन्यायमार्ग में तत्पर होने पर भी समृद्धि के द्वारा अत्यन्त सुखी दिखाई देते हैं तो फिर न्याय की प्रधानता कैसे ?

उत्तर :- धर्मी दुःखी और अधर्मी सुखी की जो विषमता लोक में देखी जाती है, वह पूर्वकृत कर्म का ही फल है, न कि इस भव के कर्म का । कर्म के चार प्रकार हैं । **श्री धर्मघोष सूरिजी म.** ने कहा है-

``पुण्यानुबन्धी पुण्य, पापानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पाप और पापानुबन्धी पाप (से कर्म के चार भेद हैं) ।

(1) जिनधर्म की विराधना नहीं करने वाले जीव भरतचक्री की तरह दुःखरहित और निरुपम सुख प्राप्त करते हैं । उनके पुण्यानुबन्धी पुण्य का उदय समझना चाहिए ।

(2) अज्ञान कष्ट से पापानुबन्धी पुण्य के उदय वाले कोणिक आदि की तरह नीरोगता आदि गुणों से युक्त बड़ी समृद्धि वाले और पापकार्य में रक्त होते हैं ।

(3) जो जीव द्रमक मुनि की तरह पाप के उदय से निर्धन और दुःखी होने पर भी दया आदि के कारण जिनधर्म प्राप्त करते हैं, उनके पुण्यानुबन्धी पाप का उदय समझना चाहिए ।

(4) कालशौकरिक कसाई की तरह तो पापी कठोर कर्म करने वाले हैं, अधर्मी हैं, निर्दय हैं, पाप के पश्चाताप से रहित हैं और दुःखी होने पर भी पापकर्म में निरत हैं, वे पापानुबन्धी पाप के उदय वाले समझने चाहिए ।

``पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रभाव से बाह्य और अन्तरंग ऋद्धि प्राप्त होती है । जिस मनुष्य के पास एक भी ऋद्धि नहीं है, उसके मनुष्यपने को धिक्कार हो ।''

``खण्डित भावना वाले जीव अखण्डित पुण्य को प्राप्त नहीं करते हैं । ऐसे जीव आगामी भव में आपदायुक्त सम्पदा प्राप्त करते हैं । ''

इस प्रकार किसी को यदि पापानुबन्धी पुण्य के उदय से इस लोक में कोई विपत्ति दिखाई न दे तो भी उसके पाप का फल आगामी भवों में तो अवश्य होने वाला ही है । **कहा भी है**– ``धन के राग में अंध बना व्यक्ति पाप से ही लाभ प्राप्त करता है, परन्तु वह लाभ काँटे के ऊपर लगाये गये मांस के भक्षक मत्स्य की तरह उसका विनाश किये बिना नहीं पचता है ।''

अतःस्वामीद्रोह में हेतुभूत शुल्कभंग आदि यहाँ भी अनर्थकारी होने से उनका त्याग करना चाहिए ।

जिसमें दूसरों को थोड़ी भी पीड़ा होती हो ऐसा व्यवहार तथा गृह-हाट आदि का निर्माण तथा कुड़की से घर आदि लेने का या उसमें रहने का त्याग करना चाहिए ।

किसी को पीड़ा पहुँचाकर सुख-समृद्धि की वृद्धि कभी नहीं होती है । **कहा भी है**– ``शठता से मित्र, कपट से धर्म, परपीड़ा से समृद्धि, सुखपूर्वक विद्या और कठोर व्यवहार द्वारा स्त्री को अधीन करना चाहता है, वह वास्तव में मूर्ख ही है ।''

शाठ्येन मित्रं कपटेन धर्मं, परोपतापेन समृद्धिभावम् ।
सुखेन विद्यां प्ररुषेण नारीं, वाञ्छन्ति ये व्यक्तमपण्डितास्ते ।।1।।

अतःजिस प्रकार लोगों की प्रीति बढ़े, उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए । **कहा भी है**–

``इन्द्रिय-जय विनय का कारण है, विनय से गुण का प्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणप्रकर्ष से लोग खुश होते हैं । जनानुराग से हर तरह की सम्पत्ति प्राप्त होती है ।''

``धनहानि, धन-वृद्धि और संग्रह आदि की गुप्त बात किसी को नहीं कहनी चाहिए ।''

कहा भी है–

``अपनी स्त्री, आहार, सुकृत, धन, गुण, दुष्कर्म, मर्म और मंत्र ये आठ बातें किसी को नहीं बतानी चाहिए ।''

यदि कोई पूछे तो भी झूठ न बोले बल्कि ``ऐसे प्रश्नों से क्या मतलब ?'' इस प्रकार भाषा समिति से कहना चाहिए । राजा और गुरु आदि के पूछने पर तो सभी सही बात बता देनी चाहिए । **कहा भी है–** ``मित्रों के साथ सत्य बोलना चाहिए । स्त्रियों के साथ प्रिय बोलना चाहिए । दुश्मन के साथ झूठ भी मधुर वचन से बोलना चाहिए और स्वामी के साथ अनुकूल सत्य बोलना चाहिए ।''

सत्यं मित्रैःप्रियं स्त्रीभिरलीकमधुरं द्विषा ।
अनुकूलं च सत्यं च, वक्तव्यं स्वामिना सह ।।1।।

सत्य बोलने में पुरुष की पराकाष्ठा है; क्योंकि उसी से विश्वास पैदा होता है ।

सत्यवादी महणसिंह

दिल्ली में महणसिंह नाम का सेठ था । वह अत्यन्त ही सत्यवादी था । उसकी ख्याति सुनकर उसकी परीक्षा के लिए बादशाह ने उसे पूछा -``तुम्हारे पास कितना धन है ?'' सेठ ने कहा- ``मैं हिसाब देखकर बताऊंगा ।''

सेठ ने अपना सब हिसाब देखकर राजा को कहा- ``मेरे घर में अनुमान से चौरासी लाख टंक हैं ।''

राजा ने सोचा - ``मैंने तो कम सुना था, इसने तो ज्यादा बता दिया'' सेठ की सत्यप्रियता को देखकर राजा ने उसे अपना कोषाध्यक्ष नियुक्त कर दिया ।

सत्यवादी भीम सोनी

खम्भात नगर में श्री जगच्चन्द्र सूरिजी का शिष्य भीम नाम का सोनी था, जो विषम परिस्थिति में भी झूठ नहीं बोलता था । एक बार शस्त्रधारी सैनिकों ने मल्लिनाथ प्रभु के मन्दिर में से भीम श्रेष्ठी को पकड़कर कैद कर लिया । अपने पिता को बन्धनमुक्त कराने के लिए भीम के पुत्र चार हजार नकली टंक लेकर उन शस्त्रधारियों के पास आये । उन्होंने उन टंकों की परीक्षा भीम के पास करायी । भीम के सत्य बोलने पर वे शस्त्रधारी खुश हो गये और उन्होंने भीम को बन्धन मुक्त कर दिया ।

मित्र बनायें

आपत्ति में सहयोग पाने के लिए समान धर्म, धन और प्रतिष्ठा आदि गुण वाले, बुद्धिवाले और निर्लोभ व्यक्ति को अपना मित्र बनाना चाहिए । **रघु काव्य** में कहा है- ``राजा का मित्र यदि शक्तिहीन हो तो आपत्ति में उसकी सहायता नहीं कर सकता और अधिक बलवान हो तो वह स्पर्धा किये बिना नहीं रहेगा, अतः **मध्यम शक्ति वाले के साथ ही राजा को मैत्री करनी चाहिए ।''** अन्यत्र भी कहा है-

''जिस आपत्ति में भाई, पिता और अन्य स्वजन भी नहीं ठहर पाते, ऐसी स्थिति में आपत्ति को दूर करने के लिए सन्मित्र ही सहायता करते हैं । ''

``हे लक्ष्मण ! अपने से अधिक समृद्ध के साथ मैत्री करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसे व्यक्ति के घर जाने पर अपना कोई गौरव नहीं होता है और समृद्ध व्यक्ति के अपने घर आने पर अपने धन का क्षय ही होता है ।''

उपर्युक्त बात युक्तियुक्त होने पर भी कदाचित् धनवान व्यक्ति के साथ प्रीति हो तो अशक्यकार्य भी सिद्ध हो जाते हैं, यह फायदा बड़ा है । **कहा है**– ``स्वयं को ही समर्थ होकर रहना चाहिए अथवा किसी समृद्ध व्यक्ति को अपना बनाना चाहिए, जिससे कोई भी कठिन कार्य सिद्ध हो जाता है । काम निकालने का इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है ।''

अपने से छोटे व्यक्ति के साथ भी मैत्री करनी चाहिए, क्योंकि अवसर आने पर छोटे व्यक्ति भी बड़ी सहायता करते हैं । **पंचाख्यान** में कहा है- ``बलवान और कमजोर दोनों के साथ मैत्री करनी चाहिए । जंगल में बँधे हुए हाथी के यूथ को एक चूहे ने मुक्त करा दिया ।'' कई बार छोटे व्यक्तियों (जीवों) से साध्य कार्य बड़े व्यक्तियों के लिए भी असम्भव हो जाता है । सुई का काम तो सुई ही करती है वहाँ तलवार क्या काम आती है ? तृण का कार्य तृण से ही होता है, हाथियों से नहीं । ग्रन्थकार ने कहा भी है- ``तृण, धान्य, नमक, अग्नि, काजल, गोबर, मिट्टी, पत्थर, राख, लोहा, सुई, औषधि चूर्ण तथा चाबी इत्यादि वस्तुएँ अपना कार्य स्वयं ही करती हैं । इन वस्तुओं का कोई विकल्प नहीं है ।''

दुर्जन से व्यवहार

दुर्जनों के साथ व्यवहार करते समय भी वचन का दाक्षिण्य नहीं छोड़ना चाहिए । कहा है-

``सद्भाव से मित्र के मन को, सन्मान से बन्धुओं के चित्त को, दान से नौकर के चित्त को और अन्य लोगों को दाक्षिण्य से वश में करना चाहिए ।''

कभी-कभी अपने कार्य की सिद्धि के लिए दुर्जनों को भी अग्रणी बना देना चाहिए । ग्रन्थकार ने कहा है- ``बुद्धिमान पुरुष कभी दुर्जनों को भी आगे कर अपना कार्य साध लेते हैं । क्लेशरसिक दाँतों को आगे कर जीभ अपना कार्य कर लेती है ।''

``काँटों से भी सम्बन्ध किये बिना निर्वाह सम्भव नहीं है । खेत, ग्राम, घर और बगीचे आदि की रक्षा उन्हीं के अधीन है ।''

लेन-देन का व्यवहार

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते, जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ।।2।।

जिनके साथ अत्यन्त प्रीति हो, उनके साथ अर्थ-सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए । **कहा है**– ``जहाँ पर मैत्री सम्बन्ध की इच्छा न हो वहीं पर अर्थ-सम्बन्ध करना चाहिए । जहाँ प्रतिष्ठाभंग का भय हो वहाँ खड़े नहीं रहना चाहिए ।'' **सोमनीति** में भी कहा है- द्रव्य-सम्बन्ध और सहवास जहाँ हो वहाँ झगड़ा हुए बिना नहीं रहता है ।''

``साक्षी के बिना मित्र के घर पर भी न्यास नहीं रखनी चाहिए और मित्र के द्वारा किसी को अपनी रकम भी नहीं भेजनी चाहिए । क्योंकि अर्थ ही अविश्वास का मूल है और जहाँ अर्थ (धन) का लेन-देन नहीं है, वहीं विश्वास बना रहता है ।'' **कहा भी है**–

`` विश्वसनीय और अविश्वसनीय दोनों का विश्वास नहीं करना चाहिए । विश्वास से उत्पन्न भय मूल से ही नष्ट करता है ।''

गुप्त रखे गये न्यास से मित्र का भी मन ललचा जाता है । कहते भी हैं-``अपने घर में किसी की न्यास आने पर सेठ भी अपने देवता की स्तुति करता है कि ``न्यास का मालिक शीघ्र मर गया तो मैं आपको याचित वस्तु शीघ्र दे दूंगा ।'' ग्रन्थकार ने भी कहा है- ``अर्थ वास्तव में अनर्थकारी ही है, परन्तु अग्नि की तरह उसके बिना भी गृहस्थों का जीवननिर्वाह शक्य नहीं है, अतःधन का भी युक्तिपूर्वक रक्षण करें ।''

धनेश्वरसेठ

धनेश्वर सेठ ने अपने घर की समस्त सारभूत वस्तुओं को इकट्ठा कर, उन्हें बेचकर एक-एक करोड़ सोना मोहर के मूल्य वाले आठ रत्न खरीद लिये और अपनी पत्नी व पुत्र आदि से भी छिपाकर उन्हें अपने मित्र के घर न्यास के रूप में रख दिये और स्वयं धनार्जन के लिए विदेश चला गया । काफी समय बीत गया । एक बार अचानक दुर्भाग्य से बीमारी आ जाने के कारण वह मरणासन्न अवस्था में आ पड़ा । **कहा है**– ``मचकुन्द के समान निर्मल हृदय से हर्षित होकर मनुष्य कुछ और ही सोचता है और परिणाम कुछ दूसरा ही आता है । सचमुच, कार्यारम्भ विधि (भाग्य) के अधीन है ।''

उस समय निकटस्थ स्वजनों के द्वारा सेठ को धन आदि के बारे में पूछने पर सेठ ने कहा- ``विदेश में अर्जित मेरा बहुत सा धन इधर-उधर रहा हुआ है, उसे प्राप्त करना तो पुत्रों के लिए कठिन है, परन्तु मित्र के वहाँ मेरे आठ रत्न न्यास के रूप में रखे गये हैं, वे मेरी पत्नी व पुत्रों को दे देना'' -इतना कहकर वह सेठ मर गया ।

स्वजनों ने जाकर सेठ के पुत्रों को सब बात कह दी ।

सेठ के पुत्रों द्वारा विनय, स्नेह और बहुमान से तथा पीड़ा, भय आदि से रत्नों की मांग करने पर भी धनलुब्ध उस मित्र ने वे रत्न वापस नहीं दिये । न्यायालय में इस मामले को ले जाने पर भी साक्षी और लिखित के अभाव के कारण राजा और मन्त्री आदि भी उस मित्र के पास से रत्न नहीं दिला सके ।

साक्षी से लाभ

किसी को धन देते समय जैसे-तैसे की भी साक्षी रखने से, चोर आदि के द्वारा वह धन चुराने पर भी वापस प्राप्त हो सकता है ।

सरलता

एक धूर्त किन्तु समृद्ध वणिक् किसी मार्ग से जा रहा था । मार्ग में उसे चोर मिले । चोरों ने उसे जुहार (प्रणाम) कर उससे धन मांगा । उसने कहा- ``साक्षी देकर सब धन ले जाओ । अवसर आने पर लौटा देना परन्तु मुझे मारना मत ।''

उन चोरों ने सोचा- ``यह भोला लगता है'' -इस प्रकार विचार कर रंग-बिरंगे बिलाड़े को साक्षी करके उन चारों ने वह धन ले लिया । उस वणिक् ने उस स्थान को बराबर पहिचान लिया और वह अपने गाँव आ गया ।

कुछ समय के बाद उन चोरों के गाँव के कुछ लोग उन चोरों के साथ बहुत-सी वस्तुएँ लेकर आये थे । वणिक् ने उन चोरों को पहिचान लिया । उसने अपना धन मांगा । धन नहीं देने पर यह मामला न्यायालय में गया ।

न्यायाधीश ने पूछा-``कोई साक्षी है?'' वणिक् ने काले बिलाड़े को पिंजरे में डालकर कहा- ``यह साक्षी है ।'' चोरों ने कहा- ``जरा देखें । साक्षी कौन है ?'' इस प्रकार पूछने पर वणिक् ने कहा- ``यह साक्षी है ।''

उसी समय उन चोरों ने कहा-``यह साक्षी नहीं है । यह तो श्याम है, वह तो कबरे रंग का था ।''

अपने मुँह से ही साक्षी को स्वीकार कर लेने के कारण तत्काल न्यायाधीश ने वह सारा धन वणिक् को देने के लिए चोरों पर दबाव डाला । साक्षी के कारण वणिक् ने अपना धन वापस प्राप्त कर लिया ।

42. न्यास-स्थापना

न्यास की लेनदेन गुप्तवृत्ति से नहीं करनी चाहिए बल्कि स्वजनों की उपस्थिति में ही न्यास रखनी चाहिए अथवा लेनी चाहिए । न्यास के मालिक की अनुनति के बिना उस न्यास को हटाना भी उचित नहीं है तो फिर उसे व्यापार आदि में तो कैसे लगा सकते हैं ? यदि न्यास रखने वाला मर जाय तो उसकी वह न्यास उसके पुत्र आदि को सौंप देनी चाहिए । पुत्र आदि का अभाव हो तो संघ समक्ष बातकर वह धन धर्मस्थान में खर्च करना चाहिए । उधार, न्यास आदि के आयव्यय के हिसाब को लिखने में आलस्य नहीं करना चाहिए । **कहा भी है**–

``धन को गाँठ-बाँधने में, धन की परीक्षा करने में, धन को गिनने में, धन को छुपाने में, धन का व्यय करने में और धन का हिसाब-किताब लिखने में जो व्यक्ति आलस्य करता है, वह व्यक्ति शीघ्र नष्ट होता है ।'' भूल जाना मनुष्य का स्वभाव है । चोपड़े में नहीं लिखने से भ्रांति हो जाती है, जिससे व्यर्थ ही कर्मबंध होता है ।

अपने निर्वाह के लिए जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य का आश्रय करता है, उसी प्रकार राजा आदि किसी नायक का अनुसरण करना चाहिए । अन्यथा कदम-कदम पर पराभव आदि सहन करना पड़ता है ।

कहा भी है– ``सज्जनों के उपकार और शत्रुओं के प्रतिकार के लिए राजा के आश्रय की जरूरत पड़ती है । केवल अपनी पेटपूर्ति का प्रयत्न कौन नहीं करता है ? अर्थात् सभी लोग अपनी पेटपूर्ति करते ही हैं, परन्तु राजा का आश्रय केवल पेटपूर्ति के उद्देश्य से नहीं होता है ।''

वस्तुपाल मंत्री और पेथड़शाह आदि ने राजा की मदद से ही अनेक जिनमन्दिर आदि बनवाने का पुण्यकार्य किया था ।

सज्जन व्यक्ति को जुआ, धातुवाद आदि व्यसनों से सर्वथा दूर ही रहना चाहिए ।

कहा भी है– ``जुआ, धातुवाद, अंजनसिद्धि, रसायन, यक्षिणी की गुफा में प्रवेश- इत्यादि कार्य भाग्य रूठने पर ही करने की इच्छा होती है ।''

बात-बात में सौगंध नहीं खानी चाहिए और विशेषकर देव-गुरु की तो नहीं खानी चाहिए ।

कहा है–``जो मूढ़ व्यक्ति सच्ची और झूठी भी चैत्य की सौगंध खाता है, वह बोधिबीज का वमन करता है और अनन्त संसारी होता है ।''

न्यायालय में जामिन की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए । **कार्पासिक** ने कहा है- ``गरीब के दो पत्नियाँ, मार्ग में क्षेत्र, दो प्रकार की खेती, जामिन देना और साक्षी देना ये पाँचों अपने आप किये हुए अनर्थ हैं ।''

सामान्यतया तो अपने गाँव में ही व्यापार आदि करना चाहिए । गाँव में ही व्यापार करने से कुटुम्बजनों का वियोग नहीं होता है और गृहकार्य, धर्मकार्य, आदि में भी कोई तकलीफ नहीं आती है । अपने गाँव में निर्वाह शक्य न हो तो अपने देश के अन्दर ही व्यापार करे जिससे समय-समय पर अपने गाँव आ सके । वह कौन मूर्ख (पामर) होगा, जो अपने नगर में जीवन-निर्वाह सम्भव होने पर विदेश जाने का कष्ट उठायेगा ?

कहा भी है– ``हे अर्जुन ! दरिद्री, रोगी, मूर्ख, मुसाफिर और नित्य सेवक- ये पाँच लोग जीते हुए भी मरे हुए के समान ही हैं ।''

अन्य किसी उपाय से जीवन-निर्वाह सम्भव न हो और विदेश जाना पड़े तो भी स्वयं व्यापार न करे और न ही पुत्र आदि के द्वारा कराये, किन्तु सुपरीक्षित विश्वसनीय वणिक्पुत्र आदि के साथ विदेश जाये तब शुभ-मुहूर्त में शुभ शकुन व निमित्त को देखकर देव व गुरु को वन्दन आदि मांगलिक विधिपूर्वक भाग्यशाली सार्थ के साथ जाये । अपनी ज्ञाति के सुपरिचित लोगों को भी साथ रखना चाहिए । मार्ग में निद्रादि प्रमाद का त्याग करना चाहिए और प्रयत्नपूर्वक व्यापार आदि करना चाहिए । साथ में एक भी भाग्यशाली हो तो सभी के विघ्न दूर हो जाते हैं ।

विघ्न-नाश

एक बार वर्षा ऋतु में इक्कीस व्यक्ति अन्य गाँव जा रहे थे । संध्या समय किसी देवकुल में ठहरे । वहाँ बिजली द्वार तक आ-आकर वापस चली जाती थी । मन में भय पैदा होने से वे बोले- ``अपने में कोई दुर्भागी व्यक्ति लगता है, अतःबारी-बारी से एक-एक व्यक्ति बाहर निकलकर देवकुल की प्रदक्षिणा देकर यहाँ आवे ।'' इस प्रकार निश्चय करने पर एक-एक कर बीस व्यक्ति देव-कुल की प्रदक्षिणा देकर वापस आ गये । तब इक्कीसवें व्यक्ति को बलात्कार से जैसे ही बाहर निकाला त्यों ही वह बिजली उन बीस व्यक्तियों पर गिर पड़ी । उनमें वह एक ही भाग्यशाली था ।

अतःविदेश जायें तो भाग्यशाली व्यक्ति के साथ ही जायें और जाने के पूर्व जो कुछ लेन-देन और निधि हो वह अपने पिता, भाई तथा पुत्र आदि को बता दें ताकि कदाचित् दुर्भाग्यवश आयुष्य समाप्त हो जाय तो भी पिता आदि को दरिद्रता आदि दुःख की पीड़ा न हो । विदेश हेतु प्रयाण करते समय अपने कुटुम्बजनों को इकट्ठा कर बहुमानपूर्वक योग्य हित-शिक्षा प्रदान करें ।

कहा भी है– ``सम्माननीय व्यक्ति का अपमान करके, स्त्री की निर्भर्त्सना करके, किसी की ताड़ना करके और बालक को रुलाकर जीवन के इच्छुक को कहीं बाहर जाना उचित नहीं है ।'' निकट में कोई विशेष पर्व और उत्सव आदि हो तो उसे पूरा करके ही जाना चाहिए ।

कहा है– ``उत्सव, भोजन, स्नान, अन्य समस्त मंगल की उपेक्षा करके जन्म और मृत्यु के सूतक की समाप्ति के पूर्व और स्त्री रजस्वला हो तब बाहर (गाँव) नहीं जाना चाहिए ।''

इस प्रकार शास्त्रानुसारी अन्य भी बातों का ध्यान रखना चाहिए ।

कहा भी है– ``दूध पीकर, स्त्री-सम्भोग करके, स्नान करके, अपनी स्त्री को ताड़ना करके, वमन करके, थूक करके और आक्रोशकारी वचनों को सुनकर कभी प्रयाण नहीं करना चाहिए ।'' ``क्षौरकर्म (हजामत) कराकर, आँख में आँसू लाकर तथा अशुभ-शकुन के समय दूसरे गाँव नहीं जाना चाहिए ।''

किसी कार्यविशेष के लिए प्रयाण करते समय, जो नाड़ी चलती हो, वह कदम पहले उठाना चाहिए, इस प्रकार करने से मनुष्य मनोवांछित सिद्धि का भाजन बनता है । ``रोगी, वृद्ध, ब्राह्मण, अंध, गाय, पूज्य राजा और गर्भिणी स्त्री तथा अधिक भार से झुके हुए व्यक्ति को पहले मार्ग देकर फिर आगे बढ़ना चाहिए ।''

''पक्व और अपक्व धान्य, पूजा योग्य मंत्र-मंडल, त्यक्त उबटन, स्नान जल, रक्त तथा शव का उल्लंघन करके नहीं जाना चाहिए ।'' ''थूक, श्लेष्म, विष्ठा, मूत्र, प्रज्वलित अग्नि, सर्प, मनुष्य और शस्त्र का उल्लंघन करके बुद्धिमान पुरुष को आगे नहीं बढ़ना चाहिए ।''

नदीतट, गाय बाँधने के बाड़े तक, क्षीर वृक्ष, जलाशय, बगीचा तथा कुए आदि तक अपने भाई को पहुँचाने के लिए जाना चाहिए । रात्रि में वृक्ष के नीचे विश्राम न करे तथा उत्सव और सूतक की समाप्ति के पूर्व किसी दूर प्रदेश हेतु गमन न करे । बुद्धिमान पुरुष को (सिर्फ) अकेला नहीं जाना चाहिए, अज्ञात व्यक्तियों के साथ, दास-पुरुषों के साथ भी नहीं जाना चाहिए तथा मध्याह्न में और मध्यरात्रि में भी गमन नहीं करना चाहिए ।

''क्रूर पुरुष, आरक्षक, चाटुकार, कारीगर तथा कुमित्रों के साथ गोष्ठी नहीं करनी चाहिए और अकाल समय में उनके साथ जाना भी नहीं चाहिए । आत्मकल्याण के इच्छुक को मार्ग में थकावट लगने पर भी भैंसे, गधे और गाय की सवारी नहीं करनी चाहिए ।''

मार्ग में जाते समय हाथी से हजार हाथ, गाड़े से पाँच हाथ, सींग वाले पशु और घोड़े से दस हाथ दूर ही चलना चाहिए ।

शबल (भाता) साथ में लिये बिना मार्ग में नहीं चलना चाहिए । दिन में अधिक नहीं सोना चाहिए और बुद्धिमान पुरुषों को अपने साथियों पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए । सौ काम आ पड़ें हों, तो भी अकेले तो नहीं जाना चाहिए । देखो, एक केकड़े जैसे प्राणी ने भी ब्राह्मण को बचा लिया । किसी भी व्यक्ति के घर अकेले नहीं जाना चाहिए । किसी के घर पिछले रास्ते से नहीं जाना चाहिए ।

बुद्धिमान पुरुष को जीर्ण नाव में नहीं बैठना चाहिए और नदी में अकेले प्रवेश नहीं करना चाहिए । अपने सगे भाई के साथ भी मार्ग पर नहीं जाना चाहिए । जल और स्थल के विकट प्रदेश, विकट जंगल और गहरे जल को बिना उपाय के पार नहीं करना चाहिए ।

जिस सार्थ में अधिक लोग क्रोधी हों, सुख के लालची हों और कृपण हों, वह सार्थ अपने स्वार्थ का नाश करता है ।

जिस वृंद में सभी नेता हों, सभी अपने आपको पंडित मानते हों, सभी महत्त्व को चाहते हों, वह वृंद अवश्य दुःखी होता है ।

जहाँ कैदी और वध्य पुरुषों को रखा जाता हो, जुए का स्थान हो, पराभव का स्थान हो, वहाँ नहीं जाना चाहिए । किसी के खजाने में और राजा के अन्तःपुर में भी नहीं जाना चाहिए ।

अमनोहर स्थान में, श्मशान में, शून्य स्थान में, चतुष्पथ में, भूसी या शुष्क घास फैलाया हो उस स्थान में, विषम स्थान में, ऊसर भूमि में, वृक्ष के अग्र भाग पर, पर्वत के अग्र भाग पर, नदीतट पर, कुए के किनारे पर तथा जहाँ भस्म, बाल, सिर की खोपड़ियाँ, अङ्गारे आदि पड़े हों, उस स्थान में दीर्घकाल तक नहीं रहना चाहिए । बहुत श्रम लगे तो भी जो करने योग्य कृत्य हों, उन्हें अवश्य करना चाहिए । क्लेश से पराजित पुरुष पुरुषार्थ के फल को पा नहीं सकता है ।

``प्रायःआडम्बर रहित पुरुष सर्वत्र पराभव पाता है, अतःबुद्धिमान पुरुष को सर्वत्र विशेष आडम्बर नहीं छोड़ना चाहिए । विदेश में जाने वाले को तो विशेषकर अपनी योग्यतानुसार आडम्बर सहित और सम्पूर्णतया धर्मनिष्ठ बनना चाहिए । क्योंकि उसी से मान-सम्मान तथा इष्ट-कार्य की सिद्धि सम्भव होती है ।''

विदेश में अधिक लाभ हो जाय तो भी बहुत लम्बे समय तक नहीं रहना चाहिए । विदेश में लम्बे समय तक रहने से काष्ठ श्रेष्ठी आदि की तरह गृहकार्य की अव्यवस्था आदि दोष उत्पन्न होते हैं ।

सामूहिक रूप से क्रय-विक्रय आदि का आरम्भ करना हो तो विघ्ननाश और इष्टलाभ-प्राप्ति आदि की सिद्धि के लिए पंच परमेष्ठी का स्मरण और गौतम स्वामी आदि का नाम लेना चाहिए और उसमें से कुछ वस्तु देव-गुरु आदि के समर्पित करने का संकल्प करना चाहिए । क्योंकि धर्म की प्रधानता से ही सर्वत्र सफलता प्राप्त होती है ।

श्रेष्ठ मनोरथ

उच्चैर्मनोरथाःकार्याः, सर्वदैव मनस्विना ।
विधिस्तदनुमानेन, सम्पदे यतते यतः ।।1।।
ववसायफलं विहवो, विहवस्स फलं सुपत्तविणिओगो ।
तदभावे ववसाओ, विहवोवि अ दुग्गइनिमित्तं ।।1।।

धनार्जन के लिए कुछ भी प्रारम्भ करना हो तब सात क्षेत्र में धनव्यय आदि के बड़े-बड़े मनोरथ करने चाहिए । **कहा भी है**– ``बुद्धिमान पुरुष को हमेशा बड़े ही मनोरथ करने चाहिए, क्योंकि भाग्य भी मनोरथ के अनुरूप ही कार्यसिद्धि करने में यत्न करता है ।'' ``काम, अर्थ और यश के लिए किया गया प्रयत्न निष्फल हो सकता है, परन्तु धर्मकार्य सम्बन्धी किया गया संकल्प कभी निष्फल नहीं जाता हैं ।'' व्यापार में उसके अनुरूप लाभ मिल जाय तो उन मनोरथों को सफल करना चाहिए ।

कहा भी है– ``व्यवसाय का फल वैभव (धनप्राप्ति) है, वैभव का फल सुपात्र में विनियोग है । सुपात्र में विनियोग के अभाव में व्यवसाय व वैभव दोनों दुर्गतिकारक हैं ।'' -इस प्रकार करने से अपनी ऋद्धि धर्म-ऋद्धि होती है, अन्यथा वह पाप-ऋद्धि कहलाती है ।

कहा भी है– ``ऋद्धि के तीन प्रकार हैं- धर्म-ऋद्धि, भोग-ऋद्धि और पाप-ऋद्धि । जो ऋद्धि धर्मकार्य में खर्च की जाती है, वह **धर्म-ऋद्धि** कहलाती है । शरीर के सुख एवं भोग में जिस ऋद्धि का उपयोग होता है, वह **भोग-ऋद्धि** कहलाती है । दान और भोग से रहित ऋद्धि **पाप-ऋद्धि** कहलाती है, जो अनर्थ फलदायी है । पूर्वकृत पाप के फल से पापऋद्धि प्राप्त होती है अथवा भावी पाप से पापऋद्धि प्राप्त होती है, इस सम्बन्ध में यहाँ एक दृष्टान्त है-

पापऋद्धि

वसंतपुर नगर में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वणिक् और स्वर्णकार जाति के चार मित्र थे । धन कमाने के लिए वे परदेश गये । रात्रि में वे एक उद्यान में ठहरे । वहाँ उन्होंने किसी वृक्ष की डाल पर लटकते हुए एक स्वर्णपुरुष को देखा । एक ने कहा, ``धन'' । उसी समय स्वर्णपुरुष ने कहा- ``धन तो अनर्थ को देने वाला है ।'' इसे सुनकर सभी भयभीत हो गये और सभी ने वह स्वर्णपुरुष छोड़ दिया ।

इसी बीच सोनी बोला- ``गिरो ।'' उसी समय वह स्वर्णपुरुष नीचे गिरा । इसी बीच सोनी ने उसकी एक अंगुली काट दी और शेष को खड्डे में फेंक दिया । यह सब दृश्य सभी ने देखा । उनमें से दो मित्र भोजन लेने के लिए नगर में गये थे और दो बाहर खड़े थे । नगर में गये दो मित्र अपने अन्य दो मित्रों को खत्म करने के लिए विषमिश्रित भोजन ले आये । बाहर खड़े मित्रों ने नगर से आये दोनों मित्रों को तलवार से खत्म कर दिया और उसके बाद उन्होंने वह विषमिश्रित भोजन किया । परिणाम-स्वरूप वे भी मर गये । यह पापऋद्धि का दृष्टान्त है ।

अतःदेवपूजा, अन्नदान आदि दैनिक पुण्य और संघ-पूजा, साधर्मिक वात्सल्य आदि प्रासंगिक पुण्यकर्म से अपनी ऋद्धि को पुण्योपयोगी बनाना चाहिए ।

यद्यपि प्रासंगिक पुण्य में अधिक धन का व्यय होने से वे कार्य बड़े कार्य हैं और दैनिक पुण्यकार्य छोटे कार्य हैं, परन्तु दैनिक पुण्यकर्म नित्य करने से बहुत अधिक फल मिलता है क्योंकि नियमित करते रहने से उसका भी फल बढ़ जाता है ।

प्रासंगिक पुण्य भी दैनिक पुण्यपूर्वक करने पर ही औचित्य का पूर्ण पालन होता है- धन अल्प हो तो भी धर्मकार्य में विलम्ब आदि नहीं करना चाहिए । **कहा है**– ``थोड़े में से थोड़ा दो, महान् उदय (लाभ) की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए । इच्छानुसार दान की शक्ति कब किसको मिलेगी ?''

देयं स्तोकादपि स्तोकं, न व्यपेक्षो महोदयः ।
इच्छानुसारिणी शक्तिः, कदा कस्य भविष्यति? ।।1।।

कल का कार्य आज करें । अपराह्न का कार्य मध्याह्न में करें । क्योंकि मृत्यु **'अपना कार्य हुआ है या नहीं'** इसकी प्रतीक्षा करने वाली नहीं है । अर्थार्जन के लिए भी प्रतिदिन यथोचित प्रयत्न करना चाहिए ।

कहा है– ``जिस दिन कुछ भी लाभ नहीं हो उस दिन को वणिक्, वेश्या, कवि, भाट, तस्कर, ठग और ब्राह्मण व्यर्थ समझते हैं । अल्प लक्ष्मी की प्राप्ति से ही उद्यम का त्याग नहीं कर देना चाहिए ।

माघ ने कहा है– ``जो व्यक्ति थोड़ी सी सम्पत्ति प्राप्त कर ही अपनी स्थिति को अच्छी मान लेता है, उसका भाग्य भी अपने आपको कृतकृत्य समझकर उसकी धनवृद्धि नहीं करता है ।''

अतिलोभ भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि लोक में भी कहावत है कि **अति सर्वत्र वर्जयेत् ।** लोभ का पूर्ण त्याग भी नहीं करना चाहिए । अतिलोभ के वशीभूत बना सागर सेठ सागर में ही डूब गया । **``जो कुछ भी इच्छा करे''** इतने मात्र से वस्तु से वस्तु की प्राप्ति नहीं हो जाती है । कोई रंक चक्रवर्तीपने की तीव्र इच्छा करे तो इतने मात्र से वह चक्रवर्ती नहीं बन जाता है । हाँ, भोजन-वस्त्र तो पा भी सकता है । **ग्रन्थकार ने कहा है**–

``इच्छानुसार फल पाने की इच्छा हो तो अपनी योग्यता के अनुसार ही इच्छाएँ करनी चाहिए । लोक में भी परिमित वस्तु मांगने पर मिलती है, परन्तु अपरिमित वस्तु मांगने से कहीं नहीं मिलती है ।''

अतःअपने भाग्य के अनुसार ही इच्छाएँ करनी चाहिए । अधिकाधिक इच्छाएँ करने से उनकी पूर्ति नहीं होने के कारण केवल दुःख ही मिलता है । ``करोड़पति बनने के लिए बहुत कष्ट (क्लेश) को सहन करने वाले निन्यानवे लाख टंक के अधिपति धन सेठ का दृष्टान्त यहाँ सोचना चाहिए ।''

कहा है– ``प्राणियों की आकांक्षाएँ ज्यों-ज्यों पूर्ण होती जाती हैं, त्यों-त्यों विशेष पाने के लिए मन दुःखी होता जाता है ।''

``जो आशाओं का दास है वह त्रिभुवन का दास है और जिसने आशा को अपनी दासी बना ली, उसने तीन जगत् को अपना दास बना लिया ।''

धर्म, अर्थ और काम में समतोल रखें

गृहस्थ अबाधित रूप से धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है । **कहा भी है**– ``लोक में धर्म अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ कहे गये हैं । बुद्धिमान पुरुष अवसर देखकर उनका सेवन करता है ।'' ``धर्म और अर्थ को हानि पहुँचाकर क्षणिक कामभोग में लुब्ध बनने वाला मनुष्य वनहाथी की तरह कौनसी आपत्ति नहीं पाता है ?''

जिसको काम में अत्यन्त आसक्ति है वह धन, धर्म और शरीर इन तीनों को नुकसान पहुँचाता है । धर्म और काम की उपेक्षा करने से उपार्जित धन का अन्य ही लोग उपभोग करते हैं और स्वयं तो हाथी की हत्या करने वाले सिंह की तरह केवल पाप का ही भाजन बनता है ।

अर्थ और काम की सम्पूर्ण उपेक्षा कर केवल धर्म का सेवन तो साधु के लिए ही उचित है, गृहस्थ के लिए नहीं । धर्म को बाधा पहुँचाकर अर्थ और काम का सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि बीजभोजी कौटुम्बिक की तरह अधार्मिक पुरुष का भविष्य में कल्याण नहीं होता है ।

सोमनीति में भी कहा है-``परलोक के सुख को बाधा पहुँचाये बिना जो इस लोक में सुखी है, वही वास्तव में सुखी है ।'' अर्थ को बाधा पहुँचाकर धर्म और काम का सेवन करने वाले का कर्ज बढ़ जाता है और काम को बाधा पहुँचाकर धर्म और अर्थ का सेवन करने वाले को गृहस्थसुख का अभाव हो जाता है । इस प्रकार विषयों में आसक्त, मूलभोजी और कृपण को क्रमशः धर्म, अर्थ और काम में बाधा

स्पष्ट ही होती है । वह इस प्रकार है- जो व्यक्ति कुछ भी विचार किये बिना प्राप्त धन को विषयसुख के पीछे खर्च कर देता है, वह **तादात्विक** कहलाता है । जो पिता और पितामह के धन को अन्याय से भक्षण करता है, वह **मूलहर** कहलाता है । जो व्यक्ति स्वयं को, अपने नौकरों को पीड़ा पहुँचाकर धन का संचय करता है और कभी धन का व्यय नहीं करता है वह **कृपण** कहलाता है । इसमें तादात्विक और मूलहर का धन नष्ट हो जाने के कारण धर्म और काम का भी नाश हो जाता है, इस प्रकार उसका कल्याण नहीं होता है । कृपण का अर्थसंग्रह-राजा, दायाद (जो पैतृक सम्पत्ति के एक भाग का अधिकारी हो) भूमि और तस्कर की ही निधि है, वह धन धर्म और काम में उपयोगी नहीं होता है । **कहा है**– जिस धन को दायाद लेने की इच्छा करते हैं, तस्कर लोग चोरी करना चाहते हैं, छल-कपट कर राजा उस धन को लेना चाहता है, क्षण भर में अग्नि उसे भस्मीभूत कर देती है । पृथ्वी में छिपे हुए धन को जल डुबो देता है और यक्ष जबरन उठा ले जाते हैं । उन्मार्गगामी पुत्र धन का नाश करते हैं अतःबहुतों के अधिकार वाले धन को धिक्कार हो ।'' ``पुत्रवत्सल पति पर दुराचारिणी स्त्री हँसती है, उसी प्रकार शरीर की रक्षा करने वाले पर मृत्यु हँसती है और धन की रक्षा करने वाले पर पृथ्वी हँसती है ।'' ``चींटियों के द्वारा संचित धान्य, मक्खियों के द्वारा संचित शहद और कृपण के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी दूसरों के द्वारा ही भोगी जाती है ।''

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमिभुजो,
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभूगु भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भःप्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठाद्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् बह्वधीनं धनम् ।।1।।

अतः धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को बाधा पहुँचाना गृहस्थ के लिए उचित नहीं है । यदि दुर्भाग्य के कारण बाधा आ जाये तो उत्तरोत्तर को बाधा पहुँचा कर पूर्व-पूर्व का रक्षण करना चाहिए । अर्थात् काम को बाधा पहुँचाकर भी धर्म और अर्थ का रक्षण करना चाहिए । क्योंकि धर्म और अर्थ का रक्षण होगा तो काम की प्राप्ति तो सहज हो जायेगी । काम और अर्थ को बाधा पहुँचानी पड़े तो भी धर्म का तो अवश्य रक्षण करना चाहिए क्योंकि अर्थ और काम का भी मूल धर्म ही है । **कहा भी है**– ``भिक्षा से भी जीवननिर्वाह करने वाला व्यक्ति यदि धर्म को बाधा नहीं पहुँचाता है तो उसे ``मैं समृद्ध हूँ'' ऐसा ही मानना चाहिए क्योंकि साधु पुरुष धर्म रूपी धन वाले ही होते हैं ।'' ``मनुष्य-जीवन को प्राप्त कर जो त्रिवर्ग को साधे बिना ही मर जाता है तो उसका आयुष्य पशु की तरह निष्फल ही है । उस त्रिवर्ग में भी धर्म ही श्रेष्ठ कहलाता है, क्योंकि उसके बिना अर्थ और काम की प्राप्ति भी नहीं होती है ।''

43. आय के अनुसार व्यय

अपनी आय के अनुसार खर्च करना चाहिए । **नीतिशास्त्र** में कहा है- आय का चौथा भाग संग्रह करना चाहिए, आय का चौथा भाग व्यापार में लगाना चाहिए । आय का चौथा भाग धर्म और अपने उपभोग में खर्च करना चाहिए और शेष चौथे भाग से अपने आश्रितों का पोषण करना चाहिए ।

कुछ लोग कहते हैं- ***''आय का आधा अथवा उससे भी अधिक धर्म में खर्च करना चाहिए और शेष रकम से तुच्छ और इस लोक के कार्य प्रयत्नपूर्वक करने चाहिए ।***

कुछ लोगों का मत है कि उपर्युक्त दो वचनों में प्रथम वचन गरीब गृहस्थ के लिए और दूसरा वचन समृद्ध गृहस्थ के लिए समझना चाहिए । **कहा है**– ``जीवन और लक्ष्मी किसको प्रिय नहीं है, परन्तु अवसर आने पर सत्पुरुष इन दोनों को तृण से भी हल्का समझते हैं ।'' ``यश देने वाले कार्य में, मित्र की वृद्धि में, प्रिय पत्नी के विषय में, निर्धन भाई के विषय में, धर्म, विवाह, व्यसन और शत्रु क्षय इन आठ कार्यों में बुद्धिमान पुरुष धन का व्यय करते समय उसकी गिनती नहीं करते हैं ।''

गलत मार्ग में एक कौड़ी भी खर्च हो जाय तो उसे हजारों मोहरों का नुकसान समझे और अवसर आने पर मुक्त हाथ से करोड़ों मोहरें भी खर्च करे तो भी ऐसे व्यक्ति को लक्ष्मी कभी छोड़ती नहीं है ।

नवीन पुत्रवधू

एक सेठ की नवीन पुत्रवधू ने अपने श्वसुर को दीपक में से गिरे तेल को जूतों पर चुपड़ते हुए देखा । यह देखकर उसके मन में संदेह हुआ कि क्या मेरे श्वसुर इतने कृपण हैं ?

श्वसुर की परीक्षा के लिए उसने तीव्र सिरदर्द का बहाना किया और बिस्तर पर सोकर अत्यन्त क्रन्दन करने लगी ।

श्वसुर द्वारा बहुत से उपाय करने पर उसने कहा- ``मुझे पहले भी बीच-बीच में ऐसी बीमारी हो जाया करती थी परन्तु जातिमान (ऊँचे) मोतियों के चूर्ण के लेप से मेरी पीड़ा दूर हो जाती थी ।''

यह बात सुनते ही पुत्रवधू की रोगमुक्ति का उपाय मिल जाने से सेठ एकदम खुश हो गया और उसी समय सच्चे मोतियों को पिसाने के लिए तैयार हो गया परन्तु पुत्रवधू ने उसे रोक दिया और सच्ची बात बतला दी । पुत्रवधू को भी ख्याल आ गया कि मेरे श्वसुर कृपण नहीं किन्तु अनावश्यक अपव्यय से बचने वाले हैं ।

धर्म में व्यय करने से लक्ष्मी वश में रहती है और उसी से वह स्थिर रहती है । **कहा भी है**– ``देने से धन क्षीण होता है, ऐसा मत मानो । कुआ, बगीचा तथा गाय ज्यों-ज्यों दान करते हैं, त्यों-त्यों उनकी सम्पत्ति बढ़ती ही है ।''

विद्यापति सेठ

विद्यापति सेठ अत्यन्त समृद्ध था । एक बार रात्रि में लक्ष्मीदेवी ने आकर उसे कहा- ``मैं आज से दसवें दिन चली जाऊंगी ।''

सेठ ने स्वप्न की बात अपनी पत्नी को कही । पत्नी की सलाह से उसने सारा धन उसी दिन सात क्षेत्रों में खर्च कर दिया और फिर परिग्रह का परिमाण करके सुखपूर्वक सो गया ।

दूसरे दिन प्रातःउठाने पर सेठ ने अपना घर धन-धान्य से पूर्ण देखा । उसने पुनःसब खर्च कर दिया । इस प्रकार नौ दिन बीत गये । दसवें दिन रात्रि में आकर लक्ष्मीदेवी ने कहा- ``तुम्हारे पुण्य से मैं अब सुस्थिर हो गयी हूँ ।''

अपने व्रत-भंग के भय से सेठ ने नगर का त्याग कर दिया । उसी समय पुत्र-रहित राजा की मृत्यु

हो जाने के कारण पंच दिव्य प्रगट किये गये । उस हाथी ने सेठ का अभिषेक किया । उसी समय दिव्य वाणी हुई । उसके कारण सेठ राजा बना । दीर्घकाल तक राज्य का पालन कर वह राजा देव बना । अन्त में पाँचवें भव में उसने मोक्ष प्राप्त किया ।

न्यायोपार्जित धन

इस प्रकार न्याय से धन उपार्जित करने वाले व्यक्ति पर कोई शंका नहीं करता है । सर्वत्र उसकी प्रशंसा ही होती है । अन्य किसी प्रकार की हानि उसे नहीं होती है; जिससे सुख-समृद्धि की वृद्धि होती है और वह लक्ष्मी शुभ कार्य में भी उपयोग में आने से इस लोक और परलोक के लिए हितकारी बनती है ।

कहा भी है– पवित्र पुरुष अपने कर्म-बल पर गर्व करने वाले होने से सर्वत्र धीरता धारण करते हैं, जबकि कुकर्म से नष्ट हुए पापी लोग सर्वत्र शंकाशील ही होते हैं ।

देव और यश

देव और यश नाम के दो व्यापारी परस्पर प्रीतिपूर्वक व्यापार करते थे । एक बार चलते समय मार्ग में उन्होंने मणिकुण्डल को भूमि पर पड़ा देखा । देव श्रावक था, दृढ़व्रती था और परद्रव्य को अनर्थकारी मानने वाला था, अत:मणिकुण्डल को देखने पर भी उसने नहीं उठाया और लौट आया । दूसरा व्यापारी यश एक बार तो लौट आया, परन्तु उसने सोचा- ``नीचे गिरे हुए को लेने में अधिक दोष नहीं है''- इस प्रकार विचार कर उसने देव सेठ की दृष्टि बचाकर मणिकुण्डल उठा लिया ।

यश सेठ ने सोचा- ``देव सेठ को धन्य है, जो इतना नि:स्पृह है परन्तु वह मेरा मित्र है अत: युक्तिपूर्वक आधा उसे जरूर दूंगा ।''

यश ने वह मणिकुण्डल छिपा दिया और दूसरे नगर में जाकर उस कुण्डल को बेचकर बहुत सी वस्तुएँ खरीद लीं ।

क्रमश:वे दोनों अपने घर लौटे । लायी हुई वस्तुओं का विभाजन करते समय बहुत सी वस्तुओं को देख देव सेठ ने उसे आग्रह करके पूछा तो उसने सब बात सही-सही कह दी ।

देव सेठ ने कहा- ``यह अन्याय से अर्जित होने से ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि काँजी से जिस प्रकार दूध नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अन्याय की सम्पत्ति से अपना न्यायार्जित धन भी नष्ट हो जायेगा ।''

देव सेठ ने मणिकुण्डल से प्राप्त सामग्री अलग करके वापस यश सेठ को दे दी ।

``आये हुए धन को क्यों छोड़ें ?'' इस प्रकार लोभ से उसने वह सब सामग्री अपने गोदाम में डाल दी और उसी रात्रि में चोरों ने आकर उसकी वह सारी सम्पत्ति चुरा ली ।

प्रात:काल में देव सेठ की वस्तु को खरीदने के लिए बहुत से ग्राहक आये । इस प्रकार देवसेठ को दुगुणा मूल्य प्राप्त होने से बहुत लाभ हुआ ।

यशसेठ को अपनी भूल समझ में आ गयी । इसके बाद वह भी सुश्रावक बना और व्यवहारशुद्धि द्वारा धनार्जन कर सुखी बना ।

इसी विषय पर लोक में भी यह दृष्टान्त प्रसिद्ध है-

न्याय युक्त धन

चम्पानगरी में सोम नाम का राजा था । एक बार उसने किसी अच्छे पर्व के दिन दान देने के लिए शुभ द्रव्य और दान को ग्रहण करने के लिए योग्य पात्र के बारे में मंत्री से पूछा ।

मंत्री ने कहा- ``यहाँ पात्र तो एक ब्राह्मण है, परन्तु शुभद्रव्य की प्राप्ति विशेषकर राजा को दुर्लभ है ।'' **कहा भी है–**

``विशुद्ध धन वाले दाता और गुणयुक्त पात्र का योग सुन्दर बीज और योग्य क्षेत्र की भाँति अत्यन्त ही दुर्लभ है ।''

उसके बाद राजा ने पर्वदिन पर पात्र में दान देने के लिए वेष बदल कर आठ दिन तक किसी व्यापारी की दुकान पर जाकर एक सामान्य व्यापारी के योग्य कार्य करके आठ द्रम्म कमाये ।

एक पर्वदिन पर सभी ब्राह्मणों को बुलाने के बाद उस पात्र ब्राह्मण को बुलाने के लिए राजा ने अपने मंत्री को भेजा । मंत्री उसके घर गया । उसने कहा, ``जो ब्राह्मण लोभ से मोहित होकर राजा के पास दान लेता है, वह मरकर तमिस्रा आदि घोर नरक में जाता है ।'' ``राजा का दान तो मधु से मिश्रित विष के समान है । आपत्ति में पुत्र का मांस खा लेना श्रेष्ठ है, किन्तु राजा का दान लेना उचित नहीं है ।''

``दस कसाइयों के समान एक कुम्भकार है, दस कुम्भकारों के समान एक कलाल है । दस कलालों के समान एक वेश्या है और दस वेश्याओं के समान एक राजा है'' इस प्रकार पुराण-स्मृति आदि के वचनों से, दुष्ट होने के कारण मैं राजा का दान ग्रहण नहीं करता हूँ ।

प्रधान ने कहा- ``यह राजा अपनी भुजा से अर्जित न्याययुक्त धन ही देगा, अत:उसे ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है ।'' ...इस प्रकार युक्ति से समझा कर वह उस ब्राह्मण को राजा के पास ले आया ।

राजा ने खुश होकर उसे बैठने के लिए अच्छा आसन दिया । उसके पैर आदि धोकर अत्यन्त विनयपूर्वक उसकी हथेली में वे आठ द्रम्म रख दिये ।

``इस ब्राह्मण को कुछ कीमती वस्तु प्रदान की है ।'' इस प्रकार रुष्ट बने अन्य ब्राह्मणों को भी राजा ने स्वर्ण आदि देकर खुश कर दिया । कुछ समय बाद सभी ब्राह्मण अपने-अपने घर चले गये ।

छह महीने में ही उन सब ब्राह्मणों का सब धन नष्ट हो गया, परन्तु पात्र ब्राह्मण को दिये गये वे आठ द्रम्म भोजन-वस्त्र आदि अनेक कार्यों में उपयोग में लेने पर भी न्यायार्जित होने से नष्ट नहीं हुए और दीर्घकाल तक निधि और सुन्दर बीज की तरह लक्ष्मी की वृद्धि करने वाले सिद्ध हुए ।

इस प्रकार न्यायार्जित धन के विषय में सोम राजा का प्रबन्ध है ।

न्यायार्जित वित्त और सत्पात्र में विनियोग की चतुर्भंगी होती है–

1) न्याय से प्राप्त धन और सुपात्रदान के योग से **प्रथम भंग** होता है । यह पुण्यानुबन्धी पुण्य का कारण होने से इससे श्रेष्ठ देवत्व, युगलिक जीवन तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । उस सामग्री के फलस्वरूप धन सार्थवाह और शालिभद्र की तरह अल्प भवों में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

2) न्याय से उपार्जित धन का जैसे-तैसे (कु) पात्र में दान के संयोग से **दूसरा भंग** होता है । यह पापानुबन्धी पुण्य का कारण होने से किसी भव में भौतिक भोग-सामग्री के लाभ का कारण होने पर भी अन्त में तो इसका परिणाम अत्यन्त नीरस ही होता है । **उदाहरण**– एक ब्राह्मण ने एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया । उसके परिणामस्वरूप अनेक भवों में कुछ भोग-सुखों को प्राप्त कर सर्वांग सुन्दर लक्षणों वाला सेचनक नाम का भद्रहस्ती बना । उसी समय एक गरीब ब्राह्मण भी था, उसने लाख ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद बचा अन्न इकट्ठा किया और वह अन्न उसने सुपात्र में दान दिया । सुपात्रदान के फलस्वरूप वह ब्राह्मण मर कर सौधर्म देवलोक में देव बना और उस देवायु को पूर्ण कर 500 राजकन्याओं के साथ लग्न करने वाला श्रेणिकपुत्र नन्दिषेण बना । उस नन्दिषेण को देखकर सेचनक हाथी को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ, किन्तु वह मरकर पहली नरक में पैदा हुआ ।

3) **अन्याय से उपार्जित धन का सुपात्र में दान देने से तीसरा भंग होता है । अच्छे क्षेत्र में बोया गया सामान्य बीज भी फलदायी बनता है, उसी प्रकार भविष्य में सुखोत्पत्ति के अनुबन्ध वाला होने से अधिक आरम्भ से उपार्जित द्रव्य वाले राजा और व्यापारी आदि के लिए यह भंग अनुज्ञात है ।**

कहा है - ``काश नाम के घास के समान साररहित और विरस लक्ष्मी को भी सात क्षेत्रों में उपयोग कर धन्य पुरुषों ने उसे इक्षु के समान बना दी है ।''

तुच्छ घास भी गाय के पेट में जाकर दूध बन जाती है और वह दूध भी साँप के मुख में जाने से विष बन जाता है । पात्र और अपात्र के भेद से वस्तु का भिन्न-भिन्न परिणाम आता है, अतःपात्र में दान करना ही श्रेष्ठ है ।

स्वाति नक्षत्र का जल साँप के मुँह में गिरने से विष और सीप के मुँह में गिरने से मोती बनता है । पात्र के भेद से ही वस्तु-परिणमन में यह अन्तर पड़ता है ।

इस सन्दर्भ में आबूपर्वत पर जिनमन्दिरों का निर्माण करने वाले विमलमंत्री आदि का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है । महारम्भादि अनुचितवृत्ति से संचित द्रव्य का सुक्षेत्र में वपन न करे तो मम्मणसेठ आदि की तरह वह दुष्कीर्ति और दुर्गति को देने वाला तो है ही ।

4) अन्याय-अर्जित धन का कुपात्र में पोषण रूप **चौथा भंग** है । इस लोक में उत्तम पुरुषों द्वारा निंद्य होने से और परलोक में दुर्गति का कारण होने से विवेकी पुरुषों के लिए त्याज्य ही है । **कहा है**– **``अन्याय से उपार्जित धन का दान अत्यन्त दोष रूप है, वह तो गाय को मारकर कौओं को तृप्त करने के समान है ।''** ``अन्याय से उपार्जित धन से जो श्राद्ध किया जाता है, उससे चाण्डाल, बुक्कस और दासजन तृप्त होते हैं ।''

``न्याय से युक्त धन का थोड़ा भी दान कल्याण के लिए होता है और अन्याय से उपार्जित अधिक धन का अधिक दान भी किया जाय तो उसका कोई फल नहीं होता है ।'' ***''अन्याय से उपार्जित धन से जो अपना हित चाहता है, वह कालकूट विष के भक्षण से जीवन की इच्छा करता है ।''***

अन्याय से उपार्जित धन से प्रायःकर गृहस्थ को रंक श्रेष्ठी आदि की तरह कलह, अहंकार एवं पापबुद्धि आदि की ही प्रवृत्ति होती है ।

अन्याय वित्त और रंक श्रेष्ठी

मारवाड़ के पाली नामक गाँव में काकुआक और पाताक नामक दो सगे भाई थे । उनमें छोटा भाई धनवान था । बड़ा भाई निर्धन होने से अपने छोटे भाई के यहाँ नौकरी करके आजीविका चलाता था । एक समय चातुर्मास में सारा दिन काम करने से थक जाने के कारण काकुआक रात्रि के वक्त जल्दी सो गया । तभी पाताक ने आकर, गुस्से में कहा कि ``अरे भाई ! अपने क्यारे तो पानी पड़ने से भर कर फूट गये हैं और तू सुख से सो रहा है ? तुझे कुछ इस बात की चिन्ता है ?'' उसे इस प्रकार उपालम्भ दिया । काकुआक ``धिक्कार है ऐसी नौकरी को ! और धिक्कार है इस मेरे दरिद्रीपन को !'' इस प्रकार बोलता हुआ उठकर हाथ में फावड़ा ले, खेतों में पहुँचा । वहाँ उसने देखा कि बहुत से मजूर लोग क्यारे सुधारने में लग रहे हैं,वह उनसे पूछने लगा कि- ``अरे ! तुम कौन हो ?'' उन्होंने कहा- ``आपके भाई का काम करने वाले नौकर हैं ।'' उसने पूछा- ``मेरे नौकर कहाँ पर हैं ?'' यह सुनकर नौकरों ने कहा कि- ``वल्लभीपुर में हैं ।'' इससे वहाँ पर थोड़े दिन व्यतीत कर अपने कुटुम्बियों को साथ ले वह वल्लभीपुर नगर में गया । नगर के दरवाजे के पास बहुत से अहीर लोग बसते थे । वह भी वहीं पर घास की एक झोंपड़ी बाँधकर रहने लगा । अत्यन्त गरीब होने से लोग उसे रंक कहकर पुकारने लगे, उसने उनकी सहायता से छोटी सी दुकान लगाली ।

उस समय कोई अन्यदर्शनी योगी गिरनार पर जाकर विधिपूर्वक रस-कुम्पिका में से सिद्ध रस को भर कर अपने मार्ग से चला जाता था । इतने में ही अकस्मात् **``यह तूंबा काकुआक का है ।''** इस प्रकार की सिद्धरस में से वाणी सुनकर वह बेचारा डरता हुआ अन्त में वल्लभीपुर आ पहुँचा और गाँव के दरवाजे के पास दुकान करने वाले रंक सेठ के यहाँ सिद्ध रस के तूंबे को रखकर सोमेश्वर की यात्रार्थ चला गया ।

कई दिन बाद कोई पर्व आने से चूल्हे पर रसोई करते हुए, ताप के कारण ऊपर लटकाये हुए तूंबे में से रस का एक बिन्दु चूल्हे पर रखे हुए तवे पर पड़ने से वह तत्काल ही सुवर्णमय बन गया । इस पर से तूंबे में सिद्धरस भरा समझकर उस योगी को वापिस देने के भय से यानी उसे दबा रखने के लालच से रंक सेठ ने अपना मालमत्ता दूसरी जगह रख उस झोंपड़ी में आग लगादी और उसी गाँव के दूसरे दरवाजे के समीप एक नयी दुकान लेकर उसमें घी का व्यापार करने लगा ।

एक समय किसी गाँव की अहीरन उसकी दुकान पर घी बेचने आयी । उसकी घी की मटकी में से घी खाली ही नहीं होता था, इससे निश्चय किया कि घास की बनायी हुई इसकी ईंढी में चित्रावेल है । इस विचार से रंक सेठ ने कपट द्वारा अहीरन से चित्रावेल ले ली । वह धन का लोभी देने के कम वजन के बाट और लेने के अधिक वजन के बाट रखता था । ऐसे कृत्यों से व्यापार करते हुए पापानुबन्धी पुण्य के बल से व्यापार में तत्पर रहते हुए वह महा धनाढ्य हुआ ।

इसी समय उसे कोई एक योगी मिला, उससे उसने कपट से सुवर्ण बनाने की युक्ति सीख ली। इस प्रकार सिद्धरस, दूसरी चित्रावेल और तीसरी सुवर्णसिद्धि इन तीन पदार्थों की महिमा से वह अनेक कोटीश्वर बन बैठा। परन्तु अन्याय से उपार्जित किया हुआ होने के कारण और पहले निर्धन था फिर धनवान बना हुआ होने से अहंकार के कारण किसी भी सुकृत के आचरण में, सज्जन लोगों के कार्यों में या दीन-हीन, दु:खी लोगों को सुख देने की सहायता के कार्य में या अन्य किसी अच्छे कार्य के उपयोग में उस धन में से एक पाई भी खर्च न हो सकी। उल्टा वह सभी लोगों को सताने लगा, नये-नये कर बढ़ाने लगा तथा अहंकार से अन्य धनवानों की स्पर्धा, मत्सर आदि से उसकी लक्ष्मी लोगों को कालरात्रि के समान मालूम होने लगी।

एक समय रंक सेठ की पुत्री के हाथ में एक रत्नजड़ित कंघी देखकर बल्लभीपुर के राजा की पुत्री ने अपने पिता से कहकर वह कंघी मंगवाई, परन्तु अति लोभी होने के कारण उसने वह कंघी नहीं दी। इससे कोपायमान हो शिलादित्य राजा ने किसी प्रकार छल-भेद से उस कंघी को मंगवाकर उसे वापिस नहीं दी। इससे रंक सेठ को बड़ा क्रोध चढ़ा, उसने बदला लेने के लिए अपर द्वीप में रहने वाले महादुर्धर मुगल राजा को करोड़ों रुपये सहाय देकर शिलादित्य पर चढ़ाई करने हेतु प्रेरित किया।

शिलादित्य राजा के सूर्य के वरदान से प्राप्त दिव्य घोड़े पर चढ़ने के बाद संकेत किये हुए उसके पुरुष शंख बजाते थे जिससे घोड़ा आकाश में चलता था और जिस पर आरूढ़ हुआ राजा शत्रु को खत्म करता था। संग्राम के खत्म होते ही वह दिव्य घोड़ा पुनः सूर्यमण्डल में प्रवेश करता था। इस हकीकत से वाकिफ उस रंक सेठ ने शंख बजाने वालों को गुप्तद्रव्य देकर फोड़ा जिससे राजा के घोड़े पर सवार होने के पहले ही उन्होंने शंख बजाया जिससे घोड़ा आकाश में उड़कर चला गया और राजा नीचे ही रह गया। ऐसा होने से शिलादित्य राजा-हा ! हा ! अब क्या किया जाय ? इस प्रकार पश्चाताप करने लगा, इतने में ही मुगल लोगों के सुभटों ने आकर हल्ला करके उसे वहीं पर जान से खत्म करके वल्लभीपुर का भंग किया।

इसलिए शास्त्र में **'तित्थोगालि पयण्णा'** में यह लिखा है कि विक्रमार्क के संवत् में तीन सौ पिचहत्तर वर्ष व्यतीत होने के बाद वल्लभीपुर भंग हुआ। मुगल लोग भी निर्जल देश में मारे गये थे। इस प्रकार रंक सेठ का अन्याय से उपार्जन किया हुआ द्रव्य अनर्थ के मार्ग में ही व्यय हुआ परन्तु उससे उसका सदुपयोग न हो सका।

व्यवहार-शुद्धि

इस प्रकार अन्याय से उपार्जित धन के दुष्परिणाम को जानकर न्याय से अर्थार्जन के लिए प्रयत्न करना चाहिए। **कहा है–** ***''साधुओं के विहार, आहार, व्यवहार और वचन ये चार बातें शुद्ध देखी जाती हैं, जबकि गृहस्थों का तो एक व्यवहार ही शुद्ध देखा जाता है।''***

व्यवहारशुद्धि से ही धर्म की सम्पूर्णता होती है। **दिनकृत्यकार** ने कहा है- ``सर्वज्ञभाषित धर्म का मूल व्यवहारशुद्धि है। शुद्ध व्यवहार से ही अर्थशुद्धि होती है। शुद्ध अर्थ से आहार की भी शुद्धि

होती है । आहारशुद्धि से देहशुद्धि होती है । शुद्ध देह से धर्म की योग्यता पैदा होती है, जिसके फलस्वरूप वह जो-जो करता है उसमें उसे सफलता मिलती है । व्यवहारशुद्धि से रहित होकर जो कुछ भी कृत्य करता है, वह निष्फल जाता है । इतना ही नहीं उससे धर्म की निन्दा भी होती है । अपने निमित्त से धर्म की निन्दा करने वाला व्यक्ति स्व-पर को दुर्लभबोधि बनाता है । अत:सर्वप्रयत्नपूर्वक विचक्षण पुरुष को वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, जिससे अबुधजन भी धर्म की निन्दा न करें ।

लोक में भी आहार के अनुसार देह की प्रकृति का बन्ध देखा जाता है । जैसे-बाल्यकाल में भैंस का दूध पीये हुए घोड़े जल में आराम से पड़े रहते हैं और गाय का दूध पीये हुए जल से दूर ही रहते हैं । इसी प्रकार मनुष्य भी बाल्यकाल में जैसा आहार लेता है, उसी के अनुसार उसकी प्रकृति बनती है अत:व्यवहारशुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए ।

विरुद्ध वर्तन का त्याग

देश, काल तथा राजादि के विरुद्ध वर्तन का भी त्याग करना चाहिए । **हितोपदेशमाला** में कहा है- ``देश, काल, राजा, लोक तथा धर्म के प्रतिकूल वर्तन का त्याग करने वाला मनुष्य, सम्यग् धर्म को प्राप्त करता है ।''

सौवीर (सिंध) देश में खेती कर्म और लाट देश में शराब-निर्माण देशविरुद्ध है । अन्य भी जिस देश में शिष्टजनों के द्वारा जो अनाचरणीय है, वह देशविरुद्ध कहलाता है । जाति, कुल आदि की अपेक्षा भी जो अनुचित है, वह देशविरुद्ध कहलाता है । जैसे- ब्राह्मण के लिए सुरापान और तिल, लवण आदि का विक्रय ।

उनके शास्त्र में भी कहा है- ``जो तिल का व्यवसाय करते हैं उनकी तिल की तरह लघुता होती है, वे तिल की तरह श्याम गिने जाते हैं और तिल की तरह पेले जाते हैं ।''

``कुल की अपेक्षा से चौलुक्य वंशजों के लिए मद्यपान देशविरुद्ध है । विदेशी व्यक्ति के सामने उसके देश की निन्दा करना भी देशविरुद्ध है ।''

काल विरुद्ध

सर्दी की ऋतु में अत्यन्त ठण्डे हिमालय आदि प्रदेश में, ग्रीष्म ऋतु में मरुस्थल में, वर्षा ऋतु में अत्यन्त कीचड़ वाले पश्चिम तथा दक्षिण समुद्र के प्रदेशों में अपनी विशेष शक्ति और सहायता के बिना जाना कालविरुद्ध है । भीषण दुष्कालवाले प्रदेश में, परस्पर दो राजाओं के विरोधी प्रदेश में, लूटपाट के कारण जो मार्ग बन्द हो गया हो ऐसे मार्ग में, भयंकर जंगल में, संध्यासमय आदि भयंकर समय में विशेष सामर्थ्य और सहायता के बिना जाना कालविरुद्ध कहा जाता है । उससे प्राणों का व धन का नाश होता है । अथवा फाल्गुन मास के बाद तिल पीलना, तिल का व्यापार करना, तिल का भक्षण करना तथा वर्षाकाल में तांदुल की भाजी आदि शाक ग्रहण करना एवं बहुत से जीवों से व्याप्त भूमि में गाड़ी आदि चलाना, महादोष में हेतुभूत होने से कालविरुद्ध है ।

राज विरुद्ध

राजा आदि के दोष देखना, राजादि को मान्य हो उन्हें सम्मान न देना, राजा को असम्मत ऐसे लोगों के साथ दोस्ती करना, लोभ से दुश्मन के क्षेत्र में जाना, दुश्मन के क्षेत्र से आये हुए लोगों के साथ व्यवहार करना, राजा की महर समझकर राजकृत्यों में स्वेच्छा से परिवर्तन करना, नगरजनों के साथ प्रतिकूल व्यवहार करना, तथा स्वामी का द्रोह करना इत्यादि **राजविरुद्ध** है। भुवनभानु केवली के जीव रोहिणी की तरह उसका परिणाम अच्छा नहीं आता है।

रोहिणी– रोहिणी अत्यन्त निष्ठा वाली पढ़ी-लिखी तथा स्वाध्याय के प्रति लक्ष्य वाली थी; परन्तु उसे विकथा करने का रस था। वह राजा की रानी पर दु:शीलता आदि के आक्षेप करने लगी। इससे राजा को बड़ा गुस्सा आया। उसने उत्तमसेठ की पुत्री होने से उसकी जीभ के टुकड़े-टुकड़े नहीं किये परन्तु उसे नगर से बाहर निकाल दिया। विकथा के पाप के कारण उसे अनेक भवों में जिह्वाछेद आदि की वेदना सहन करनी पड़ी।

परनिन्दा न करें

लोक की तथा विशेष करके गुणीजनों की निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए। लोकनिन्दा और आत्म-प्रशंसा दोनों लोकविरुद्ध हैं। **कहा है**– ``दूसरे के विद्यमान अथवा अविद्यमान भी दोष कहने से क्या फायदा है ? उससे धन और यश तो नहीं मिलता है, बल्कि एक नया दुश्मन ही पैदा होता है।''

सुट्ठुवि उज्जममाणं, पंचेव करिंति रित्तयं समणं।
अप्पथुई परनिंदा, जिब्भोवत्था कसाया य ॥1॥

''आत्मप्रशंसा, परनिन्दा, निरंकुश जीभ, कामराग और कषाय ये पाँच वस्तुएँ अच्छा प्रयत्न करने वाले श्रमण को भी खाली कर देती हैं।''

``यदि तुम्हारे में गुण विद्यमान होंगे तो नहीं कहने पर भी वे (गुण) तुम्हारा उत्कर्ष कर देंगे और यदि गुण नहीं हैं तो उनका बखान करने से क्या फायदा ?''

निरर्थक आत्म-प्रंशसा करने वाले व्यक्ति पर उसके मित्र हँसते हैं। बन्धुजन उसकी निन्दा करते हैं, गुरुजन उसकी उपेक्षा करते हैं और माता-पिता भी उसे आदर नहीं देते हैं।

परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥

दूसरों का पराभव और निन्दा करने से तथा आत्मप्रशंसा करने से आत्मा प्रत्येक भव में ऐसे नीच गोत्र कर्म का बंध करती है कि करोड़ों भवों से भी उस पाप की सजा में से नहीं छूट पाती है।

परनिन्दा महापाप है। पाप नहीं करने पर भी वे पाप परनिन्दा करने वाले को निन्दक बुढ़िया की तरह लग जाते हैं।

परनिन्दक बुढ़िया

सुग्राम में सुन्दर नाम का सेठ रहता था, जो अत्यन्त ही धार्मिक था । यात्रियों को भोजन, आवास आदि देकर वह यात्रियों पर उपकार करता था । उसके पड़ोस में एक बुढ़िया रहती थी जो सतत उसकी निन्दा करती हुई बोलती थी कि यात्रिक लोग तो विदेश में ही मर जाते हैं, अतःउनकी न्यास आदि पाने के लोभ से यह सेठ इस प्रकार अपनी सच्चाई बतलाता है ।

एक बार भूख-प्यास से पीड़ित एक संन्यासी उसके घर पर आया । उस सेठ ने घर में छाछ नहीं होने से एक आभीरी (रबारिन) के घर से छाछ मंगाकर उसे पिला दी ।

रबारिन जब सिर पर छाछ उठाकर ले जा रही थी तब एक चील के मुँह में रहे सर्प के मुख से जहर उस छाछ में गिर गया था । उस छाछ को पीने से वह संन्यासी मर गया ।

इस पर वह ब्राह्मणी खुश होकर बोली- ``अहो ! यह कैसा धर्मी है ?''

उसी समय आकाश में रही `हत्या' ने सोचा, ``मैं किसको लगूँ ? दाता तो शुद्ध है, साँप भी अज्ञानी और पराधीन है, साँप चील का भोजन है, आभीरी को कुछ भी पता नहीं था'' इस प्रकार विचार कर वह ब्राह्मणी को चोंट गई, जिसके फलस्वरूप वह उसी समय काली, कूबड़ी और कोढ़ रोग से ग्रस्त हो गयी । झूठा आक्षेप लगाने के फल का यह लौकिक दृष्टान्त है ।

विद्यमान दोष भी न कहें

एक राजा की राजसभा में एक विदेशी तीन पुतलियाँ लेकर आया । पण्डितों ने उनकी परीक्षा कर सही मूल्यांकन किया ।

पहली पुतली के कान में डाला धागा मुँह में से बाहर आ गया । वाचालता का प्रतीक होने से उसका मूल्य फूटी कौड़ी का किया ।

दूसरी पुतली के कान में डाला धागा दूसरे कान से बाहर निकला । एक कान से सुन दूसरे कान से निकाल देने वाली उस पुतली का मूल्य एक लाख सोना मोहर किया और तीसरे के कान में डाला धागा गले में चला गया । सुनी हुई बात को हदय में रखने वाली उस पुतली का मूल्य ही नहीं आँका जा सकता यानी वह सर्वश्रेष्ठ है ।

44. अन्य लोकविरुद्ध कार्य भी न करें

1. सरल व्यक्ति की मजाक न करें । 2. गुणवानों की ईर्ष्या न करें ।
3. उपकारी के उपकार को न भूलें । कृतघ्न न बनें ।
4. बहुत लोगों के विरोधी व्यक्ति का संग न करें । 5. लोकमान्य व्यक्ति का अपमान न करें ।
6. सदाचारी पुरुषों को आपत्ति में देखकर खुश न हों ।
7. शक्ति हो तो सत्पुरुषों की आपत्ति को दूर करें ।
8. देश आदि के उचित आचारों का उल्लंघन न करें ।
9. सम्पत्ति के अनुसार वेष पहनें-अतिउद्भट और अतिमलिन वस्त्र न पहनें ।

लोकविरुद्ध कार्य करने से इस लोक में भी अपयश होता है ।

वाचकशिरोमणि उमास्वातिजी ने कहा है- ``सभी धर्मी आत्माओं के लिए लोक ही वास्तव में आधार है, अत:लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध कार्यों का त्याग करना चाहिए ।''

लोकविरुद्ध व धर्मविरुद्ध कार्यों का त्याग करने से लोकप्रियता पैदा होती है और अपने धर्म का निर्वाह सुखपूर्वक कर सकते हैं ।

लोक:खल्वाधार:, सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात् ।
तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च सन्त्याज्यम् ।।1।।

कहा भी है– ``लोकविरुद्ध कार्यों का त्याग करने वाला लोगों को प्रिय बनता है । लोकप्रियता यह मनुष्य के समकित रूपी वृक्ष का बीज है ।''

45. धर्मविरुद्ध कार्य

1. मिथ्यात्व के कृत्य करना । 2. निर्दयता से बैल आदि को बाँधना, ताड़ना करना ।
3. बाल आदि के बिना जूं आदि को तथा खटमल को धूप में डालना ।
4. मस्तक पर मोटे कंघे से बाल सँवारना । 5. लीख आदि को मारना ।
6. गर्मी में तीन बार और शेष ऋतु में दो बार मजबूत मोटे वस्त्र से पानी नहीं छानना और उसके संखारे की यतना नहीं करना ।
7. धान्य, ईंधन, शाक, तांबूल, फल आदि को अच्छी तरह से यतनापूर्वक साफ नहीं करना ।
8. अखण्ड सुपारी, अखण्ड छुहारा, अखण्ड फलियाँ आदि को मुँह में डालना ।
9. टोंटी से या धारा से जल आदि पीना ।
10. चलते, बैठते, सोते, स्नान करते, किसी वस्तु को रखते-लेते, रांधते, खांडते, पीसते, मसलते, मल-मूत्र, श्लेष्म, कुल्ले का पानी तथा तांबूल आदि डालते यतना नहीं करना ।
11. धर्मकार्य में आदर नहीं करना । 12. देव, गुरु व साधर्मिक से द्वेष करना ।
13. देवद्रव्य आदि का उपभोग करना । 14. धर्महीन का संसर्ग करना ।
16. धर्मी व्यक्ति की मजाक करना । 17. अत्यन्त कषाय (क्रोधादि) करना ।
18. अत्यन्त दोषयुक्त क्रय-विक्रय करना ।
19. कठोर कर्म व पापमय अधिकार में प्रवृत्ति करना, इत्यादि धर्मविरुद्ध कार्य हैं ।

उपर्युक्त मिथ्यात्व आदि की व्याख्या प्राय: **अर्थदीपिका टीका** में कर दी है । धर्मी व्यक्ति देश-काल आदि के विरुद्ध वर्तन करे तो लोक में धर्म की निन्दा होती है । अत:वह सब धर्मविरुद्ध है । श्रावक को उपर्युक्त पाँचों विरुद्ध कर्मों का त्याग करना चाहिए ।

46. उचित आचार

हितोपदेशमाला में कहा है-

सामन्ने मणुअत्ते, जं केई पाउणंति इह कित्तिं ।
तं मुणह निव्विअप्पं, उचिआचरणस्स माहप्पं ।।1।।

तं पुण पिइमाइसहोअरेसु पणइणिअवच्चसयणेसु ।
गुरुजणनायरपरतित्थिएसु पुरिसेण कायव्वं ।।2।।

जिसके लिए जो योग्य-उचित हो, वैसा आचरण करना उचित आचार कहलाता है । यह उचित आचार भी पिता आदि के विषय में नौ प्रकार का है । उचित आचरण से स्नेह की वृद्धि और कीर्ति की प्राप्ति होती है । ``मनुष्यत्व सब मनुष्यों में समान होने पर भी यहाँ कुछ मनुष्य विशेष कीर्ति आदि प्राप्त करते हैं, नि:सन्देह यह उनके उचित आचरण का ही माहात्म्य है ।।1।।''

वह उचित आचरण नौ प्रकार का है– (1) पिता सम्बन्धी (2) माता सम्बन्धी (3) भाई सम्बन्धी (4) स्त्री सम्बन्धी (5) सन्तान सम्बन्धी (6) स्वजन सम्बन्धी (7) ज्येष्ठ सम्बन्धी (8) नगर के प्रतिष्ठित लोकसम्बन्धी और (9) अन्यदर्शनी सम्बन्धी

1. पिता सम्बन्धी औचित्य

पिता के वचन, काया और मन से सम्बन्धित जो औचित्य पालन करना है-उसे क्रमश: कहते हैं-पिता की शारीरिक सेवा विनयपूर्वक सेवक की तरह स्वयं करें, नौकरों द्वारा न करावें । जैसे-उनके पैर धोना, पैर दबाना, उन्हें उठाना, बिठाना, देश-काल के अनुरूप उन्हें सात्त्विक भोजन खिलाना, शयन, वस्त्र तथा मालिश की वस्तु आदि प्रदान करना । ये सब कार्य विनय से करें, न कि दूसरे के कहने से अथवा अवज्ञादि से ।

कहा भी है– ``पिता समक्ष बैठे हुए पुत्र की जो शोभा होती है, उसकी सौवें भाग की भी पुत्र के उच्च सिंहासन पर बैठने से भी नहीं होती है ।''

पिता के मुख से निकलते हुए वचन को भी तुरन्त स्वीकार करें । वे आदेश करें, उसके साथ ही **``आपकी आज्ञा प्रमाण है''**-इस प्रकार आदरपूर्वक पिता की आज्ञा को स्वीकार करें । राज्याभिषेक के प्रसंग पर पिता के वचन-पालन के खातिर रामचन्द्रजी ने वनवास स्वीकार लिया था, उसी प्रकार पिता की आज्ञा को स्वीकार करें । सुना-अनसुना कर सिर हिलाना, कालक्षेप करना अथवा अधूरा कार्य करना-इस प्रकार पिता के वचनों की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए ।

हर कार्य में सर्वप्रयत्नपूर्वक पिता के चित्त का अनुसरण करना चाहिए । अपनी बुद्धि से निश्चित अवश्य करने योग्य कर्म का भी आरम्भ तभी करना चाहिए जब पिता का चित्त अनुकूल हो । समस्त लौकिक और लोकोत्तर व्यवहार में उपयोगी शुश्रूषा आदि बुद्धि के गुणों का अभ्यास करना चाहिए । अच्छी तरह से दीर्घदृष्टि वाले पिता आदि की सेवा की हो तो वे कार्यों के रहस्य को बतलाते ही हैं ।

कहा भी है– ``वृद्धों की उपासना नहीं करने वाले और पुराण और आगम के बिना जैसे-तैसे उत्प्रेक्षा करने वाले लोगों पर बुद्धि प्रसन्न नहीं होती है । जो एक स्थविर (वृद्ध) जानता है, वह करोड़ तरुण भी नहीं जानते हैं । राजा को लात मारने वाला वृद्ध के वाक्य से पूजा जाता है ।'' ``वृद्ध पुरुषों का वचन सुनना चाहिए और अवसर आने पर बहुश्रुत पुरुषों को ही पूछना चाहिए । वन में बँधे हुए हंसों का समूह वृद्ध की बुद्धि से छूट गया । अपने चित्त का अभिप्राय पिता को अवश्य कहना चाहिए ।''

प्रत्येक कार्य पिता को पूछ कर ही करना चाहिए । उनके द्वारा निषिद्ध कार्य नहीं करने चाहिए । अपनी भूल होने पर वे कठोर शब्द भी कहें तो भी विनय का त्याग नहीं करना चाहिए ।

अभयकुमार ने जिस प्रकार अपने पिता श्रेणिक महाराजा और चेलना माता के मनोरथ पूर्ण किये थे, उसी प्रकार सुपुत्र को अपने पिता के सभी मनोरथ पूर्ण करने चाहिए ।

प्रभु-पूजा, गुरु की उपासना, धर्मश्रवण, पच्चक्खाण-ग्रहण, षड़ावश्यक, सात क्षेत्रों में धन-वपन, तीर्थयात्रा, दीन तथा अनाथ लोगों का उद्धार करना इत्यादि धर्मविषयक मनोरथ भी अत्यन्त आदर के साथ पूर्ण करने चाहिए ।

लोक में श्रेष्ठ पिता आदि के मनोरथों को पूर्ण करना सुपुत्रों का कर्त्तव्य ही है । केवली-भाषित धर्म में उन्हें जोड़ने के सिवाय उनके उपकार की ऋण-मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

स्थानांग सूत्र में कहा है- ***''माता-पिता, स्वामी और धर्माचार्य का उपकार दुष्प्रतिकारक है अर्थात् उनके उपकार के बदले को चुकाया नहीं जा सकता ।''***

मातापिता के उपकार से ऋणमुक्ति

यदि कोई व्यक्ति प्रात:काल से अपने माता-पिता को शतपाक और सहस्त्रपाक तेल से मालिश कर गन्धोदक, उष्णोदक और शीतोदक से स्नान कराता है, उसके बाद वस्त्र-अलंकारों से उन्हें सजाकर अठारह प्रकार के शाक सहित मनपसन्द भोजन कराता है और जीवनपर्यंत अपने कन्धों पर धारण करता है, तो भी वह व्यक्ति माता-पिता के ऋण से मुक्त नहीं बन पाता है । परन्तु वही व्यक्ति ***अपने माता-पिता को केवली-भाषित धर्म सुनाकर, उस धर्म के स्वरूप की प्ररूपणा कर उन्हें धर्म में स्थिर करता है तो वह व्यक्ति माता-पिता के उपकार के ऋण से मुक्त हो सकता है ।***

स्वामी के उपकार से मुक्ति

यदि कोई धनवान व्यक्ति किसी दरिद्र की सहायता कर उसे अच्छी स्थिति में ला दे, उसके बाद वह विपुल समृद्धि को भोग रहा हो और उस समय वह धनवान व्यक्ति दरिद्र बन जाय और समृद्ध बने उस व्यक्ति के पास आये तब वह समृद्ध व्यक्ति अपने उपकार की ऋणमुक्ति के लिए अपने उपकारी को सर्वस्व सौंप दे तो भी उस ऋण से वह मुक्त नहीं हो सकता है परन्तु वह **अपने स्वामी को केवलीकथित धर्म के स्वरूप को समाझाकर उस धर्म में उसे स्थिर करे तो उस उपकार के ऋण से मुक्त हो सकता है ।**

धर्माचार्य के उपकार से मुक्ति

कोई व्यक्ति सिद्धान्त में निरूपित लक्षण वाले श्रमण धर्माचार्य के पास से धर्म का श्रवण कर मृत्यु को प्राप्त कर किसी देवलोक में उत्पन्न हो, उसके बाद वह देव अपने उपकारी धर्मगुरु को दुर्भिक्ष के क्षेत्र में से सुभिक्ष के क्षेत्र में ला दे, भयंकर जंगल में से पार उतार दे अथवा दीर्घकाल से पीड़ित धर्मगुरु को रोग से मुक्त कर दे तो भी वह देव उस ऋण से मुक्त नहीं हो सकता है, परन्तु वह देव यदि केवलीप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हुए धर्मगुरु को पुन: धर्म में स्थिर करे तो वह देव अपने धर्मगुरु के उपकार से ऋणमुक्त हो सकता है ।

◆ माता-पिता की सेवा के विषय में अपने अंधे माता-पिता को कावड़ में बिठाकर तीर्थयात्रा कराने वाले श्रवणकुमार का दृष्टान्त सदैव लक्ष्य में रखना चाहिए ।

◆ माता-पिता को धर्म में स्थिर करने के विषय में अपने पिता को दीक्षा प्रदान करने वाले आर्यरक्षित सूरिजी का तथा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी माता-पिता के प्रतिबोध तक निरवद्य वृत्ति से घर में रहे हुए कूर्मापुत्र का दृष्टान्त याद रखना चाहिए ।

◆ अपने स्वामी को धर्म में स्थिर करने के विषय में जिनदास सेठ का दृष्टान्त समझना चाहिए । जिनदासवणिक् किसी मिथ्यात्वी सेठ के यहाँ नौकरी करता था । तत्पश्चात् वह समृद्ध बना और उसका सेठ एकदम गरीब हो गया । जिनदास ने अपने उपकारी सेठ को सम्पत्ति प्रदान कर पुन:समृद्ध बनाया और उसे श्रावकधर्म में स्थिर किया ।

◆ अपने धर्मगुरु के उपकार की ऋणमुक्ति के विषय में निद्रादि प्रमादग्रस्त बने सेलकाचार्य को प्रतिबोध देने वाले पंथक शिष्य का दृष्टान्त समझना चाहिए ।

2. माता के प्रति औचित्य

पिता की अपेक्षा माता अधिक पूज्य होने से उसके प्रति अत्यन्त भक्ति होनी चाहिए । स्त्री का स्वभाव कोमल होता है । छोटी-छोटी बातों में भी उसे अपमान लग जाता है, अत:माता के मन को किसी प्रकार का आघात न लगे, सुपुत्र का इस प्रकार का वर्तन होना चाहिए ।

मनु ने कहा है- ***''उपाध्याय से आचार्य दस गुणा श्रेष्ठ है, आचार्य से पिता सौ गुणा श्रेष्ठ है और पिता से माता हजार गुणा श्रेष्ठ है ।''*** दूसरों ने भी कहा है- ``स्तनपान तक पशु अपनी माता को मानते हैं, अधमपुरुष स्त्री की प्राप्ति तक माता को मानते हैं, मध्यमपुरुष गृहकार्य करती हो तब तक माता को मानते हैं और उत्तमपुरुष जीवनपर्यन्त तीर्थ की तरह माता को मानते हैं ।''

पशुओं की माता अपने पुत्र के अस्तित्व को देखकर खुश होती है, मध्यम पुरुषों की माता पुत्रों की कमाई से खुश होती है, उत्तम पुरुषों की माता पुत्रों की शूरवीरता से प्रसन्न होती है और लोकोत्तम पुरुषों का माता पुत्रों के पवित्र चरित्र से प्रसन्न होती है ।

3. भाई सम्बन्धी औचित्य

अपने भाई को अपने समान मानना चाहिए और छोटा भाई हो या बड़ा भाई हो उसे प्रत्येक कार्य में आगे करना चाहिए ।

बड़े भाई को पिता तुल्य समझना चाहिए । सौतेले छोटे भाई लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई राम के साथ जैसा व्यवहार किया था वैसा व्यवहार बड़े भाई के साथ करना चाहिए । इस प्रकार छोटे-बड़े भाई की स्त्री व उनके पुत्रों के साथ भी उचित व्यवहार करना चाहिए ।

भाई के साथ भेद-भाव नहीं रखना चाहिए । उसे योग्य बात बताना तथा प्रसंग पर उसका अभिप्राय पूछना चाहिए । व्यापार में उसे इस प्रकार जोड़ें कि वह व्यापार में होशियार बने तथा धूर्त लोगों से न ठगा जाये । द्रोहबुद्धि से कुछ भी धन न छुपायें । हाँ, किसी संकट के निवारण के लिए धन का संग्रह अवश्य करें ।

कुसंसर्ग के कारण भाई यदि गलत रास्ते पर चला जाय तो क्या करना चाहिए ? उसे बताते हुए कहते हैं-अविनीत भाई को उसके दोस्तों के द्वारा समझावें । चाचा, मामा, श्वसुर तथा साले के द्वारा उसे हितशिक्षा दिलायें परन्तु स्वयं सीधे उसकी तर्जना न करें क्योंकि ऐसा करने से वह बेशर्म बन जाता है और मर्यादा को भी तोड़ देता है ।

हृदय में स्नेह भाव रखकर बाहर से उसे सुधारने हेतु कोप का दिखावा भी करें ।...और यदि भाई पुनःसन्मार्ग पर आ जाय तो निष्कपट प्रेम से उसके साथ बातें करें । अनेक प्रयत्न करने पर भी यदि भाई न सुधरे तो **''यह तो उसका स्वभाव है''** मानकर उसकी उपेक्षा करें ।

भाई की स्त्री और पुत्र आदि को दान व सम्मान आदि देने में समानदृष्टि रखनी चाहिए अर्थात् अपनी ही स्त्री व पुत्र के समान उनके साथ भी व्यवहार करना चाहिए । सौतेले भाई व उसकी स्त्री, उसके पुत्र आदि के साथ तो विशेषकर अच्छा व्यवहार करना चाहिए । सौतेले भाई आदि के साथ थोड़ा सा भी व्यवहार-भेद रखने से उनका मन बिगड़ता है और लोक में भी निन्दा होती है । इसी प्रकार पिता समान, माता समान और भाई समान अन्य लोकों के साथ भी औचित्य पालन करना चाहिए ।

कहा है– ''जन्म देने वाले, पालन करने वाले, विद्या देने वाले, अन्न देने वाले और प्राण बचाने वाले ये पाँच पिता कहलाते हैं ।''

''राजा की पत्नी, गुरु की पत्नी, पत्नी की माता, स्वयं की माता तथा धावमाता-ये पाँच माताएँ कहलाती हैं ।''

``सगा भाई, साथ में पढ़ने वाला, मित्र, रोग में सेवा करने वाला तथा मार्ग में बातचीत द्वारा मैत्री करने वाला-ये पाँच भाई कहलाते हैं ।'' भाइयों के बीच में धर्मकार्य के विषय में परस्पर प्रेरणा होनी चाहिए ।

कहा है – ``प्रमाद रूपी अग्नि से जलते हुए संसार रूपी घर में मोहनिद्रा से सोये हुए व्यक्ति को जो जगाता है, वह उसका परमबन्धु है ।''

भाइयों के परस्पर प्रेम के विषय में भरत के अड्डाणु भाइयों का दृष्टान्त समझना चाहिए । भरत का दूत आने पर वे सभी भाई एक साथ ऋषभदेव प्रभु को पूछने के लिए जाते हैं और वहीं पर प्रभु की प्रेरणा प्राप्त कर एक साथ दीक्षा ले लेते हैं । भाई के समान मित्र के साथ भी उचित व्यवहार करना चाहिए ।

4. स्त्री के साथ औचित्य

प्रियवचन और मान देकर स्त्री को अपने अभिमुख करना चाहिए । पति का प्रियवचन संजीवनी विद्या है । अन्य-अन्य प्रेमप्रकार और दान आदि से भी पति का प्रियवचन अधिक गौरव प्रदान करता है ।

कहा है– ``प्रीतिवचन के समान कोई वशीकरण नहीं है, कला से श्रेष्ठ कोई धन नहीं है, हिंसा से बढ़कर अधर्म नहीं है और सन्तोष से श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है ।''

अपने स्नान व शारीरिक सेवा, मालिश आदि में स्त्री को जोड़ना चाहिए । इस प्रकार करने से विश्वस्त बनी हुई निष्कपट प्रेम वाली वह अन्य अप्रिय काम नहीं करती है । देश, काल, कुटुम्ब और वैभव के उचित आभूषण उसे देने चाहिए । आभूषणों से अलंकृत स्त्री से गृहस्थ की लक्ष्मी बढ़ती है ।

कहा है– ``मांगलिक कार्यों से लक्ष्मी उत्पन्न होती है, चतुराई से बढ़ती है, दक्षता से उसका मूल मजबूत होता है और संयम से वह स्थिर रहती है (अर्थात् प्रतिष्ठा प्राप्त करती है) ।''

नाटक (सिनेमा) आदि में जाने से अपनी स्त्री को रोकें, क्योंकि वहाँ हल्के पुरुषों की हल्की चेष्टाएँ और हल्के वचन देखने-सुनने से निर्मल मन वाली स्त्री का मन भी, प्रायःवर्षा के जल से आहत दर्पण की तरह बिगड़ता है ।

रात्रि में स्त्री को राजमार्ग और किसी के घर जाने से रोकें । मुनियों की तरह कुलवती स्त्रियों को भी रात्रि में जहाँ-तहाँ जाना-आना अत्यन्त हानिकारक है ।

धर्मसम्बन्धी प्रतिक्रमण आदि प्रवृत्ति के लिए जाना हो तो माता-बहिन तथा सुशील स्त्रियों के समूह में जाने की छूट है ।

स्त्री को कुशील और पाखण्डी की सोहबत से दूर रखना चाहिए ।

स्त्री को दान, स्वजन-सम्मान तथा रसोई आदि के कार्यों में जोड़ देना चाहिए ।

कहा है– बिस्तर उठाना, घर साफ करना, पानी छानना, चूल्हा सुलगाना, बासी हांडी आदि बर्तन धोना, अनाज पीसना, अनाज दलना, गाय दोहना, दही बिलोना, रसोई बनाना, रसोई परोसना, बर्तन साफ करना, सास, पति, ननद तथा देवर आदि का विनय करना इत्यादि कुलवधू के गृहकृत्य हैं ।

कुलवधू को उपर्युक्त सभी कार्यों में अवश्य जोड़ना चाहिए । नहीं जोड़ने से वह सदा उदास रहती है । स्त्री उदास हो तो गृहकृत्य बिगड़ते हैं । स्त्री की कोई प्रवृत्ति न हो तो वह चपल-स्वभाव के कारण बिगड़ती है । गृहकार्यों में स्त्री को जोड़ने में उसके शील आदि का रक्षण है । **प्रशमरति** में **उमास्वातिजी** ने कहा है- ``पिशाच तथा कुलवधू के रक्षण के आख्यान को सुनकर संयमयोगों द्वारा आत्मा को सदैव प्रयत्नशील रखना चाहिए ।'' स्त्री को स्वयं से दूर न रखें, क्योंकि परस्पर मिलन से ही प्रेम रहता है । **कहा भी है**– ``देखने से, बातचीत करने से, गुणप्रशंसा करने से, अच्छी वस्तु देने से, मन के अनुरूप वर्तन करने से परस्पर प्रेम बढ़ता है ।'' ``नहीं देखने से, ज्यादा देखने से, देखने पर भी नहीं बोलने से, अभिमान करने से और अपमान करने से-इन पाँच कारणों से प्रेम घटता है ।''

पुरुष अत्यन्त प्रवास ही करता रहे और वैमनस्य रखे तो कदाचित् स्त्री अनुचित कार्य भी कर सकती है ।

कोई अपराध हो गया हो तो स्त्री को एकान्त में समझाना चाहिए । धनहानि, धनवृद्धि और घर की गुप्त बात उसके सामने नहीं कहनी चाहिए ।

निष्कारण क्रोध कर स्त्री को इस प्रकार अपमानजनक शब्द नहीं कहने चाहिए कि- ``मैं दूसरी स्त्री से शादी कर लूंगा ।''

ऐसा कौन मूर्ख होगा जो पत्नी पर के क्रोधादि के कारण दूसरा विवाह कर दो पत्नियों के संकट में गिरेगा ?

कहा है– ``दो स्त्रियों के अधीन रहा पुरुष घर से भूखा ही बाहर जाता है, घर में जल की बूंद भी नहीं पाता है और बिना पैर धोये ही वह सो जाता है।'' **कारागृह में रहना अच्छा, परन्तु दो स्त्रियों का पति होना अच्छा नहीं है।** यदि किसी कारणवशात् दो स्त्रियों के साथ लग्न करना पड़े तो उन दोनों के पुत्रों पर समान दृष्टि रखनी चाहिए और किसी की बारी नहीं तोड़नी चाहिए। शोक्य स्त्री की बारी तोड़कर अपने पति के साथ कामभोग करने वाली स्त्री को चौथे व्रत में दूसरा अतिचार लगता है।

स्त्री के भूल करने पर उसे इस तरह से समझावें कि वह पुनःभूल न करे। अत्यन्त कुपित हो तो उसे स्नेह से समझाना चाहिए अन्यथा सोमभट्ट की पत्नी की तरह अचानक ही वह कुए में गिरने आदि के अनर्थ कर सकती है। अतः स्त्री के साथ सदैव कोमलता से ही काम लेना चाहिए, कठोरता से नहीं।

पांचाल ऋषि ने कहा है- स्त्री के विषय में मृदुता ही योग्य है। मृदुता से ही स्त्री वश में होती है। मृदु व्यवहार से ही उसकी सर्वत्र सर्व कार्यों में सिद्धि देखी जाती है। यदि ऐसा न करें तो काम बिगड़ने के भी अनुभव हो जाते हैं।

गुणहीन स्त्री हो तो उससे अत्यन्त सावधानीपूर्वक मृदुता से काम लेना चाहिए। जीवनपर्यन्त मजबूत बेड़ी के समान उस स्त्री से वैसे ही सावधानीपूर्वक काम लेकर घर चलाना चाहिए और हर तरह से निर्वाह करना चाहिए।

``गृहिणी ही घर कहलाती है'' -इस उक्ति को सदैव याद रखना चाहिए। धनहानि की बात स्त्री को नहीं बतानी चाहिए क्योंकि वह उस बात को चारों ओर फैलाकर लम्बे समय से उपार्जित इज्जत को भी धूल में मिला देती है। धनवृद्धि की बात उसे करने से वह निरर्थक फालतू खर्च करने लग जाती है।

घर की गुप्त बात उसे कहने से वह उस बात को कोमल स्वभाव के कारण हृदय में धारण नहीं कर सकती। वह अन्य स्त्रियों को वह बात किये बिना नहीं रहती, जिसके परिणामस्वरूप भविष्य की योजनाएँ भी निष्फल हो जाती हैं।

कदाचित् गुप्त बात जाहिर होने से राजद्रोह का संकट भी आ खड़ा होता है। अतः घर में स्त्री को प्रधानता नहीं देनी चाहिए।

कहा भी है– ***``जिस घर में स्त्री, पुरुष की तरह बलवती होती है, वह घर जल्दी ही नष्ट हो जाता है।''***

मंथर कोली

किसी नगर में मंथर नाम का कोली रहता था। वह एक दिन वस्त्र बुनने की लकड़ी लेने के लिए जंगल में गया। वह व्यन्तर अधिष्ठित शीशम के वृक्ष को काटने लगा। व्यन्तर ने उसे निषेध किया फिर भी वह रुका नहीं। उसे साहसी जानकर व्यन्तर ने उसे वरदान मांगने के लिए कहा। वह स्त्री का गुलाम होने से स्त्री को पूछने के लिए घर जाने लगा। मार्ग में एक हज्जाम मित्र ने उसे राज्य मांगने की सलाह दी। फिर भी उस सलाह को स्वीकार न कर वह घर आया और उसने पत्नी को पूछा।

पत्नी ने सोचा- ``लक्ष्मी के लाभ से आगे बढ़ा पुरुष अपने पुराने मित्र, स्त्री और घर को छोड़ देता है'' ....यह विचार कर उसने कहा- ``राज्य तो अत्यन्त क्लेशकारी है, अतःराज्य से क्या मतलब ? आप एक दूसरा मस्तक और दो हाथ मांग लो, जिससे एक साथ दो वस्त्र बुने जायेंगे ।''

पत्नी की सलाह से उसने व्यन्तर के पास एक मस्तक और दो हाथों की याचना की । व्यन्तर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली । दो सिरों व चार हाथों वाला वह जब गाँव में घुसने लगा तब लोगों ने उसे राक्षस समझकर लकड़ियों व पत्थरों के प्रहार से मार डाला । **कहा भी है**– ``जिसके पास स्वयं की प्रज्ञा नहीं है और मित्र की बात भी नहीं मानता है, वह स्त्री के गुलाम मंथर कोलिक की तरह विनाश को ही पाता है ।'' उपर्युक्त प्रसंग क्वचित् बनता है । अतः उत्तम और बुद्धिमती स्त्री की सलाह लेने से तो विशेष फायदा ही होता है । जैसे- अनुपमादेवी की सलाह से वस्तुपाल और तेजपाल को फायदा ही होता था ।

कुलीन, परिणतवयवाली, निष्कपट, धर्म में रक्त, अपनी सगी-सम्बन्धी स्त्रियों के साथ और समान धर्मवाली स्त्रियों के साथ अपनी स्त्री को प्रीति करानी चाहिए । अकुलीन का संसर्ग तो कुलवती स्त्रियों के लिए कलंक रूप है ।

स्त्री को रोग आदि उत्पन्न हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । तप, उद्यापन, दान, प्रभु-पूजा, तीर्थयात्रा आदि धर्मकार्यों में स्त्री का उत्साह बढ़ाना चाहिए ओर उसे सहायता करनी चाहिए, परन्तु कभी भी अन्तराय नहीं करना चाहिए । क्योंकि स्त्री के पुण्य में पुरुष भी भागीदार है और धर्मकार्य में सहयोग देना यह परोपकार का कार्य है ।

5. पुत्र के प्रति औचित्य

बाल्यकाल में पुत्र का पौष्टिक आहार तथा विविध क्रीड़ाओं द्वारा पालन-पोषण करना चाहिए । बाल्यकाल में बालक का देह कमजोर व संकुचित रह जाय तो फिर कभी पुष्ट नहीं होता है । बालक जब बड़ा हो और उसकी बुद्धि विकसित हो तब उसे कलाओं में कुशल बनाना चाहिए ।

कहा है– *``पाँच वर्ष तक बालक का लालन-पालन करना चाहिए, उसके बाद दस वर्ष तक ताड़ना करनी चाहिए और पुत्र जब सोलह वर्ष का हो जाय तब मित्र की तरह उसके साथ आचरण करना चाहिए ।''*

गुरु, देव, धर्म, सुखी तथा स्वजनों के साथ पुत्र का परिचय कराना चाहिए और उत्तम लोगों के साथ उसकी मैत्री करानी चाहिए । बाल्यकाल से ही पुत्र का गुर्वादि से परिचय कराया जाय तो वल्कलचीरी की तरह उसके अच्छे संस्कार ही रहते हैं ।

उत्तम जातिमान् के साथ मैत्री हो तो कदाचित् धन की प्राप्ति न हो परन्तु अनर्थ की परम्परा से तो अवश्य बच जाते हैं । अनार्यदेश में उत्पन्न हुए आर्द्रकुमार की अभयकुमार के साथ हुई मैत्री, उसके लिए उसी भव में मोक्ष प्रदान करने वाली सिद्ध हुई ।

पुत्र बड़ा हो तब समान कुल, जाति और रूप वाली कन्या के साथ लग्न करावें । उसे गृहकार्य-भार में जोड़ें और क्रमशःउसे घर का कार्यभार सौंपे ।

अनमेल पति-पत्नी का संयोग गृहवास नहीं किन्तु विडम्बना ही है क्योंकि इससे परस्पर प्रेम के अभाव के कारण दोनों अनुचित प्रवृत्ति भी कर देते हैं ।

कजोड़ा

भोज राजा के राज्य में धारानगरी में एक घर में अत्यन्त ही गुणहीन और कुरूप पुरुष था । उसकी स्त्री अत्यन्त ही गुणवती व रूपवती थी । दूसरे घर में इससे विपरीत पुरुष गुणवान और रूपवान था, जबकि उसकी स्त्री गुणहीन और कुरूप थी ।

एक बार चोर ने उन दोनों के घर डाका डाला । उसने कजोड़ों को देखकर दोनों पुरुषों की स्त्रियाँ बदल दीं अर्थात् रूपवान पुरुष के पास रूपवती स्त्री और कुरूप पुरुष के पास कुरूप स्त्री रख दी ।

जिसको सुन्दर स्त्री मिली, वह खुश हो गया । दूसरे ने जब राजसभा में विवाद चलाया तब पटह की उद्घोषणा करने पर चोर ने कहा- ``परद्रव्य का अपहरण करने वाले रात्रि के राजा ऐसे मैंने (चोर ने) विधाता की भूल सुधारी है, मैंने रत्न को रत्न के साथ जोड़ा है ।'' हँसकर राजा ने उसकी बात को प्रमाणित कर दिया ।

विवाह के भेद आदि आगे बतायेंगे । पुत्र को घर का भार सौंपने से वह निरन्तर उसी की चिन्ता में व्यग्र रहने से स्वच्छन्दता और उन्माद से दूर रहता है और लक्ष्मी की प्राप्ति को कष्टसाध्य जानने के कारण वह निरर्थक, दुर्व्यय नहीं करता है ।

बड़े व्यक्तियों के द्वारा छोटे को गृहकार्य-सौंपने से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है । पुत्रों की परीक्षा कर उसमें छोटा पुत्र योग्य हो तो छोटे पुत्र को भी कार्यभार सौंपना चाहिए । क्योंकि योग्य को कार्यभार सौंपने से ही परिवार का निर्वाह और शोभा बढ़ती है । जैसे-प्रसेनजित राजा ने अपने सौ पुत्रों की परीक्षा कर छोटे योग्य पुत्र श्रेणिक को राज्य प्रदान किया था ।

पुत्र की तरह पुत्री और भतीजे आदि के साथ भी योग्य, औचित्यपूर्ण व्यवहार करना चाहिए ।

6. पुत्रवधू के साथ औचित्य

पुत्र की तरह पुत्रवधू को भी योग्यतानुसार कार्यभार सौंपना चाहिए । जैसे धन श्रेष्ठी ने अपनी चार पुत्रवधुओं को चावल के पाँच-पाँच दाने देकर उनकी परीक्षा की थी और उसके बाद चौथी वधू रोहिणी को गृह-स्वामिनी बनाया था और उज्झिका को सफाई का काम, भोगवती को रसोई का काम और रक्षिका को अर्थचिन्ता का काम सौंपा था ।

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः, परोक्षे मित्रबान्धवाः ।
कर्मान्ते दासभृत्याश्च, पुत्रा नैव मृताःस्त्रियः ।।1।।

पुत्र की प्रत्यक्ष प्रशंसा नहीं करनी चाहिए । पुत्र यदि व्यसनों में फँस गया हो तो उसे व्यसनों की भयंकरता समझानी चाहिए । आय, व्यय और बचत पुत्र के पास हो तो स्वयं तपास करनी चाहिए ।

गुरु की प्रशंसा गुरु के समक्ष प्रत्यक्ष करें । मित्रों व बन्धुओं की प्रशंसा परोक्ष में करें । दास व नौकरों की प्रशंसा उनके कार्य की समाप्ति के बाद करें । स्त्री की प्रशंसा उसके मरने के बाद करें, परन्तु

पुत्र की प्रशंसा कभी न करें । इस वचन से पुत्र की प्रशंसा अनुचित होने पर भी यदि करनी ही पड़े तो भी प्रत्यक्ष तो कभी न करें, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रशंसा से पुत्र के गुणों का विकास रुक जाता है और उसे अभिमान पैदा होने की सम्भावना रहती है ।

द्यूत आदि के व्यसनी पुत्रों को व्यसनों के परिणामस्वरूप निर्धनता, तिरस्कार, तर्जना, ताड़ना आदि की दुर्दशा समझावें ताकि वे व्यसनों से बच सकें । पुत्र की आय, व्यय व बचत आदि के हिसाब को देखने से पुत्र की स्वच्छन्दता दूर होती है ।

पुत्र को राजसभा बतानी चाहिए और देश-विदेश के आचार-व्यवहार बताने चाहिए । राजसभा से परिचय न हो और कदाचित् आपत्ति आ जाय तो रक्षण का कोई उपाय नहीं सूझता है और निष्कारण द्वेषी और पर-सम्पत्ति के ईर्ष्यालु दुष्ट पुरुषों से परेशानी उठानी पड़ती है ।

कहा भी है– ``राजकुल (सभा) में जाना चाहिए और राजमान्य लोगों को देखना चाहिए, इससे कदाचित् अर्थलाभ न हो तो भी अनर्थ का नाश तो होता ही है ।'' देश-विदेश के आचार-व्यवहार का ज्ञान न हो और प्रयोजनवश कभी देशान्तर जाना पड़े तो वहाँ के लोग विदेशी समझकर आपत्ति में डाल सकते हैं । इस प्रकार पुत्र की तरह पुत्री के और पिता की तरह माता के और पुत्रवधू के सम्बन्ध में उचित आचरण करना चाहिए ।

सौतेले पुत्र के साथ औचित्य-पालन में विशेष ध्यान रखना चाहिए । क्योंकि सौतेले पुत्र के हृदय में माँ के प्रति थोड़ा भेद होने से उसे बात-बात में कुछ कम (अनादर/उपेक्षा) ही लगता है । इस विषय मे सौतेली माँ के द्वारा दी गयी उड़द की राब की उल्टी करने वाले पुत्र का दृष्टान्त समझना चाहिए ।

7. स्वजनों का औचित्य

पिता-माता और पत्नी के पक्ष के लोग स्वजन कहलाते हैं । अपने घर में पुत्रजन्म आदि हो तो हमेशा स्वजनों का आदर-सत्कार करना चाहिए । वे आपत्ति में हों अथवा उनके घर महोत्सव हो तो उनके समीप रहना चाहिए । वे निर्धन हो जाँय अथवा रोगातुर हो जाँय तो उन्हें उस कष्ट से मुक्त करना चाहिए । **कहा है**– ``रोग में, आपत्ति में, अकाल में, शत्रु-संकट में, राजद्वार में और श्मशान में जो साथ रहता है, वह बन्धु कहलाता है ।'' स्वजन का उद्धार यह वास्तव में आत्मा का ही उद्धार हैं ।

अरहट के घड़ों की तरह व्यक्ति की समृद्धि और गरीबी बदलती रहती है । अतःकदाचित् दुर्भाग्य से अपने ही जीवन में आपत्ति आ जाय तो पूर्व में जिसके ऊपर उपकार किया होता है, वे ही अपने को सहायता करते हैं अतःअवसर देखकर स्वजनों का उद्धार अवश्य ही करना चाहिए ।

स्वजनों की निन्दा पीठ पीछे नहीं करनी चाहिए । मजाक में भी उनके साथ शुष्कवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि हास्य आदि में किये गये शुष्कवाद से दीर्घकाल की प्रीति भी नष्ट हो जाती है । स्वजनों के दुश्मनों के साथ मैत्री नहीं करनी चाहिए । उनके मित्रों के साथ मैत्री करनी चाहिए । स्वजन के घर में पुरुष न हो और अकेली स्त्री हो, उस समय उसके घर में नहीं जाना चाहिए । स्वजन के साथ पैसे का सम्बन्ध न करें किन्तु देव-गुरु व धर्म के कार्य में एकाग्रचित्त से उनके साथ काम करना चाहिए ।

स्वजनों के साथ धन का व्यवहार करने में प्रारम्भ में तो प्रीति बढ़ती हुई दिखाई देती है परन्तु परिणामस्वरूप शत्रुता ही हाथ लगती है ।

कहा भी है– यदि तुम किसी से अत्यन्त प्रीति करना चाहते हो तो तीन कार्य मत करो- (1) वादविवाद (2) आर्थिक सम्बन्ध और (3) परोक्ष में उसकी स्त्री से बातचीत ।

इस लोक के कार्यों में भी स्वजनादि के साथ दत्तचित्तता भविष्य में लाभकारी है तो फिर चैत्यादि कार्यों में तो उनके साथ विशेषकर एकता (एकचित्तता) रखनी चाहिए । क्योंकि वे कार्य तो अनेक के अधीन हैं । संघ के कार्य एकतापूर्वक करने में ही कार्य का निर्वाह सुगम होता है और सब की शोभा होती है ।

स्वजनों के साथ एकता में पाँच अंगुलियों का दृष्टान्त समझना चाहिए ।

पाँच अंगुलियाँ

तर्जनी अंगुली लेखन, चित्रकला, वस्तु बताने में, किसी की प्रशंसा करने में, किसी की तर्जना करने में तथा चुटकी भरने में उपयोगी होने से वह गर्व से **मध्यमा** को कहने लगी- ``तुम्हारी क्या विशेषताएँ हैं ? ''

उसने कहा- ``मैं सभी अंगुलियों में मुख्य बड़ी और मध्य में रही हुई हूँ । तेजी, गीत, ताल आदि कार्यों में कुशल हूँ । चुटकी से कार्य की जल्दबाजी बताती हूँ, दोष व छल का नाश करने वाली तथा टिप्परिका (भाषा में टोला मारना) से शिक्षा करने वाली हूँ ।''

उसी समय **तीसरी अंगुली** बोली- ``देव, गुरु, स्थापनाचार्य, साधर्मिक आदि की नवांगी चन्दन-पूजा, मांगलिक के लिए स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि की रचना, जल, चन्दन, वासक्षेप आदि को अभिमंत्रित करना आदि कार्य मेरे अधीन हैं ।''

चौथी अंगुली ने भी कहा, ``मैं छोटी हूँ । किन्तु कान के भीतर खाज आदि सूक्ष्म कार्य मैं करती हूँ । शाकिनी आदि के दोषों का निग्रह करने हेतु शारीरिक पीड़ा में छेद आदि पीड़ा को मैं सहन करती हूँ । जाप की संख्या गिनने आदि कार्यों में अग्रणी हूँ ।''

इन चारों अंगुलियों ने परस्पर मैत्री कर अंगूठे को पूछा- ``तुम क्या काम आते हो ?''

अंगूठे ने कहा- ``अरे ! मैं तो तुम्हारा पति (मालिक) हूँ। लेखन, चित्रण, कवल लेना, चुटकी बजाना, चुटकी भरना, टिप्परिका, मुट्ठी बाँधना, गाँठ लगाना, हथियार का उपयोग करना, दाढ़ी-मूँछ संवारना, काटना, लोंच करना, पींजना, बुनना, धोना, कूटकर भूसी अलग करना, परोसना, काँटा निकालना, गाय दूहना, जाप की संख्या गिनना, केश, फूल गूँथना, पुष्प-पूजा आदि कार्य मेरे बिना कहाँ सम्भव हैं ?

``दुश्मन का गला पकड़ना, तिलक करना, जिनामृत का पान करना तथा अंगुष्ठ कार्य आदि मेरे ही अधीन हैं ।''- इस बात को सुनकर वे चारों अंगुलियाँ भी उसी के अधीन रहकर सब कार्य करने लगीं ।

8. गुरु के प्रति औचित्य-पालन

धर्माचार्य/गुरु को भक्ति और बहुमान पूर्वक त्रैकालिक वन्दन करना चाहिए । अन्तरंग प्रीति **भक्ति** कहलाती है और वाचिक कायिक आदर **बहुमान** कहलाता है । गुरु के निर्देशानुसार आवश्यक आदि कृत्य करने चाहिए और उनके समीप अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक धर्मोपदेश का श्रवण करना चाहिए । धर्माचार्य के आदेश का आदर करना चाहिए और मन से भी उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए ।

अधर्मी पुरुषों के द्वारा हो रही धर्माचार्य की निन्दा आदि को रोकना चाहिए । शक्ति हो तो उसका प्रतिकार करना चाहिए । परन्तु उसकी उपेक्षा तो नहीं करनी चाहिए । **कहा है** –

''महान् पुरुषों की जो निन्दा करता है, वही पापी नहीं है, बल्कि उस निन्दा को जो सुनता है, वह भी पापी हैं ।''

प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में की गयी गुरु की प्रशंसा अगण्य पुण्यानुबन्धी पुण्य का कारण है । गुरु के छिद्र नहीं देखने चाहिए और सुख-दु:ख में मित्र की तरह उनका अनुसरण करना चाहिए और दुश्मन लोगों द्वारा किये जा रहे उपद्रवों को अपनी शक्ति के अनुसार दूर करना चाहिए ।

प्रश्न :- अप्रमत्त और ममत्व रहित गुरु के विषय में श्रावकों को छिद्रान्वेषित्व और मित्रवत् भाव कैसे सम्भव हैं ?

उत्तर :- सत्य बात है । गुरु अप्रमत्त व ममत्वरहित ही होते हैं परन्तु भिन्न- भिन्न प्रकृति वाले उपासकों में धर्मगुरु के प्रति भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न भाव हो सकते हैं । **स्थानांग सूत्र** में कहा है- ``हे गौतम ! श्रावक चार प्रकार के हैं- माता-पिता के समान, भाई के समान, मित्र के समान और शोक्य समान ।'' इनका विस्तृत वर्णन पहले आ चुका है ।

दुश्मन के उपद्रव को सर्वशक्ति से रोकना चाहिए । **कहा भी है**– ``साधु और चैत्य के दुश्मन को, उनकी निन्दा को और जिनशासन की विरोधी प्रवृत्ति को सर्वप्रयत्नपूर्वक रोकना चाहिए ।''

इस विषय में सगर चक्रवर्ती के पौत्र भगीरथ राजा का जीव किसी एक पिछले भव में कुम्भट था । किसी एक गाँव में रहने वाले साठ हजार चोरों ने मिलकर यात्रा करने जाते हुए संघ पर लूट करने का काम शुरू किया, उस वक्त वहाँ जाकर उसने भरसक प्रयत्न से चोरों का उपद्रव बन्द कराया; जिससे उसने बड़ा भारी पुण्य प्राप्त किया ।

अपनी भूल होने पर गुरुजन कोई शिक्षा दें तो उसे **'तहत्ति'** कहकर स्वीकार करना चाहिए और प्रमाद से गुरुदेव की कोई भूल हो जाय तो उन्हें एकान्त में- ``हे भगवन् ! सच्चरित्रवान् ऐसे आपके लिए क्या यह उचित है ?'' -इस प्रकार कहना चाहिए ।

गुरुदेव के आने पर उनके सम्मुख जाना चाहिए । गुरु के आगमन पर खड़े हो जाना चाहिए.....उन्हें आसन देना चाहिए । उनकी मालिश करनी चाहिए और शुद्ध वस्त्र, पात्र, आहार आदि प्रदान करने चाहिए ।

देशान्तर में जाने पर भी गुरु के सम्यक्त्व-दान आदि भावोपकार को सदैव याद रखना चाहिए; इत्यादि गुरुजन सम्बन्धी औचित्यपालन समझना चाहिए ।

9. नगरवासियों के प्रति औचित्य

जहाँ स्वयं रहते हों, उसी नगर में जो रहते हैं और अपने समान आजीविका चलाते हैं, वे नागरिक कहलाते हैं । अब उनसे सम्बन्धित औचित्य बतलाते हैं ।

नगरवासियों के सुख-दुःख में सहभागी बनना चाहिए अर्थात् उनके सुख में सुखी और उनके दुःख में दुःखी बनना चाहिए । उन पर कोई आपत्ति आ जाय तो उसे अपने पर ही आपत्ति समझकर उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए और उनके उत्सव में भाग लेना चाहिए । यदि इस प्रकार एक-दूसरे के बीच सहयोग न रहे और किसी मुख्य प्रसंग पर राजा के पास जाना पड़े तो भी अलग-अलग न जायें बल्कि सब मिलकर एक साथ जायें । महत्त्वाकांक्षा के कारण अलग-अलग जाने पर परस्पर वैमनस्य आदि दोष पैदा होते हैं । अतः तुल्य होने पर भी परस्पर मिलकर यवन की तरह किसी एक को अग्रणी बनाकर ही जाना चाहिए । परन्तु निम्न निर्नायक टोले की भाँति न जायें ।

❑ एक बार किसी राजा की सेवा के लिए 500 मनुष्य उपस्थित हुए । राजा के आदेश से उनकी परीक्षा के लिए मंत्री ने उन्हें सोने के लिए एक ही पलंग दिया । वे सब उस पलंग पर सोने के लिए परस्पर विवाद करने लगे । अन्त में वे उस पलंग को बीच में रखकर उसकी और पैर करके सो गये । परन्तु उन्होंने अपने में से किसी एक को बड़ा मान कर पलंग पर न सोने दिया । यह जानकर राजा ने उन सबको निकाल दिया ।

इस दृष्टान्त को ध्यान में रखकर संगठित होकर ही राजा आदि के पास जाकर विज्ञप्ति आदि करनी चाहिए । **कहा भी है**– ``असारभूत वस्तुएँ भी समूह में होने पर विजय का कारण बनती हैं । तिनकों के समूह से बना हुआ रस्सा हाथी को भी बाँध देता है ।''

मंत्रणा हमेशा गुप्त रखनी चाहिए । गुप्त बात प्रगट होने पर कार्य में आपत्ति आ सकती है और राजा के प्रकोप का भी भाजन बनना पड़ सकता है । राजा आदि के सामने परस्पर निन्दा चुगली करने से राजा द्वारा अपमान भी हो सकता है और दण्ड भी मिल सकता है । समान व्यवसाय वालों के बीच अनबन हो तो वह विनाश का ही कारण बनती है ।

कहा है– ``एक पेट और पृथक् गर्दन वाले अन्य-अन्य फल की इच्छा रखने वाले भारंड पक्षी की तरह परस्पर अनबन रखने वाले लोगों का नाश ही होता है ।''

जो लोग एक दूसरे के मर्म-स्थलों का रक्षण नहीं करते हैं, वे बांबी में रहे सर्प की तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । कोई विवाद उत्पन्न हो जाय तो तराजू के समान मध्यस्थ रहना चाहिए । परन्तु अपने स्वजन सम्बन्धी तथा ज्ञातिजन के उपकार के लिए अथवा रिश्वत लेने की इच्छा से न्यायमार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए । कमजोर लोगों को चुंगी-कर व राजदण्ड आदि से हैरान नहीं करना चाहिए । कमजोर व्यक्ति को अल्प अपराध में एकदम दण्ड नहीं देना चाहिए ।

चुंगी, कर आदि से पीड़ित लोग परस्पर प्रीति नहीं होने से संगठन को छोड़ देते हैं । संगठन न हो तो समूह से अलग पड़े सिंह की भाँति बलवान व्यक्ति भी पराभव ही पाता है । अतःपरस्पर एकता और संगठन रखना ही लाभकारी है ।

कहा भी है– ``पुरुषों के लिए संगठन लाभकारी है और विशेषकर अपने पक्ष में । देखो, छिलकों से अलग पड़े चावल पुनःउगते ही नहीं हैं ।'' ``संगठन की महिमा को देखो जिस पानी से पर्वत भी तोड़े जा सकते हैं और भूमि भी खोदी जा सकती हैं उस पानी को संगठित तृण रोक देते हैं ।''

अपने हित के इच्छुक को भंडारी, राज के अधिकारी, देवस्थान तथा धर्मस्थान के अधिकारी तथा अपने अधीन काम करने वाले लोगों के साथ धन-सम्बन्धी लेन-देन नहीं करना चाहिए और विशेषकर राजा के साथ तो नहीं करना चाहिए ।

राजा के अधिकारी आदि लोग धन लेते समय तो प्रसन्नमुख वाले होते हैं, प्रियभाषण, आसन-प्रदान, तांबूल-दान आदि बाह्य आडम्बर द्वारा अपना सौजन्य बतलाते हैं परन्तु अवसर आने पर जब उनसे दिया गया धन मांगा जाता है तब तिल-तुष मात्र किये गये अपने उपकार को प्रगट कर उसी समय दाक्षिण्य का त्याग कर देते हैं । यह उनका स्वभाव ही होता है ।

कहा भी है– ``ब्राह्मण में क्षमा, माता में द्वेष, वेश्या में प्रेम और अधिकारी में दाक्षिण्य- ये चारों हानिकारक हैं ।'' पैसे देना तो दूर रहा, बल्कि झूठे दोषों का आरोप लगाकर राजा आदि द्वारा दण्ड भी करा सकते हैं ।

``झूठे दोषारापण करके भी धनी व्यक्ति को लोग परेशान करते हैं, जबकि गरीब व्यक्ति ने अपराध किया हो तो भी उसे कोई हैरान नहीं करता है ।'' सामान्य क्षत्रिय के पास से भी जब धन मांगा जाता है, तब वह तलवार बतलाता है तो फिर स्वभाव से ही क्रोधी राजाओं की तो क्या बात करें ?''

इस प्रकार समान व्यवसाय वाले लोगों के साथ उचित व्यवहार की तरह असमान व्यवसाय वाले लोगों के साथ भी उचित व्यवहार करना चाहिए ।

10. अन्य धर्मियों के साथ औचित्य-पालन

``अन्यदर्शनी भिक्षुक अपने घर भिक्षा के लिए आये तो उसे समुचित भिक्षा देनी चाहिए और राजमान्य अन्यदर्शनी भिक्षुक आये तो उसे विशेषकर समुचित भिक्षा देनी चाहिए ।'' यद्यपि अन्यदर्शनी के प्रति श्रावक के मन में भक्ति नहीं है और न ही उसके गुणों के प्रति पक्षपात (अनुमोदन) है, फिर भी घर पर आये हुए का योग्य सत्कार करना यह गृहस्थ का आचार है ।

``घर आये व्यक्ति के साथ उचित आचरण करना, आपत्ति में गिरे हुए की आपत्ति दूर करना और दुःखी पर दया करना- यह सबका सम्यग् धर्म है ।'' घर आये पुरुष के साथ मधुरता से बात करें । उन्हें बैठने के लिए आसन दें । भोजन आदि के लिए आमंत्रण दें । आगमन का कारण पूछें और कारण जानकर कार्य करने के लिए उद्यमशील बनें ।

दीन, अनाथ, अंध, बधिर तथा रोगों से पीड़ित दुःखीजनों की अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करें और उनके रोग आदि का प्रतिकार करें । श्रावक को इन लौकिक आचारों का भी अवश्य

पालन करना चाहिए । क्योंकि जो इस लौकिक औचित्य-पालन के कार्य में भी निपुण नहीं होता है, वह लोकोत्तर और सूक्ष्मबुद्धि से ग्राह्य जैनधर्म में कैसे प्रवीण हो सकेगा ? अतःधर्म के अर्थी व्यक्ति को औचित्य-पालन में अवश्य निपुण बनना चाहिए । अन्यत्र भी कहा है-``सर्वत्र उचित आचरण, गुणानुराग, जिनवचन में रति (राग) और दोष के विषय में मध्यस्थता ये सम्यग्दृष्टि के चिह्न हैं ।''

सव्वत्थ उचिअकरणं , गुणाणुराओ रई अ जिणवयणे ।
अगुणेसु अ मज्झत्थं, सम्मदिट्ठिस्स लिंगाइं ।।1।।

``समुद्र कभी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है, पर्वत कभी चलित नहीं होते हैं, इसी प्रकार उत्तम पुरुष कभी उचित आचरण की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हैं ।'' इसी कारण जगद्गुरु तार्थंकर भी जब गृहस्थ अवस्था में रहते हैं तब माता-पिता के योग्य अभ्युत्थान आदि अवश्य करते हैं ।

अवसरोचित वचन से बहुत लाभ होता है ।

समयोचित वचन

आंबड़ मंत्री ने मल्लिकार्जुन को जीत कर चौदह करोड़ धन, मोती के छह मूठे, चौदह भार प्रमाण वाले धन के बत्तीस कुम्भ, श्रृंगार हेतु रत्नजड़ित करोड़ वस्त्र, माणक का पट तथा विषापहार छीप आदि वस्तुओं को प्राप्त कर कुमारपाल महाराजा के खजाने की अभिवृद्धि की । कुमारपाल ने खुश होकर उसे राजपितामह का विरुद दिया और एक करोड़ द्रव्य तथा चौबीस जातिमान अश्व प्रदान किये परन्तु अपने घर पहुंचने तक तो उस आंबड़ ने अपनी वह सारी सम्पत्ति याचकों को दान में दे दी ।

किसी ने राजा के कान फूंके । राजा ने उसे बुलाया और गुस्से में आकर कहा- ``अरे, मुझ से भी अधिक दान देते हो ?''

उसी समय आंबड़ ने कहा- ``आपके पिता तो बारह गाँव के ही स्वामी थे, जबकि मेरे स्वामी तो अठारह देशों के मालिक हैं (अर्थात् मेरे दान में भी आपका ही प्रभाव है) । इस बात को सुनते ही कुमारपाल अत्यन्त प्रसन्न हो गया और उसने उसे राजपुत्र का खिताब और पहले से द्विगुणी सम्पत्ति भेंट की । ग्रन्थकार ने कहा है–

दान, गमन, मान, शयन, आसन, पान, भोजन तथा वचन आदि समय (अवसर) पर ही अत्यन्त आनन्ददायी बनते हैं । इसी कारण सर्वत्र **'समयज्ञता'** औचित्य का बीज है ।

''एक ओर औचित्य-पालन एक ही गुण हो और दूसरी ओर करोड़ों गुण हों, फिर औचित्य से रहित होने के कारण वे सब विषरूप बन जाते हैं ।''

औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटिरेकतः ।
विषायते गुणग्राम, औचित्यपरिवर्जितः ।।1।।

सर्व अनौचित्य का त्याग करना चाहिए । जिस कार्य को करने से मूर्ख कहलाना पड़े, उसे त्यागना चाहिए । लौकिक शास्त्र में मूर्ख के अनेक लक्षण बतलाये हैं, जो उपयोगी होने से यहाँ बतलाते हैं ।

``हे राजन् ! सौ मूर्खों के स्वरूप को जानकर उनका त्याग करो, जिससे तुम दोषहीन मणि की तरह दुनिया में शोभा प्राप्त करोगे ।''

47. मूर्ख के 100 लक्षण

1. शक्ति होने पर भी परिश्रम न करे ।
2. ***बुद्धिमानों की सभा में अपनी प्रशंसा करे ।***
3. वेश्या के वचन पर विश्वास करे ।
4. ***दंभ के दिखावे में विश्वास रखे ।***
5. जुआ आदि से धनप्राप्ति की आशा करे ।
6. ***खेती आदि की आय में संशय रखे ।***
7. बुद्धि नहीं होने पर भी बड़े कार्य की इच्छा करे ।
8. ***वणिक् होकर भी एकान्तवास की रुचि रखे ।***
9. ऋण करके स्थावर सम्पत्ति खरीदे ।
10. ***स्वयं वृद्ध होने पर भी कन्या के साथ शादी करे ।***
11. नहीं सुने हुए ग्रन्थ पर व्याख्या करे ।
12. ***खुली बात को छिपाने का प्रयास करे ।***
13. धनवान होकर झगड़े करे ।
14. ***समर्थ शत्रु का भय न रखे ।***
15. पहले धन देकर फिर पश्चाताप करे ।
16. ***कवि के द्वारा बलपूर्वक पाठ कराये ।***
17. बिना अवसर बोलने में चतुराई बताये ।
18. ***बोलने का अवसर आने पर मौन रहे ।***
19. लाभ के प्रसंग में झगड़ा करे ।
20. ***भोजन के समय गुस्सा करे ।***
21. बड़े लाभ की आशा से अपना धन बिखेरे ।
22. ***लोकव्यवहार में संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करे ।***
23. पुत्र के अधीन धन को पाने के लिए दीनता करे ।
24. ***स्त्रीपक्ष (श्वसुर पक्ष) वालों से धन की याचना करे ।***
25. स्त्री से झगड़ा हो जाने पर दूसरी स्त्री से विवाह करे ।
26. ***पुत्र पर क्रोध आने से उसे मार डाले ।***
27. कामी पुरुषों के साथ स्पर्धा कर धन उड़ावे ।
28. ***याचकों से अपनी प्रशंसा सुनकर गर्व करे ।***
29. अपनी बुद्धि के अभिमान से दूसरों के हितवचन न सुने ।
30. ***अपने कुल के अभिमान से दूसरों की सेवा न करे ।***
31. दुर्लभ धन देकर काम का सेवन करे ।
32. *चुंगी देकर उन्मार्ग पर जाये ।*
33. लोभी राजा के पास लाभ की आशा रखे ।
34. ***दुष्ट शासक से न्याय की अपेक्षा रखे ।***
35. लेखक जाति (क्षत्रियपिता और शूद्रमाता की संतान) के साथ स्नेह से आशा रखे ।
36. ***क्रूर मंत्री से भी भय न रखे ।***
37. कृतघ्न से प्रतिफल की इच्छा रखे ।
38. ***नीरस व्यक्ति को गुण बतलाये ।***
39. स्वस्थ होने पर भी वैद्य से दवा ले ।
40. ***रोगी होकर पथ्य-पालन से दूर रहे ।***
41. लोभ से स्वजन का त्याग करे ।
42. ***मित्र को द्वेष हो, ऐसी वाणी बोले ।***
43. लाभ के प्रसंग में आलसी रहे ।
44. ***समृद्धि होने पर भी झगड़ा करे ।***
45. ज्योतिषी के वचन पर विश्वास रख राज्य की इच्छा रखे ।

46. मूर्ख के साथ मंत्रणा करने में आदर रखे । 47. कमजोर को सताने में शूरवीर बने ।

48. जिसके दोष दिखाई दिये हों ऐसी स्त्री से भी राग करे ।

49. गुणों के अभ्यास में रुचि न रखे । ***50. दूसरों की कमाई का व्यय करे ।***

51. मौन रहकर राजा का अभिनय करे । ***52. लोक में राजा आदि की निन्दा करे ।***

53. दुःख आने पर दीनता रखे । ***54. सुख मिलने पर दुर्गति को भूल जाय ।***

55. मूल्यहीन वस्तु की रक्षा के लिए अधिक धन का व्यय करे ।

56. परीक्षा के लिए विषभक्षण करे । 57. धातुविज्ञान में धन खर्च करे ।

58. क्षयरोग होने पर भी रसायन खाये ।

59. अपने मन से अहंकारी होकर दूसरे को न नमे । ***60. क्रोध से आत्महत्या के लिए प्रयास करे ।***

61. प्रतिदिन निष्कारण जहाँ-तहाँ भटके । ***62. बाण से प्रहत होने पर भी युद्ध को देखे ।***

63. बलवान के साथ विरोध कर अपना नुकसान करे । ***64. अल्प धन में बड़ा आडम्बर रखे ।***

65. अपने आपको पंडित मानकर वाचालता प्रगट करे ।

66. अपने आपको शूरवीर समझकर किसी से भय न रखे ।

67. अत्यधिक प्रशंसा कर किसी को दुःखी करे । ***68. हँसी-मजाक में किसी को मर्मभेदी वचन बोले ।***

69. दरिद्री को अपना धन सौंपे । ***70. शंकावाले कार्यों में प्रथम से ही खर्च करे ।***

71. अपने व्यय का हिसाब रखने में कंटाला लावे । ***72. भाग्य पर भरोसा रखकर पुरुषार्थ न करे ।***

73. दरिद्र होने पर भी फिजूल बातों में समय नष्ट करे ।

74. उत्तेजना के कारण भोजन विसरा दे । 75. गुणहीन होने पर भी अपने कुल की प्रशंसा करे ।

76. कठोर स्वर होने पर भी गीत गाये । 77. पत्नी के भय से याचक को दान न दे ।

78. द्रव्य होने पर भी कृपणता से बद हालत में फिरे । 79. व्यक्त दोष वाले की प्रशंसा करे ।

80. सभा के बीच में ही उठकर चला जाय । 81. दूत होकर भी सन्देश को भूल जाय ।

82. खाँसी का रोग होने पर भी चोरी करने जाय । 83. कीर्ति के लिए भोजन का बड़ा खर्चा रखे ।

84. लोकप्रशंसा पाने हेतु अल्प भोजन करे । 85. अल्प भोज्य वस्तु में अतिरसिक बने ।

86. कपटपूर्वक मीठा बोलने वालों के चंगल में फँस जाय ।

87. वेश्या के प्रेमी के साथ कलह करे ।

88. दो की बातचीत में बीच में जाकर खड़ा हो जाय । 89. राजा की कृपा में स्थिरबुद्धि रखे ।

90. अन्याय से धन आदि की वृद्धि करे ।

91. धनहीन होने पर भी धन से होने वाले कार्यों को करे । ***92. लोक में गुप्त बात प्रगट करे ।***

93. यश के लिए अज्ञात व्यक्ति को साक्षी दे । ***94. हितैषी के साथ ईर्ष्या करे ।***

95. सर्वत्र विश्वास रखे । ***96. लोकव्यवहार को न समझे ।***

97. भिक्षुक होकर गर्म रसोई की अपेक्षा रखे । ***98. गुरु होकर क्रियापालन में शिथिल रहे ।***

99. कुकर्म में शर्म न रखे । ***100. हँसी-मजाक करते बोले ।***

ये मूर्ख के 100 लक्षण हैं । इसप्रकार अन्य भी अपयश करने-कराने वाली क्रियाओं का त्याग करना चाहिए । **विवेक-विलास** में कहा है- ***''सभा में जंभाई, छींक, डकार, हँसी आदि आ जाय तो मुँह पर कपड़ा लगाना चाहिए । सभा में नाक की सफाई और हाथ को मोड़ने की क्रिया नहीं करनी चाहिए ।''***

सभा में पर्यस्तिका नहीं करनी चाहिए तथा पैर लम्बे नहीं करने चाहिए । निद्रा, विकथा आदि खराब क्रियाएँ भी सभा में नहीं करनी चाहिए । अवसर आने पर कुलीन पुरुष मुस्करा देते हैं परन्तु अट्टहास और अतिहास्य सर्वथा अनुचित है । अपने अंग को न बजायें । तिनकों को न तोड़ें, भूमि पर आलेखन न करें, नाखूनों से दाँतों व नाखूनों का घर्षण न करें । भाट की प्रशंसा सुनकर गर्व न करें, परन्तु बुद्धिमान की प्रशंसा से अपने गुण का निश्चय करें ।

बुद्धिमान पुरुष को दूसरे के वाक्यों में रही विशेष उक्ति को अवश्य धारण करना चाहिए । नीच व्यक्ति के द्वारा अपने कहे गये वाक्य को दोहराना नहीं चाहिए । तीनों कालों में जो बात एक-दम निश्चित न हो उसे **'यह ऐसा ही है'**– इस प्रकार स्पष्ट नहीं कहना चाहिए ।

दूसरों से कोई काम कराना हो तो उन पुरुषों को पहले दृष्टान्त व अन्योक्ति द्वारा वह कार्य समझा देना चाहिए । जो वचन स्वयं बोलना है यदि वही वचन अन्य किसी ने भी कहा हो तो उसे अपने कार्य की सिद्धि के लिए स्वीकार कर लेना चाहिए । जो कार्य अशक्य हो उसे पहले ही कह देना चाहिए, परन्तु किसी को निरर्थक धक्के नहीं खिलाने चाहिए ।

किसी को कटु वचन न सुनायें । यदि दुश्मन को भी कटु वचन कहना पड़े तो अन्योक्ति से अथवा किसी बहाने से कहें । माता, पिता, रोगी, आचार्य, अतिथि, भाई, तपस्वी, वृद्ध, बालक, दुर्बल, वैद्य, संतान, दामाद, नौकर, बहन, आश्रित, सम्बन्धी व मित्र आदि के साथ कभी कलह न करनेवाला तीन जगत् को जीतता है ।

निरन्तर सूर्य की ओर न देखें, सूर्य व चन्द्र के ग्रहण को न देखें । गहरे कुए में झाँककर न देखें और संध्या समय आकाश न देखें । किसी की मैथुन क्रिया, शिकार, युवा नग्न स्त्री, पशुओं की क्रीड़ा और कन्या की योनि को न देखें । तेल, जल, हथियार, मूत्र व रक्त में अपने मुख का प्रतिबिम्ब न देखें, इससे आयुष्य क्षीण होता है । अंगीकार किये वचन को भंग न करें । गुम हो गयी वस्तु का शोक न करें । किसी की निद्रा का भंग न करें ।

बहुत लोगों के साथ वैर न कर बहुमत की बात स्वीकार कर लें । रुचि बिना के कार्य भी बहुतों के साथ मिलकर करें । बुद्धिमान पुरुष को सभी शुभ कार्यों में अग्रणी बनना चाहिए । कपट से दिखाई गई निस्पृहता फलदायी नहीं बनाती है । किसी को नुकसान हो ऐसे कार्य में तत्पर न बनें । सुपात्र में कभी मत्सर भाव न रखें ।

अपनी जाति पर आये कष्ट की उपेक्षा न करें, परन्तु आदरपूर्वक जाति की एकता करें । ऐसा न करने पर मान्य व्यक्ति का मानभंग होता है और अपना अपयश होता है । अपनी जाति को छोड़कर जो अन्य जाति में आसक्त होते हैं वे कुकर्दम राजा की तरह नष्ट होते हैं । परस्पर कलह करने से प्रायः जातियाँ नष्ट हो जाती हैं और परस्पर मेल रखने से जल में कमलिनी की भाँति वृद्धि होती है ।

दरिद्रता से ग्रस्त मित्र, साधर्मिक, ज्ञाति के अग्रणी, पुत्र रहित बहन का अवश्य पालन करना चाहिए । गौरवप्रिय व्यक्ति को सारथी का कार्य, परायी वस्तु का क्रय-विक्रय तथा कुल के अनुचित कार्य नहीं करने चाहिए ।

महाभारत आदि ग्रन्थों में भी कहा है- ``ब्राह्म मुहूर्त में जगकर धर्म और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए । **उगते हुए और अस्त होते हुए सूर्य को कभी नहीं देखना चाहिए ।''**

दिन में उत्तर दिशा सम्मुख व रात्रि में दक्षिण दिशा सम्मुख तथा शारीरिक पीड़ा हो तो किसी भी दिशा में लघुनीति व बड़ी नीति करनी चाहिए । आचमन कर देवपूजा एवं गुरु का अभिवादन करें और उसी प्रकार तत्पश्चात् भोजनक्रिया करें । हे राजन् ! बुद्धिमान पुरुष को धनार्जन के लिए अवश्य पुरुषार्थ करना चाहिए क्योंकि धन की प्राप्ति होने पर ही धर्म-काम आदि की सिद्धि हो सकती है । धन का जितना लाभ हो उसका चौथा भाग धर्मकार्य में खर्च करें, चौथे भाग का संग्रह करें । शेष धन से अपना भरण-पोषण और नित्य नैमित्तिक क्रियाएँ करें ।

केशसज्जा, दर्पण में मुखदर्शन, दंतमंजन और देव की पूजा- ये कार्य दोपहर के पहले ही कर लेने चाहिए । अपने आवास से दूर जाकर ही मूत्र का त्याग करें और पाद-प्रक्षालन व उच्छिष्ट भोजन का त्याग भी दूर ही करें । जो व्यक्ति मिट्टी के डले को तोड़ता है, तृण का छेद करता है, दाँत से नाखून तोड़ता है उसको एवं लघुनीति-बड़ीनीति से बिगड़े हुए पुरुष को बड़ा आयुष्य प्राप्त नहीं होता है । फटे हुए आसन पर न बैठें । टूटे हुए कांस्य के बर्तन का त्याग करें । बाल खुले रखकर भोजन न करें और नग्न होकर स्नान न करें । नग्न होकर न सोयें । जूठे हाथ-मुँह से बैठे न रहें । मस्तक के आश्रित सभी प्राण होने से जूठन वाला हाथ मस्तक पर न लगायें ।

किसी के बाल न पकड़ें । मस्तक पर प्रहार न करें । पुत्र और शिष्य को छोड़कर शिक्षा के लिए किसी का ताड़न न करें । दोनों हाथों से मस्तक न खुजलावें । बिना कारण बारम्बार स्नान न करें । ग्रहण के बिना रात्रि में स्नान अच्छा नहीं है । भोजन के बाद स्नान न करें और न ही अति गहरे जलाशय में स्नान करें ।

गुरु का दोष न बोलें । कुपित हुए गुरु को प्रसन्न करें । दूसरों के द्वारा की जाती हुई गुरु की निन्दा को न सुनें । हे भारत ! गुरु, सती-स्त्री, धर्मी व तपस्वी की मजाक में भी निन्दा न करें । किसी की थोड़ी (छोटी) वस्तु की भी चोरी न करें । थोड़ा भी अप्रिय न बोलें । प्रिय व सत्य बोलें । दूसरों के दोषों की उदीरणा न करें ।

पतित (चरित्रहीन) व्यक्तियों के साथ बातचीत न करें । उनके हाथ से भोजन न लें एवं उनके साथ काम न करें । लोक में निद्य, पतित, बहुतों के दुश्मन और शठ व्यक्ति के साथ दोस्ती न करें और अकेले यात्रा न करें ।

दुष्ट के वाहन में न बैठें । किनारे की छाया का आश्रय न करें । वेग वाले प्रवाह में अग्रसर होकर प्रवेश नहीं करना चाहिए । सुलगते हुए घर में प्रवेश न करें । पर्वत के शिखर पर न चढ़ें । मुँह ढके बिना जंभाई, खाँसी व छींक न करे । चलते समय ऊपर, इधर-उधर व दूर न देखें, बल्कि गाड़ी के जुए

प्रमाण भूमि को देखते हुए चलें । जोर से न हँसे । अधोवायु न छोड़ें । दाँतों से नाखून न काटे व पैर पर पैर नहीं रखें ।

दाढ़ी व मूँछ के बाल न चबावें । होठों को न चबावें । कोई जूठी चीज न खायें और किसी के घर आदि का मुख्य द्वार खुला न हो तो अन्य मार्ग से प्रवेश न करें । गर्मी व वर्षा में छतरी लेकर और रात्रि में वन में लकड़ी लेकर जायें । जूते, वस्त्र और माला अन्य किसी ने पहनी हो तो उसे न पहनें ।

स्त्रियों के साथ ईर्ष्या न करें । अपनी स्त्री का प्रयत्नपूर्वक रक्षण करें । ईर्ष्या करना बेकार है अतः उसका त्याग करें । हे राजन ! रात्रि में जल भरना, छानना एवं दही के साथ सत्तू खाना आदि क्रियायें न करें तथा रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए । अधिक देर तक खड़े न रहें, उत्कटासन से न बैठें । प्राज्ञ पुरुष आसन को पैर से खींचकर उस पर न बैठें ।

एकदम प्रातःकाल में, एकदम सायंकाल में, मध्याह्न के समय तथा अज्ञात व्यक्तियों के साथ अकेले अथवा बहुतों के साथ भी नहीं जाना चाहिए । हे राजन् ! बुद्धिमान पुरुषों को मलिन दर्पण में अपना मुँह नहीं देखना चाहिए तथा दीर्घायुष्य के इच्छुक व्यक्ति को रात्रि में भी दर्पण में अपना मुँह नहीं देखना चाहिए । हे राजन् ! कमल और कुवलय को छोड़कर पंडित पुरुष को लाल माला धारण नहीं करनी चाहिए, बल्कि सफेद माला धारण करनी चाहिए । हे नरोत्तम ! शयन, देवपूजा तथा सभा में जाने के वस्त्र अलग-अलग रखने चाहिए ।

वाणी तथा हाथ-पैर की चपलता का त्याग करें । अति भोजन न करें । शय्या, दीपक, अधम व्यक्ति तथा स्तम्भ की छाया का दूर से त्याग करें ।

नाक में अंगुली नहीं डालें । अपने जूते न उठायें । सिर पर भार वहन न करें तथा चालू वर्षा में न दौड़ें । पात्र के भंग से झगड़ा होता है । खाट के भंग से वाहन का क्षय होता है । जहाँ श्वान व मुर्गे रहते हों वहाँ पितर अपना पिंड नहीं लेते हैं । भोजन तैयार होने पर सुवासिनी स्त्री (विवाहिता या एकाकिनी स्त्री जो अपने पिता के घर रहती है), गर्भिणी स्त्री, वृद्ध, बालक व रोगी को पहले भोजन कराये, उसके बाद गृहस्थ भोजन करे ।

हे पाण्डव श्रेष्ठ (युधिष्ठिर) ! अपने घर के आँगन में बँधी हुई गाय आदि को घास पानी दिये बिना तथा गृहांगन में देखते हुए याचकों को दिये बिना ही जो भोजन करता है, वह केवल पाप ही भोगता है । अपने घर की वृद्धि के इच्छुक व्यक्ति को अपनी ज्ञाति के वृद्ध पुरुष को तथा दरिद्र मित्र को अपने घर में रखना चाहिए । प्राज्ञ पुरुष के अपमान को आगे कर और अपने मान को पीछे कर स्वार्थ को सिद्ध करना चाहिए, क्योंकि स्वार्थ से भ्रष्ट होना मूर्खता है ।

थोड़े लाभ के लिए अधिक का नुकसान न करें । थोड़ा खर्च कर अधिक का रक्षण करने में ही बुद्धिमत्ता है । आदान-प्रदान का कार्य निश्चित समय के भीतर कर लेना चाहिए, अन्यथा काल उसका रस (सार) पी लेता है । जिस घर में आदर न मिले, जहाँ मीठी बात न हो तथा गुणदोष की भी बात न हो, उस घर में नहीं जाना चाहिए । हे पार्थ ! बिना बुलाये प्रवेश करे, बिना पूछे बकवास करे, बिना दिये आसन पर बैठ जाय, उसे अधम पुरुष समझना चाहिए ।

कमजोर होकर गुस्सा करे, निर्धन होकर मान की इच्छा करे और गुणहीन होकर गुणीजनों से द्वेष करे- ये तीन पुरुष पृथ्वी पर लकड़ी के समान हैं। माता-पिता का भरणपोषण नहीं करने वाला, पूर्व में की हुई क्रिया को उद्देशित कर याचना करने वाला तथा मृतक की शय्या को ग्रहण करने वाला ये तीनों पुनःमनुष्य नहीं बनते हैं। स्थायी लक्ष्मी के इच्छुक व्यक्ति को बलवान के साथ भिड़न्त होने पर बेंत के समान नम्र बन जाना चाहिए न कि सर्प की तरह वक्र बनना चाहिए। क्रमशः बेंत की वृत्ति के अनुसार जीने वाला महान् लक्ष्मी को प्राप्त करता है और भुजंग वृत्ति वाला व्यक्ति केवल अपना वध ही कराता है।

बुद्धिमान पुरुष कभी कछुए की तरह अपने अंगोपांग का संकोच (सिकुड) कर ताड़नाओं को भी सहन करे और अवसर आने पर काले सर्प की भाँति आक्रमण भी करे। कमजोर भी यदि संगठित हों तो बलवान भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं जैसे महाप्रचण्ड वायु एक दूसरे के आश्रय से गुंफित हुई लताओं को नहीं उखाड़ सकती है। विद्वान् पुरुष एक बार दुश्मन को चढ़ाकर फिर उसी का नाश करते हैं। गुड़ से बढ़ाया हुआ श्लेष्म सम्पूर्ण बाहर निकल जाता है।

जिस प्रकार सागर बड़वानल को कुछ जल देकर खुश करता है, उसी प्रकार सर्वस्व हरण करने में शक्तिमान शत्रु को बुद्धिमान पुरुष थोड़ा सा दान देकर संतुष्ट कर देते हैं। हाथ में रहे काँटे से जिस प्रकार पैर में लगे काँटे को बाहर निकाल सकते हैं, उसी प्रकार बलवान शत्रु को अन्य बलवान शत्रु से उखाड़ा जा सकता है। स्व-पर की शक्ति का विचार किये बिना जो किसी कार्य को उठाता है, वह मेघ की गर्जना से क्रोधित हुए शरभ (आठ पैर का जानवर जो सिंह से भी बलवान होता है) के समान है जैसे शरभ मेघ की गर्जना सुनकर उछल-उछल कर अपने ही अंग का विनाश करता है वैसे ही शक्ति का विचार नहीं करने वाला व्यक्ति भी क्लेश पाता है।

जो कार्य पराक्रम से शक्य न हो उसे किसी उपाय से सिद्ध करना चाहिए। जिस प्रकार काकी (मादा काक) ने कनकसूत्र से काले सर्प को गिरा दिया। नाखून वाले और सींग वाले पशु, शस्त्रधारी व्यक्ति, नदी, स्त्री और राजकुल का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

पशु-पक्षियों से शिक्षा

सिंह से एक, बगुले से एक, मुर्गे से चार, कौए से पाँच, कुत्ते से छह और गधे से तीन शिक्षाएँ लेनी चाहिए। सिंह के समान एक ही छलांग में मनुष्य को छोटा या बड़ा कोई भी कार्य सर्व प्रकार के उद्यम से एकदम करना चाहिए। बगुले की तरह वस्तु का विचार करें। सिंह का पराक्रम करे। भेड़िये की तरह लूटें और खरगोश की तरह भाग जायें। सबसे पहले उठना, लड़ाई करना, भाइयों के साथ मिलकर खाना और स्त्री को अपने अधिकार में लेकर भोगना ये चार बातें मुर्गे से सीखें।

एकान्त मैथुन, धृष्टता, अवसर आने पर गृह-संग्रह, अप्रमाद और अविश्वास ये पाँच बातें कौए से सीखनी चाहिए। मिलने पर अधिक खाना, थोड़े में सन्तोष, निद्रा, सहज जागृति, स्वामि-भक्ति शूरवीरता ये छह बातें कुत्ते से सीखनी चाहिए। ऊपर पड़े भार को वहन करना, ठण्डी-गर्मी की परवाह न करना और हमेशा सन्तुष्ट रहना, ये तीन बातें गधे से सीखनी चाहिए।

इस प्रकार अन्य भी नीतिशास्त्र आदि में कही हुई सभी बातों पर सुश्रावक को अच्छी तरह से विचार करना चाहिए।

कहा है– जो व्यक्ति हित-अहित, उचित-अनुचित और वस्तु-अवस्तु को स्वयं नहीं जानता है, वह बिना सींग का पशु संसार रूपी वन में परिभ्रमण करता है । जो मनुष्य बोलने, देखने, हँसने, खेलने, प्रेरणा करने, रहने, परीक्षा करने, व्यवहार करने, शोभा करने, अर्जन करने, दान करने, विशेष चेष्टा करने, पढ़ने, आनन्द करने और बढ़ने के विषय में कुछ भी नहीं जानता है, वह निर्लज्ज शिरोमणि क्यों जीता है ?

जो मनुष्य स्व-पर स्थान में खाने, सोने, पहिनने, बोलने आदि के बारे में जानता है, वही मनुष्य विद्वानों में अग्रणी कहलाता है ।

व्यवहार-शुद्धि

विनयपुर नगर में धनवान वसुभद्र के धनमित्र नाम का पुत्र था । बाल्यकाल में ही माता-पिता की मृत्यु हो जाने से और धन की हानि से गरीब होने के कारण वह दु:खी हो गया । युवावस्था प्राप्त होने पर भी उसकी शादी नहीं हुई । आखिर लज्जा से धन कमाने के लिए वह घर छोड़कर चला गया । खनन-विधि, धातुवाद, रस, मंत्र, जलस्थल-यात्रा, अनेक प्रकार के व्यापार तथा राजा आदि की सेवा करने पर भी जब उसे धन की प्राप्ति नहीं हुई तब वह अत्यन्त उद्विग्न बना गजपुर नगर में आया और वहाँ बिराजमान केवली भगवन्त से उसने अपना पूर्व भव पूछा ।

केवली भगवन्त ने कहा- ``विजयपुर नगर में गंगदत्त नाम का गृहपति था । वह अत्यन्त ही कृपण और मत्सरी था । दूसरे के दान व लाभ में अन्तराय करता था । एक बार सुन्दर नाम का श्रावक उसे किसी मुनि भगवन्त के पास ले गया । मुनि के उपदेश से उसने कुछ भाव से, कुछ दाक्षिण्य से प्रतिदिन प्रभु-पूजा, चैत्यवन्दन आदि करने का नियम लिया । कृपणतादि के कारण पूजा आदि में शिथिल बन कर उसने चैत्यवन्दन के अभिग्रह का पालन किया । उस पुण्य से ही तुम श्रेष्ठिपुत्र बने हो और मुझे मिले हो । पूर्वभव में किये दुष्कृत के कारण ही तुम निर्धन और दु:खी हुए हो । **कहा है**– ``जो कर्म जिस प्रकार बाँधा जाता है, उसे उसी तरह हजार गुणा भी भोगा जाता है, इस प्रकार जानकर यथोचित कर्म करना चाहिए ।''

केवली भगवन्त के उपदेश को सुनकर उसने प्रतिबोध पाया और गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया । दिन और रात्रि के प्रथम प्रहर में धर्म ही करने का उसने अभिग्रह धारण किया ।

वह एक श्रावक के घर ठहरा । प्रात:काल में माली के साथ बगीचे में फूलों को इकट्ठा कर गृह-चैत्य में अरिहन्त की भक्ति करने लगा । दूसरे प्रहर में व्यवहार-शुद्धि द्वारा देश आदि विरुद्ध का त्याग कर औचित्य पालन आदि विधि से व्यवहार करने लगा, जिससे बिना कष्ट से उसके भोजनदि का निर्वाह होने लगा ।

इस प्रकार वह ज्यों-ज्यों धर्म में स्थिर रहने लगा, त्यों-त्यों वह अधिक धन कमाने लगा और व्यय भी करने लगा ।

क्रमश:अलग घर में रहने लगा और धार्मिक वृत्ति वाला होने से किसी सेठ की कन्या के साथ उसका विवाह भी हो गया।

एक बार जब गायों का समूह वन की ओर जा रहा था तब वह गुड़-तैल आदि वस्तुएँ बेचने के लिए जा रहा था। उस समय गोकुल का मालिक अंगारे की बुद्धि से स्वर्ण निधि को छोड़ रहा था। उसे देखकर वह बोला- ``अरे ! यह स्वर्ण क्यों फेंक रहे हो ?'' उसने कहा- ``पहले भी हमारे पिता ने स्वर्ण कहकर हमें ठगा था और आज तुम भी हमें ठगना चाहते हो।''

धनमित्र ने कहा- ``मैं तो झूठ नहीं बोलता हूँ।'' उसने कहा- ``अच्छा, तो गुड आदि देकर तुम ही ले लो।'' धनमित्र ने वैसा ही किया। इस प्रकार करने से उसे तीस हजार सोना मोहर प्राप्त हुई। दूसरा भी धन मिलने से वह धनवान बना। अहो, एक भव में भी धर्म का कितना अधिक महत्त्व है।

एक बार वह सुमित्र नाम के सेठ के घर अकेला ही गया। उसी समय कोटि मूल्य के रत्न का हार, बाहर ही रखकर किसी कार्यवश सुमित्र अपने घर में गया। लौटने पर उसने वह हार नहीं देखा। अन्य जगह पर भी हार नहीं मिलने से सुमित्र ने धनमित्र पर आरोप लगाया और बोला- ``यह हार तुमने ही लिया है।''इस प्रकार कहकर न्याय के लिए उसे राजसभा में ले गया।

धनमित्र ने दिव्य के पूर्व जिनपूजा और समकित दृष्टि देवता का कायोसर्ग किया। उसी समय सुमित्र की अंटी में से वह हार निकला। सभी को आश्चर्य हुआ। किसी ज्ञानी गुरु भगवन्त को पूछने पर उन्होंने कहा- ``गंगदत्त नाम का गृहपति था। उसके मगधा नाम की पत्नी थी। एक बार गंगदत्त ने अपने सेठ की पत्नी के पास से गुप्त रीति से एक लाख की कीमत का रत्न ले लिया। सेठानी ने बहुत बार मांगा परन्तु पत्नी के मोह से गंगदत्त ने कहा- ``तुम्हारे स्वजनों ने ही लिया है'' इस प्रकार कहकर झूठा आरोप लगाया। इससे वह नाराज होकर तापसी बन गयी। वह मरकर व्यन्तर बनी। मगधा मरकर सुमित्र बना और गंगदत्त मरकर धनमित्र बना। उस व्यन्तर ने ही कुषित होकर सुमित्र के आठ पुत्रों को मार डाला और अभी रत्नावली का अपहरण किया। आज भी वह सर्वस्व अपहरण करेगा। अनेक भवों तक वह वैर का बदला लेगा। अहो ! कलंक का परिणाम कितना भयंकर ? आरोप लगाने से धनमित्र पर भी आरोप लगा। उसी समय पुण्य से आकृष्ट सम्यग्दृष्टि देव ने व्यन्तर के पास से वह रत्नावली खींचकर उसे वापस प्रदान की।''

यह बात सुनकर राजा और धनमित्र को वैराग्य पैदा हुआ। राजा ने अपने पद पर अपने पुत्र को स्थापित कर धनमित्र के साथ दीक्षा स्वीकार की और अन्त में वे दोनों मोक्ष गये। मध्याह का कर्तव्य

मध्याह्न के कर्त्तव्य

मज्झण्हे जिणपूआ, सुपत्तदाणाइजुत्ति भुंजित्ता।
पच्चक्खाइ अ गीअत्थ-अंतिए कुणइ सज्झायं ।।8।। (मूल गाथा)

याममध्ये न भोक्तव्यं, यामयुग्मं न लङ्घयेद्।
याममध्ये रसवृद्धि, यामयुग्मं (रसोत्पत्तिर्युग्मादूर्ध्वं) बलक्षयः ।।1।।

48. मध्याह्न पूजा व सुपात्रदान

सुश्रावक मध्याह्न के समय में पूर्वोक्त विधि से तथा विशेष तौर से श्रेष्ठ चावल आदि से तैयार की गयी रसोई की सामग्री को दूसरी बार की जिनपूजा में प्रभुसमक्ष चढ़ाकर और सुपात्र में दान देकर भोजन करता है। मध्याह्न जिनपूजा व भोजन का निश्चित काल-नियम नहीं है। वास्तव में, भूख का समय ही भोजन का समय है। इस नियम के अनुसार मध्याह्न के पूर्व भी ग्रहण किये गये पच्चक्खाण को पारकर प्रभुपूजा पूर्वक भोजन करने में कोई दोष नहीं है। आयुर्वेद में तो इस प्रकार कहा है- ``पहले प्रहर में भोजन न करें और भोजन में दूसरे प्रहर का उल्लंघन न करें। पहले प्रहर में रस की उत्पत्ति होती है और दो प्रहर के बाद भोजन करने से बल का क्षय होता है।

सुपात्र-दान विधि

भोजन का समय होने पर भक्तिपूर्वक साधु भगवन्तों को निमन्त्रण देकर उनके साथ घर आना चाहिए। अथवा स्वयं ही आते हुए मुनियों को देखकर उनके सम्मुख जाना चाहिए।

उसके बाद विनयपूर्वक (1) यह क्षेत्र संविग्न से भावित है या नहीं ? (2) सुकाल है या दुष्काल ? (3) देयवस्तु सुलभ है या दुर्लभ है ? (4) आचार्य, उपाध्याय, गीतार्थ, तपस्वी, बाल, वृद्ध, ग्लान, भूख को सहन कर सके ऐसे, तथा भूख को सहन न कर सके ऐसे मुनियों की अपेक्षाओं इत्यादि की विचार कर स्पर्धा, महत्त्व, मत्सर, स्नेह, लज्जा, भय, दाक्षिण्य, अनुकरण, प्रत्युपकार की इच्छा, माया, विलम्ब, अनादर, अनुचित वचन और पश्चाताप आदि दान के दोषों का त्याग कर एकान्त से आत्मा के अनुग्रह की बुद्धि से भिक्षा के बयालीस दोषों से बचते हुए अपने अन्न, पान, वस्त्र आदि का दान करना चाहिए। दान में सर्वप्रथम भोजन आदि के क्रम से स्वयं दान देना चाहिए। अथवा अपने हाथ में पात्र को धारण कर पास में खड़े रहकर पत्नी आदि के द्वारा दान दिलवाना चाहिए।

भिक्षा के बयालीस दोष **पिण्डविशुद्धि** आदि ग्रन्थों से समझ लेने चाहिए। दान देने के बाद मुनि को वन्दन कर कम-से-कम उन्हें अपने घर के द्वार तक छोड़ने जाना चाहिए।

साधु भगवन्तों का योग न हो तो ``मेघ बिना की वृष्टि भाँति अचानक ही मुझे साधु भगवन्तों का योग मिल जाय तो कितना अच्छा हो जाय''-इस प्रकार विचार कर सभी दिशाओं में अवलोकन करना चाहिए। **कहा भी है**– ``जो वस्तु साधु भगवन्त को प्रदान न की हो, उस वस्तु को श्रावक नहीं खाता है। अत:भोजन का समय होने पर द्वार का अवलोकन अवश्य करना चाहिए।''

अन्य प्रकार से साधु का निर्वाह हो सकता हो तब अशुद्ध आहार देने वाले और लेने वाले दोनों के लिए अहितकर है और दुर्भिक्ष व ग्लान आदि अवस्था में अन्य प्रकार से निर्वाह न होने पर दिया व लिया गया वही भोजन रोगी के दृष्टान्त से लाभ का कारण बनता है। विहार से थके हुए को, रोगी को, आगम के अभ्यासी को, जिसने लोच किया हो उसे तथा उत्तरपारणे में दिया हुआ दान बहुत फलदायक होता है।

इस प्रकार देश और क्षेत्र का विचार कर श्रावक को प्रासुक और एषणीय वस्तु का समुचित दान

करना चाहिए । प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, औषध (एक द्रव्य) तथा भेषज (अनेक औषधियों का संग्रह) देना चाहिए ।

(साधु-निमन्त्रण और भिक्षाग्रहण आदि की विशेष विधि ग्रन्थकारकृत **श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र** की टीका से समझ लेनी चाहिए ।)

सुपात्रदान ही अतिथि-संविभाग व्रत कहलाता है । आगम में भी कहा है- ``न्याय से प्राप्त कल्पनीय अन्न-पान आदि द्रव्यों का देश, काल, श्रद्धा, सत्कार तथा क्रम से युक्त परम भक्तिपूर्वक आत्मा के अनुग्रह की बुद्धि से संयत मुनियों को दिया गया दान अतिथिसंविभाग कहलाता है ।''

सुपात्रदान से दिव्य तथा औदारिक अद्भुत भोगों की प्राप्ति होती है । सुपात्रदान से अभीष्ट सभी प्रकार के सुख, समृद्धि, साम्राज्य आदि की प्राप्ति तथा शीघ्र ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है । **कहा है**– ``अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पादान, उचितदान और कीर्तिदान में से प्रथम दो मोक्ष और शेष तीन भोग आदि प्रदान करते हैं ।

अभयं सुपत्तदाणं, अणुकंपाउचिअकित्तिदाणं च ।
दोहिवि मुक्खो भणिओ, तिन्निवि भोगाइअं दिंति ।।1।।

पात्र के प्रकार:

उत्तमपत्तं साहू, मज्झिमपत्तं च सावया भणिया ।
अविरयसम्मदिट्ठि, जहन्नपत्तं मुणेअव्वं ।।1।।
मिथ्यादृष्टिसहस्त्रेषु, वरमेको ह्यणुव्रती ।
अणुव्रतिसहस्त्रेषु, वरमेको महाव्रती ।।2।।
महाव्रतिसहस्त्रेषु, वरमेको हि तात्त्विक: ।
तात्त्विकस्य समं पात्रं न भूतं न भविष्यति ।।3।।
सत्पात्रं महती श्रद्धा, काले देयं यथोचितम् ।
धर्मसाधनसामग्री, बहुपुण्यैरवाप्यते ।।4।।
अनादरो विलम्बश्च, वैमुख्यं विप्रियं वच: ।
पश्चात्तापश्च पञ्चापि, सद्दानं दूषयन्त्यमी ।।5।।

पात्रता के भेद– उत्तम पात्र साधु हैं, मध्यम पात्र श्रावक हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक कहे गये हैं ।

हजारों मिथ्यादृष्टियों से एक अणुव्रती श्रेष्ठ है और हजारों अणुव्रतियों से एक महाव्रतधारी श्रेष्ठ है । हजारों महाव्रतधारियों में एक तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ है । तत्त्वज्ञानी के समान श्रेष्ठ पात्र न है और न ही होगा ।

``सत्पात्र का योग, अत्यन्त श्रद्धा योग्य काल में यथोचित दान तथा धर्म-सामग्री की प्राप्ति बहुत पुण्य से होती है ।''

``अनादर, विलम्ब, पराङ्मुखता, अप्रियवचन तथा पश्चाताप-ये पाँच दान को दूषित करते हैं ।''

भृकुटि चढ़ाना, ऊपर देखना, बीच में दूसरी ही बातें करना, पराङ्मुख होना, मौन रहना तथा कालविलम्ब करना- ये छह प्रकार के नकार हैं ।

आनन्द के आँसू, रोमांच, बहुमान, प्रियवचन और अनुमोदना ये पात्रदान के पाँच भूषण हैं ।

भोजन के प्रसंग पर सुपात्र दान

साधु आदि का संयोग होने पर विवेकी पुरुष को प्रतिदिन विधिपूर्वक सुपात्रदान देना चाहिए तथा भोजन के समय अथवा उसके पूर्व आये हुए साधर्मिकों को अपनी शक्ति के अनुसार अपने साथ भोजन कराना चाहिए । वे भी पात्र हैं । साधर्मिक-वात्सल्य आदि विधि आगे बताएँगे । अन्य भी भिखारी आदि को उनके योग्य दान देना चाहिए, परन्तु उन्हें निराश नहीं करना चाहिए । उनके पास कर्मबन्ध न करायें, धर्म की निन्दा न करायें तथा स्वयं निष्ठुर न बनें ।

भोजन के प्रसंग पर द्वार बन्द रखना यह बड़े व्यक्ति व दयालु व्यक्ति का लक्षण नहीं है । सुना है-चित्रकूट में चित्रांगद नाम का राजा था । शत्रुसैन्य ने उसके किले को घेर लिया । शत्रुओं के प्रवेश का भय होने पर भी वह भोजन के समय पर नगर का द्वार खुलवा देता था । उसका मर्म वेश्या ने बतला दिया, जिससे शत्रुओं ने उस दुर्ग को अपने अधीन कर लिया ।

अत: श्रावक को भोजन के समय घर के द्वार बन्द नहीं करने चाहिए, विशेषकर समृद्ध श्रावक को । **कहा भी है**–

''अपना पेट भरने वाला तो यहाँ कौन नहीं है ? परन्तु जो पुरुष अनेक का आधार है, वही वास्तव में पुरुष है । अत:भोजन के समय आये हुए बन्धु आदि को अवश्य भोजन कराना चाहिए ।''

भोजन के समय आये हुए अतिथि अर्थात् मुनिजनों को भक्तिपूर्वक, याचकों को अपनी शक्ति-अनुसार और दु:खी लोगों को अनुकम्पा से कृतार्थ करने के बाद ही उत्तम पुरुषों को भोजन करना उचित है । **आगम में भी कहा है**–

``भोजन करते समय सुश्रावक अपने घर के द्वार बन्द नहीं करता है, क्योंकि जिनेश्वर भगवन्तों ने श्रावकों के लिए अनुकम्पा का कहीं निषेध नहीं किया है ।''

''भयंकर ऐसे भवसमुद्र में प्राणियों के समूह को दु:खी देखकर किसी भी प्रकार के भेद बिना श्रावक को द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से अपनी शक्ति के अनुसार अनुकम्पा करनी चाहिए ।''

द्रव्य से अनुकम्पा अर्थात् यथोचित अन्न आदि प्रदान करना और भाव से अनुकम्पा अर्थात् उन्हें धर्ममार्ग में जोड़ना ।

श्रावक का वर्णन करते समय भगवती सूत्र आदि में भी श्रावक के लिए **'अवगुअदुवारा'** विशेषण दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि भिक्षुक आदि के प्रवेश के लिए श्रावक के द्वार सदैव खुले रहते हैं ।

तीर्थंकर भगवन्तों ने भी सांवत्सरिक-दान के द्वारा गरीबों का उद्धार किया है ।

◆ विक्रमादित्य राजा ने भी अपने समय में सभी लोगों को ऋणमुक्त किया था, इसी कारण उसके नाम से संवत्सर चला ।

◆ अकाल आदि के समय में गरीबों को सहायता करने से विशेष फल होता है ।

कहा है– विनय से शिष्य की परीक्षा, युद्ध में सैनिक की परीक्षा, आपत्ति के समय में मित्र की परीक्षा और अकाल के समय में दान की परीक्षा होती है ।

◆ विक्रम संवत् 1315 में भयंकर अकाल पड़ने पर भद्रेश्वरवासी श्रीमालज्ञातीय जगडुशाह ने एक सौ बारह सदाव्रत खुलवाकर दान दिया था ।

``जगडुशाह ने अकाल पड़ने पर हमीर को बारह हजार, बीसलदेव को आठ हजार और बादशाह को इक्कीस हजार मूड़ा (एक माप) अनाज दिया था ।''

अणहिल्लपुर पाटण में सिंघाक नाम का सुनार था । उसके पास हाथी, घोड़े तथा बड़ा महल था । वि.सं. 1429 में उसने आठ मन्दिर बनवाये और अनेक महायात्रायें कीं। ज्योतिष के ज्ञान से भावी अकाल को जानकर उसने दो लाख मण अनाज इकट्ठा कर लिया और उससे प्राप्त धन से उसने चौबीस हजार मण अनाज गरीबों को दान दिया ।

उसने हजारों कैदियों को एवं छप्पन राजाओं को मुक्त किया । जिनमन्दिरों के द्वार खुलवाये और पूज्यश्री जयानन्द सूरि और देवसुन्दर सूरि के चरण-कमलों की स्थापना करायी; ये उसके धर्मकृत्य थे ।

अत:श्रावक को भोजन के समय अवश्य दया करनी चाहिए । गरीब गृहस्थ भी यथोचित भोजन-रसोई बनाता है, जिसमें थोड़ा-बहुत याचकों को भी दिया जा सके । इस प्रकार करने से बहुत खर्च नहीं हो जाता है क्योंकि वे (गरीब याचक) तो थोड़े दान से भी सन्तुष्ट हो जाते हैं । **कहा है**–

``कवल में से गिरे दानों से हाथी को क्या कमी हो जाती है ? परन्तु उन दानों से चीटियों के कुटुम्ब का पालन तो हो जाता है ।''

इस प्रकार निरवद्य आहार तैयार होने पर शुद्ध सुपात्रदान का भी लाभ मिल जाता है ।

माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, बहू, नौकर आदि तथा ग्लान व बँधे हुए गाय आदि के भोजन की व्यवस्था करने के बाद नमस्कार महामंत्र और अपने पच्चक्खाण के नियम के स्मरणपूर्वक सात्त्विक भोजन करना चाहिए । **कहा है**– ``पिता, माता, बालक, गर्भिणी स्त्री, वृद्ध तथा रोगी व्यक्ति को पहले भोजन कराकर फिर उत्तम पुरुषों को स्वयं भोजन करना चाहिए ।'' पशु तथा बन्धनग्रस्त जीवों की भोजन-व्यवस्था होने के बाद ही धर्मज्ञ पुरुष को भोजन करना चाहिए, अन्यथा नहीं ।

49. सात्म्य (सात्त्विक) भोजन

जो आहार-पान आम तौर से विरुद्ध (कुपथ्य) होने पर भी खाने वाले को सुखकारी होता है, उसे सात्म्य कहते हैं । जीवन पर्यन्त प्रमाणोपेत खाया हुआ विष भी अमृत का काम करता है और जैसे-तैसे खाया गया अमृत भी विष बन जाता है ।

प्रमाणोपेत भी पथ्य का ही सेवन करना चाहिए, अपथ्य का नहीं । ``बलवान को सभी पथ्य है''- ऐसा मानकर कालकूट विष नहीं खा लेना चाहिए । विषशास्त्र का ज्ञाता सुशिक्षित होने पर भी कभी विष खा ले तो मरता ही है । **कहा है**– ``गले से नीचे उतर जाने के बाद सभी प्रकार का भोजन समान हो

जाता है । अत:बुद्धिमान पुरुष क्षणभर के सुख के लिए लोलपुता नहीं करते हैं ।''-इस उक्ति से लोलुपता के त्याग द्वारा अभक्ष्य, अनन्तकाय और बहुसावद्य वस्तु का त्याग करना चाहिए ।

भोजन अपनी जठराग्नि (पाचन शक्ति) के अनुसार तथा परिमित करना चाहिए । जो व्यक्ति परिमित भोजन करता है, वास्तव में, वह अधिक भोजन करता है; क्योंकि परिमित भोजन से उसका स्वास्थ्य बना रहता है और वह अधिक समय तक जी सकता है ।

अधिक भोजन करने से अजीर्ण, वमन, दस्त व मृत्यु तक भी हो सकती है । **कहा है**– ``हे जीभ ! खाने और बोलने में अपनी मर्यादा का ध्यान रख । खाने और बोलने में मर्यादा-भंग करने से उसका परिणाम भयंकर होता है ।'' ``हे जीभ ! यदि तुम दोषरहित और परिमित भोजन कर दोषरहित और परिमित बोलोगी तो कर्मरूपी सुभटों के साथ युद्ध करने वाले व्यक्ति की विजय तुम्हारी वजह से होगी ।''

जो मनुष्य हितकारी, परिमित और परिपक्व भोजन करता है और बाँयी ओर शयन करता है, नित्य घूमता-फिरता है, मल-मूत्र का त्याग करता है और स्त्रियों के विषय में अपने मन को जीतने वाला है, वह व्यक्ति रोग पर विजय पाता है ।

भोजन-विधि

एकदम प्रभात समय में, संध्या व रात्रि के समय में भोजन न करें । निन्दा करते हुए भोजन न करें । चलते हुए भोजन न करें । बाँये पैर पर हाथ देकर भोजन न करें और हाथ में लेकर भोजन न करें । खुले आकाश में, धूप में, अंधेरे में तथा वृक्ष के नीचे तथा तर्जनी अंगुली को ऊँची करके भोजन न करें ।

मुँह और वस्त्र को धोये बिना भोजन न करें । नग्न होकर भोजन न करें । मलिन कपड़े पहिनकर भोजन न करें । बाँये हाथ से थाली को ग्रहण करके भोजन न करें ।

बुद्धिमान पुरुष सिर्फ एक वस्त्र पहिनकर भोजन न करें । भीगे वस्त्रों में तथा मस्तक लपेट कर भोजन न करें । अपवित्र शरीर से एवं लोलुपतापूर्वक भोजन न करें । जूते पहिनकर भोजन न करें । व्यग्रचित्त होकर भोजन न करें । केवल जमीन पर बैठकर भोजन न करें । पलंग पर बैठकर भोजन न करें । विदिशा तथा दक्षिण दिशा सम्मुख बैठकर भोजन न करें । तुच्छ आसन पर बैठकर भोजन न करें । आसन पर पैर रखकर, कुत्ते, चाण्डाल व पतित व्यक्ति की दृष्टि जहाँ पड़ती हो, वहाँ बैठकर भोजन न करें । टूटे हुए मलिन भाजन में भोजन न करें ।

गन्दी वस्तु से उत्पन्न भोजन न करें, गर्भ-हत्यारों से देखे हुए भोजन को न करें । रजस्वला स्त्री से स्पर्श किया गया तथा गाय, कुत्ते तथा पक्षी से सूंघा हुआ आहार ग्रहण न करें । अज्ञात वस्तु न खाएँ । जिस वस्तु के आगमन का पता न हो उस वस्तु का भक्षण न करें । पुन:गर्म किया गया भोजन न करें । भोजन करते समय मुख से चप-चप शब्द न करें तथा मुख को विकृत कर भोजन न करें ।

मधुर आमन्त्रण से प्रसन्नचित्त वाले इष्ट देवता के स्मरणपूर्वक भोजन करें । सम, पर्याप्त चौड़े, अति उच्च नहीं हो ऐसे स्थिर आसन पर बैठकर भोजन करें । मौसी, माता, बहिन तथा स्त्री द्वारा आदर से पकाया गया और उन्हीं के द्वारा परोसा हुआ तृप्ति देने वाला पवित्र भोजन अन्य लोगों की अनुपस्थिति में करें । भोजन करते समय मौन रहें । भोजन करते समय शरीर को टेढ़ा न रखें । दाहिना

स्वर बहता हो तब भोजन करें । भोजन की प्रत्येक वस्तु को पहले सूंघ लें क्योंकि इससे दृष्टिदोष की विकृति दूर हो जाती है । अति खारा, अति खट्टा, अति गर्म, अति ठण्डा भोजन न करें । अधिक शाक भी न खायें । अति मीठा न खायें, जो रुचिकर हो, वह भोजन करें ।

अतिशय गर्म वस्तु को खाने से रस का नाश होता है । अत्यन्त खट्टी वस्तु खाने से इन्द्रियों की हानि होती है । अत्यन्त खारी वस्तु खाने से चक्षु को नुकसान होता है और अति स्निग्ध वस्तु खाने से पेट खराब होता है । कड़वे और तिक्त आहार से कफ का, कषैले और मधुर आहार से पित्त का, स्निग्ध और गर्म आहार से वायु का और उपवास से शेष रोगों का नाश होता है । शाक का त्यागी व भोजन के साथ घी खाने वाला, बहुत पानी नहीं पीने वाला, दूध-दही का सेवन करने वाला, अधिक मूत्र करने वाला, द्रव्य न लेने वाला, पक्व भोजन करने वाला, चलते-चलते नहीं खाने वाला तथा पहले किया हुआ भोजन पचने पर खाने वाला नीरोग होता है ।

नीति के ज्ञाता व्यक्ति दुर्जन की मैत्री के समान प्रारम्भ में मधुर, मध्य मे तीखा और उसके बाद कड़वा भोजन चाहते हैं । प्रथम सुस्निग्ध और मधुर रस से युक्त भोजन करना चाहिए, मध्य में अम्ल और लवण रस और अन्त में कटु और तिक्त रस का भोजन करना चाहिए । प्रारम्भ में पतला रस, मध्य में कड़वा रस और अन्त में पुनःजो द्रव पदार्थ खाता है, उसके बल व आरोग्य का नाश नहीं होता है ।

भोजन के प्रारम्भ में जल पीने से अग्नि मन्द होती है, मध्य में जल पीने से वह जल रसायन का काम करता है और भोजन के अन्त में जलपान करने से वह विष का काम करता है । भोजन के अन्त में सर्वरस से लिप्त हाथ से प्रतिदिन जल का एक चुलुक पीना चाहिए । पशु की तरह जल नहीं पीना चाहिए । पीने के बाद बचा हुआ पानी तत्काल फेंक देना चाहिए । अंजलि से भी पानी न पीयें, परन्तु परिमित पानी ही हितकारी है ।

भोजन करने के बाद अपने भीगे हाथ से गाल, बायें हाथ और नेत्र का स्पर्श न करें, बल्कि लाभ के लिए दोनों घुटनों का स्पर्श करना चाहिए । स्नान करने के बाद कुछ समय तक अंगमर्दन, मलमूत्र का त्याग, भार उठाना, बैठना तथा स्नान आदि नहीं करना चाहिए । भोजन के बाद बैठे रहने से मेद बढ़ता है । बाँयी ओर सोने से आयुष्य बढ़ता है और दौड़ने से मृत्यु सामने आती है ।

भोजन के बाद दो घड़ी तक बाँयी करवट लेटना चाहिए, परन्तु नींद नहीं लेनी चाहिए अथवा सौ कदम चलना चाहिए ।

आगमोक्त भोजन-विधि

सुश्रावक निरवद्य आहार, अचित्त तथा प्रत्येक मिश्र द्वारा अपना निर्वाह करने वाले होते हैं । सर-सर या चप-चप आवाज किये बिना, बहुत धीमे भी नहीं और बहुत जल्दी भी नहीं, दाने को नीचे गिराये बिना मन, वचन और काया की गुप्तिपूर्वक साधु की तरह उपयोगपूर्वक भोजन करना चाहिए । अकेला हो तो प्रतरछेद, कटकछेद या सिंहखदित से भोजन करना चाहिए । अनेक हों यानी मंडली में भोजन करने वाले को कटकछेद के सिवाय दो रीति से भोजन करना चाहिए । एक बाजू से भोजन करना चालू करके पूर्ण हो तब तक उसी ओर से करता रहे उसे कटकछेद कहते हैं । पहले ऊपर की परत खायें, फिर उसके नीचे की, फिर उसके नीचे की, उसे प्रतरछेद कहते हैं । जहाँ से खाना शुरू किया हो वहीं

पूर्ण हो तो उसे सिंहखदित कहते हैं । धूम और अंगार दोष का त्याग करते हुए भोजन करना चाहिए ।

जिस प्रकार बैलगाड़ी को चलाने के लिए उसकी धुराओं में परिमित तेल लगाया जाता है तथा व्यक्ति के चोट लगने पर परिमित लेप लगाया जाता है, उसी प्रकार केवल संयम के भार को वहन करने के लिए साधु का परिमित आहार होता है ।

गृहस्थों द्वारा अपने लिए तैयार किया गया जो भी तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर तथा खारा भोजन होता है, उस भोजन को साधु मधुर घृत की तरह खाये । अथवा रोग आने पर, मोह का उदय होने पर, स्वजन आदि की ओर से उपसर्ग होने पर, जीवदया के लिए, तप के लिए तथा शरीर का त्याग करने के लिए आहार का त्याग करना चाहिए ।- ये बातें साधु को उद्देशित कर कही गयी हैं । श्रावक को भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए ।

अन्यत्र भी कहा है– ``शक्ति हो तो विवेकी पुरुषों को देव, साधु, नगरस्वामी तथा स्वजन के संकट में तथा सूर्य-चन्द्र के ग्रहण के समय भोजन नहीं करना चाहिए ।

सभी प्रकार के रोग अजीर्ण से उत्पन्न होते हैं । अत: अजीर्ण दशा में भोजन का त्याग करना चाहिए । **कहा है**– वायु, श्रम, क्रोध, शोक, काम या घाव के कारण बुखार न हो तो बल में रुकावट डालने वाला होते हुए भी बुखार की आदि में लंघन ही करना हितकारी है । अत:ज्वर तथा आँख के रोग आदि में, देव और गुरु के वन्दन का योग नहीं होने पर, तीर्थ तथा गुरु को नमस्कार के समय, विशेष धर्म का स्वीकार करते समय, महान् पुण्यकार्य को प्रारम्भ करने के दिन तथा अष्टमी-चतुर्दशी आदि विशेष पर्व में भोजन का त्याग करना चाहिए ।

मासक्षमण आदि तप इस लोक, परलोक, उभयलोक में गुणकारी हैं । **कहा है**– तप से अस्थिर कार्य भी स्थिर, वक्र भी सरल तथा असाध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाता है ।

वासुदेव तथा चक्रवर्ती आदि के भी (उन-उन देवताओं को सेवक बनाने के लिए) इस लोक के कार्य अट्ठम आदि तप से ही सिद्ध होते हैं, उनके बिना सिद्ध नहीं होते हैं ।

।। भोजन-विधि समाप्त ।।

श्रावक भोजन करने के बाद नवकार के स्मरणपूर्वक खड़ा हो और यथायोग्य देव व गुरु को चैत्यवन्दन द्वारा वन्दन करे ।

भोजन के बाद दिवसचरिम अथवा ग्रंथी सहित आदि पच्चक्खाण, गुरु आदि को दो वांदणा देकर अथवा उसके बिना ग्रहण करे । तत्पश्चात् गीतार्थ मुनि के पास अथवा गीतार्थ श्रावक, सिद्धपुत्र आदि के पास वाचना, पृच्छना, परावर्तना, धर्मकथा और अनुप्रेक्षा लक्षण रूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय करे ।

1) निर्जरा के लिए यथोचित सूत्र को देना अथवा ग्रहण करना **वाचना** कहलाता है ।
2) वाचना में शंका होने पर गुरु को पृच्छा करना **पृच्छना** कहलाता है ।
3) पूर्व में याद किये गये सूत्र आदि की स्मृति के लिए पुन:पुन: याद करना, उसे **परावर्तना** कहते हैं ।
4) जंबु स्वामी आदि स्थविर के चरित्र को सुनना व कहना-उसे **धर्मकथा** कहते हैं ।
5) मन से ही सूत्र आदि का अनुस्मरण करना-उसे **अनुप्रेक्षा** कहते हैं ।

योगशास्त्र की उक्ति के अनुसार उन-उन शास्त्रों के रहस्यों के जानकार पुरुषों के साथ शास्त्र के रहस्यों की विचारणा करनी चाहिए इसलिए श्रीगुरुमुख से सुने हुए शास्त्र के रहस्यों के परिशीलन रूप स्वाध्याय को विशेष कृत्य के रूप में समझना चाहिए । उससे अनेक फायदे होते हैं । **कहा है**– ``स्वाध्याय से प्रशस्त ध्यान होता है, सर्वपरमार्थ का ज्ञान होता है, स्वाध्याय करने से प्रतिक्षण वैराग्य उत्पन्न होता है ।''

पाँच प्रकार के स्वाध्याय के दृष्टान्त ग्रन्थकार ने **आचारप्रदीप ग्रन्थ** में निर्दिष्ट किये होने से यहाँ नहीं कहे हैं ।

50. संध्या कृत्य

संध्या के समय पुन:जिनपूजा, प्रतिक्रमण तथा विधिपूर्वक मुनियों की भक्ति कर स्वाध्याय करें और घर जाकर स्वजनों को धर्म का उपदेश कहें ।

उत्सर्ग से तो श्रावक को एक ही बार भोजन करना चाहिए । **कहा है**– ``उत्सर्ग से श्रावक सचित्त का त्याग करने वाला, एक ही बार भोजन करने वाला और ब्रह्मचारी होता है ।''

जो एकाशना करने में सक्षम न हो उसे कम-से-कम प्रात:काल सूर्योदय के दो घड़ी बाद और शाम को सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व इस अवधि के बीच भोजन कर लेना चाहिए । शाम को सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व भोजन न करे तो रात्रिभोजन गिना जाता है ।

सूर्योदय के पूर्व व रात्रि में भोजन करने के अनेक दोष हैं, वे दृष्टान्त सहित ग्रन्थकार की **'अर्थदीपिका'** कृति से समझ लें ।

शाम को भोजन करने के बाद पुन:सूर्योदय न हो तब तक यथाशक्ति चौविहार, तिविहार अथवा दुविहार- दिवसचरिम का पच्चक्खाण करे । ये पच्चक्खाण मुख्यतया सूर्यास्त के पूर्व दिन में ही ले लेने चाहिए, दिन में न लिये हों तो रात्रि में भी ले सकते हैं ।

शंका–दिवसचरिम पच्चक्खाण निष्फल है, क्योंकि एकाशन आदि ही में उनका समावेश हो जाता है ।

समाधान–नहीं ! एकाशन आदि के आठ आगार (अपवाद) हैं और इसके तो चार ही आगार हैं । अत:आगार का संक्षिप्तीकरण होने से दिवसचरिम पच्चक्खाण सार्थक ही है ।

रात्रिभोजन के त्यागी द्वारा भी दिन शेष रहने पर यह पच्चक्खाण किया जाता है इसलिए पहले किये गये रात्रिभोजन-निषेध के पच्चक्खाण की स्मृति कराने वाला होने के कारण यह पच्चक्खाण सुकर और फलदायी है; इस प्रकार आवश्यक की लघुवृत्ति में कहा है ।

एड़काक्ष का दृष्टान्त

दशार्णपुर नगर में एक श्राविका शाम को भोजन कर प्रतिदिन दिवसचरिम पच्चक्खाण करती थी । उसका पति मिथ्यादृष्टि था अत: ``शाम को भोजन कर यह रात्रि में खाती नहीं है, इस प्रकार बड़ा

पच्चक्खाण करती है ।'' इस प्रकार कहकर उसकी मजाक करता था ।

एक बार ``तुम तोड़ दोगे'' इस प्रकार पत्नी के कहने पर भी उसने दिवसचरिम पच्चक्खाण ग्रहण किया ।

रात्रि में एक सम्यग्दृष्टि देवी उसकी परीक्षा के लिए तथा शिक्षा देने के लिए उसकी बहिन का रूप करके आई और उसे घेवर आदि की सीरनी देने लगी । पत्नी के निषेध करने पर भी लोलुपता से वह घेवर खाने लगा तभी देवी ने उसके मस्तक पर इस प्रकार प्रहार किया कि उसकी आँखे बाहर निकलकर भूमि पर गिर पड़ीं ।

'मेरा अपयश होगा'-ऐसा जानकर वह श्राविका कायोत्सर्ग में स्थिर हो गयी । उसकी वाणी से देवी ने मर रहे बकरे की आँखें लाकर उसे लगा दीं, जिससे वह **'एड़काक्ष'** नाम से प्रख्यात हुआ ।

प्रत्यक्ष फल दिखने से वह श्रावक बना । कौतुक से लोग उसे देखने के लिए आते, फिर उसके नाम से वह नगर भी एड़काक्ष नाम से प्रसिद्ध हो गया । उसे देखकर बहुत से पुरुष श्रावक बने ।

इस प्रकार दिवसचरिम में एड़काक्ष का यह दृष्टान्त है ।

संध्या समय दो घड़ी दिन बाकी रहने पर, सूर्य का बिम्ब आधा अस्त होने के पूर्व पुनःतीसरी बार यथाविधि जिनपूजा करें ।

द्वितीय-प्रकाश रात्रि-कृत्य

दिनकृत्य कहने के बाद अब रात्रिकृत्य कहते हैं । संध्या के बाद श्रावक, साधु भगवन्त के पास अथवा पौषधशाला में जाकर यतनापूर्वक प्रमार्जन करके विधिपूर्वक सामायिक लेकर षट् आवश्यक स्वरूप प्रतिक्रमण करता है । स्थापनाचार्य की स्थापना, मुहपत्ती, रजोहरण (चरवला) आदि धर्म के उपकरण के ग्रहणपूर्वक सामायिक करनी चाहिए । इस सम्बन्धी विधि **'श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र'** की टीका में कही है, इसलिए यहाँ नहीं कही गयी है ।

सम्यक्त्व आदि के सर्व अतिचारों की विशुद्धि के लिए तथा अभ्यास के लिए प्रतिदिन उभयकाल (सुबह शाम) प्रतिक्रमण करना चाहिए । भद्रक स्वभाव वाले श्रावक को अतिचार नहीं लगने पर भी तीसरी औषध के समान हितकारी होने से यह प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए । **कहा भी है**–``प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में सप्रतिक्रमण धर्म है और मध्य के तीर्थंकरों के शासन में अतिचार (दोष) लगने पर ही प्रतिक्रमण करने का विधान है ।'' अर्थात् बाईस तीर्थंकरों के शासन में, अतिचार न लगे तो पूर्वकोटि वर्ष तक भी प्रतिक्रमण नहीं करते हैं और अतिचार लग जाय तो मध्याह्न में भी कर लेते हैं ।

तीन प्रकार की औषधियाँ– (1) व्याधि हो तो व्याधि को दूर करती है और न हो तो नयी व्याधि पैदा करती है ।

(2) दूसरी औषध–व्याधि हो तो व्याधि को शान्त करती है और न हो तो कुछ भी नुकसान नहीं करती है ।

(3) तीसरी औषधि-व्याधि हो तो व्याधि को नष्ट करती है और न हो तो शरीर को पुष्ट करती है, सुखवृद्धि का हेतु है और भावी व्याधि को अटकाती है ।

इसी प्रकार प्रतिक्रमण भी तीसरी औषध की तरह अतिचारों को दूर करता है और अतिचार के अभाव में चारित्र धर्म को पुष्ट करता है ।

प्रश्न :- किसी का प्रश्न है–आवश्यक चूर्णि में बतायी हुई सामायिक की विधि ही श्रावक का प्रतिक्रमण है । क्योंकि उभय काल अवश्य करणीय छह आवश्यकों का इसी में समावेश होता है । जैसे–सामायिक करके ईरियावहिय प्रतिक्रमण कर कायोत्सर्ग करता है और चतुर्विंशति-स्तव बोल कर वाँदना देकर श्रावक पच्चक्खाण करता है । ''सामायिक उभय काल करनी चाहिए ।''– इस पाठ से उसकी कालिक मर्यादा भी सिद्ध हो जाती है ।

उत्तर :- यह कथन बराबर नहीं है । सामायिक की विधि में छह आवश्यक और कालमर्यादा सिद्ध नहीं होती है । वहाँ आपके अभिप्राय से भी चूर्णिकार ने सामायिक, ऐर्यापथिकी प्रतिक्रमण और वन्दन ही साक्षात् बतलाये हैं, शेष नहीं । वहाँ ऐर्यापथिकी प्रतिक्रमण जाने-आने विषयक हैं न कि आवश्यक के चौथे अध्ययन स्वरूप !

कहा है– ``गमनागमन, विहार, सूत्र के आरम्भ में रात्रि में, स्वप्न देखने पर, नाव में बैठने पर तथा नदी पार करने पर ईरियावहीय-प्रतिक्रमण करना चाहिए ।'' इसके अनुसार उपर्युक्त ईरियावही गमनविषयक है ।

साधु के अनुसार श्रावक को ईरियावहिय प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग और चउविसत्थो भी बताये जाते हैं, तो उसी के अनुसार प्रतिक्रमण भी क्यों नहीं बताया जाता ? यानी जैसे साधु के अनुसार श्रावक के लिए कायोत्सर्ग और **'चउविसत्थो'** माने गये हैं वैसे ही प्रतिक्रमण भी मानना चाहिए । तथा ``साधु का योग न हो तो चैत्य सम्बन्धी पौषधशाला में अथवा अपने घर पर सामायिक अथवा आवश्यक करें''– इस प्रकार आवश्यकचूर्णि में भी सामायिक से (प्रतिक्रमण) आवश्यक को अलग कहा गया है । सामायिक के लिए काल का नियमन नहीं है ।

``जहाँ विश्राम लेता है अथवा निर्व्यापार रहता है, वहाँ सर्वत्र सामायिक करता है ।'' ``जब अवसर हाथ लगे तब सामायिक करे, ताकि सामायिक भंग नहीं होगी ।''– ये भी चूर्णि के ही प्रमाणभूत वचन हैं । ``सामायिक उभय काल करें''– यह वचन सामायिक प्रतिमा की अपेक्षा कहा गया है । वहीं पर कालमर्यादा सुनी जाती है ।

अनुयोगद्वार सूत्र में श्रावक को भी प्रगट रूप से प्रतिक्रमण कहा गया है । जैसे–``श्रमण अथवा श्रमणी, श्रावक अथवा श्राविका प्रतिक्रमण में अपने चित्त मन लेश्या अध्यवसाय तथा तीव्र अध्यवसाय को लगाकर अर्थ के उपयोगपूर्वक, इन्द्रियों को आवश्यक में तल्लीन कर अथवा चरवला आदि उपकरणों के प्रतिक्रमण में यथास्थान उपयोगपूर्वक तथा प्रतिक्रमण की ही भावना से भावित होकर उभयकाल आवश्यक करते हैं ।'' उसी सूत्र में कहा है– ``साधु व श्रावक को दिन व रात्रि के अन्त में अवश्य करने योग्य होने से प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा गया है ।''

अतः साधु की तरह श्रावक को भी सुधर्मा स्वामी आदि पूर्वाचार्यों की परम्परा से आया हुआ प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए । दिन और रात्रि के पापों की विशुद्धि में हेतुभूत होने से महाफलदायी होने से उभयकाल प्रतिक्रमण करना चाहिए ।

ग्रन्थकार ने कहा भी है– ``पाप को निकालने वाला, भावशत्रुओं को नष्ट करने वाला, पुण्य और निर्जरा कराने वाला तथा मुक्ति की ओर गति कराने वाला प्रतिक्रमण प्रतिदिन दो बार करना चाहिए ।

प्रतिक्रमण नहीं छोडा !

दिल्ली में एक श्रावक रहता था, जिसको उभयकाल प्रतिक्रमण का अभिग्रह था । किसी राज-व्यापार में गड़बड़ हो जाने से सभी अंगों में बेड़ियाँ डालकर उसे कारागृह में बन्दी बना दिया गया ।

उस दिन लंघन (उपवास) होने पर भी सायंकाल प्रतिक्रमण करने के लिए उसने रक्षकों को सोने का टंक देना स्वीकार किया और दो घड़ी तक हाथ की बेड़ियों से मुक्त बना और उसने प्रतिक्रमण किया । इस प्रकार एक माह तक सिर्फ प्रतिक्रमण के लिए ही उसने साठ स्वर्ण टंक दिये । उसके नियम की दृढ़ता देखकर खुश होकर राजा ने उसे मुक्त कर दिया और उसे भेंट देकर पूर्व की अपेक्षा अधिक सम्मान किया । इस प्रकार प्रतिक्रमण के विषय में यतना करनी चाहिए ।

51. प्रतिक्रमण के पाँच भेद

(1) दैवसिक (2) रात्रिक (3) पाक्षिक (4) चातुर्मासिक और (5) सांवत्सरिक ।

इनका काल उत्सर्ग से इस प्रकार कहा गया है–

(1) सूर्य आधा डूब जाय तब गीतार्थ सूत्र (सामायिक सूत्र) कहते हैं । इस वचन प्रमाण से दैवसिक प्रतिक्रमण का काल समझना चाहिए ।

(2) रात्रिप्रतिक्रमण का समय–आवश्यक का समय होने पर आचार्य निद्रा का त्याग करते हैं तथा उस प्रकार आवश्यक (प्रतिक्रमण) करते हैं कि जिस प्रकार दश पड़िलेहन के समय सूर्योदय हो जाय ।

अपवाद से दैवसिक प्रतिक्रमण दिन के तीसरे प्रहर के बाद से अर्धरात्रि तक कर सकते हैं । योगशास्त्र की टीका में तो मध्याह्न से लेकर अर्द्धरात्रि तक कहा है । रात्रिक प्रतिक्रमण का समय अर्धरात्रि से लेकर मध्याह्न तक है । कहा भी है– ``आवश्यकचूर्णि के अभिप्राय अनुसार `राई प्रतिक्रमण' का काल उग्घाड़ पोरिसी तक है और व्यवहारसूत्र के अनुसार पुरिमड्ढ तक है ।''

पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण पक्ष आदि के अन्त में होता है ।

प्रश्न :- ***पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी को करें या पूर्णिमा/अमावस्या को ?***

उत्तर :- चतुर्दशी को करें । यदि पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण करने का होता तो चतुर्दशी और पक्खी के दिन उपवास करने की विधि होने से पाक्षिक प्रतिक्रमण निमित्त छट्ठ करने का विधान होता । इससे आगम-विरोध भी होता, क्योंकि सांवत्सरिक, चातुर्मासिक और पाक्षिक की आलोचना में क्रमशः अट्ठम, छट्ठ और उपवास का विधान है ।

जहाँ चतुर्दशी का ग्रहण किया है वहाँ अलग से पाक्षिक का और जहाँ पाक्षिक का ग्रहण किया है, वहाँ चतुर्दशी का अलग से ग्रहण नहीं किया है ।

पाक्षिक चूर्णि में अष्टमी व चतुर्दशी को उपवास करने का कहा गया है– **आवश्यक चूर्णि** में कहा है– ``वे अष्टमी-चतुर्दशी में उपवास करते हैं ।''

व्यवहारभाष्य पीठ में कहा गया है– ``अष्टमी, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक में उपवास, छट्ठ व अट्ठम करें ।''

महानिशीथ में कहा है– ``अष्टमी, चतुर्दशी, ज्ञानपंचमी और चातुर्मासिक के दिन...!''

व्यवहारसूत्र के छठे उद्देशक में **'पक्खस्स अट्ठमी...'** इत्यादि की व्याख्या में वृत्तिचूर्णि में पाक्षिक शब्द से चतुर्दशी ही ली गयी है । ...इससे निश्चित हो जाता है कि चतुर्दशी को ही पक्खी प्रतिक्रमण करना चाहिए ।''

चातुर्मासिक व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण पहले पूर्णिमा व पंचमी को करते थे, परन्तु श्री कालिकाचार्य के बाद चतुर्दशी और चतुर्थी को किया जाता है । सर्व-सम्मत होने से यह प्रामाणिक है ।

कल्पभाष्य में कहा है– ``किसी समय किसी आचार्य द्वारा अशठता से जो कुछ भी निरवद्य आचरण किया गया हो और दूसरे आचार्यों ने उसका प्रतिषेध नहीं किया हो और वह बहुतों के द्वारा सम्मत हो तो वह आचरित कहलाता है ।''

'तीर्थोद्गार' नाम के ग्रन्थ में भी कहा है– ``शालिवाहन राजा ने संघ के आदेश से कालिकाचार्य के पास चतुर्दशी के दिन चातुर्मासिक और चतुर्थी के दिन संवत्सरी कराई थी । वीरनिर्वाण के 993 वें वर्ष में चतुर्विधसंघ ने (पक्खी) चतुर्दशी के दिन चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया था और वह आचरण प्रमाणभूत है ।''

इस संदर्भ में विशेष जिज्ञासा हो तो पूज्य श्री कुलमंडन सूरिजी द्वारा विरचित **'विचार अमृतसंग्रह'** ग्रन्थ देखना चाहिए ।

दैवसिक प्रतिक्रमण विधि

'योगशास्त्र' की टीका के अन्तर्गत चिरन्तन आचार्य के द्वारा प्रणीत इन गाथाओं से प्रतिक्रमण की विधि समझनी चाहिए ।

पाँच प्रकार के आचारों की शुद्धि के लिए साधु अथवा श्रावक को गुरु के साथ और गुरु के विरह में अकेले भी प्रतिक्रमण करना चाहिए ।

चैत्यवन्दन करके **'भगवानहं'** इत्यादि चार खमासमण देकर भूमि पर मस्तक स्थापित कर सकल अतिचारों का **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** देना चाहिए ।

सामायिक (करेमि भंते) पूर्वक **'इच्छामि ठामि काउसग्गं'** बोलकर भुजा को लम्बी रख कर कोहनी से पहने हुए वस्त्र को धारण करके घोटक आदि दोषों से रहित कायोत्सर्ग करना चाहिए । उस समय नाभि से नीचे तथा जानु से चार अंगुल ऊँचा कटिवस्त्र धारण करना चाहिए ।

कायोत्सर्ग में यथाक्रम से दिनकृत अतिचारों को हृदय में धारण करना चाहिए और कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर **'नमो अरिहंताणं'** बोलकर चतुर्विंशति स्तव पढ़ना चाहिए ।

उसके बाद संडासकों का प्रमार्जन कर दूसरी जगह अपने दोनों हाथों को न लगाते हुए नीचे बैठकर भुजाओं को संकुचित कर मुहपत्ती तथा काया की पच्चीस-पच्चीस बोल से प्रतिलेखना करनी चाहिए । फिर खड़े होकर विनयसहित उत्कटासन से बैठकर विधिपूर्वक गुरु को वन्दन करना चाहिए । वन्दन बत्तीस दोष से रहित और पच्चीस आवश्यक की विशुद्धिपूर्वक करना चाहिए । उसके बाद अवनत होकर हाथ में रजोहरण (चरवला) व मुहपत्ती को धारण कर अतिचारों का चिन्तन करके यथानुक्रम गुरु-सम्मुख प्रगट रूप से अतिचार कहने चाहिए ।

उसके बाद नीचे बैठकर सामायिक (करेमि भंते) इत्यादि पाठ प्रगट रूप से कहना चाहिए । फिर **'अब्भुट्ठिओमि...'** इत्यादि पाठ द्रव्य एवं भाव से खड़े रहकर विधिपूर्वक कहना चाहिए ।

फिर वांदणा देकर पाँच आदि साधु हों तो तीन बार वन्दन कर **'आयरिय उवज्झाए'** इत्यादि तीन गाथा पढ़नी चाहिए ।

फिर करेमि भंते और इच्छामि ठामि .....बोलकर चारित्राचार की शुद्धि के लिए दो लोगस्स का कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

कायोत्सर्ग पूर्ण कर सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए **'लोगस्स'** सूत्र पढ़ना चाहिए । फिर `सव्वलोए अरिहंत.....' कहकर सर्वलोक में रहे अरिहंत-चैत्यों की आराधना के लिए एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

उसके बाद शुद्ध सम्यक्त्वधारी होकर श्रुत-विशुद्धि के लिए ``पुक्खरवरदीवड्ढे'' सूत्र बोलना चाहिए और पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग पूर्ण कर समस्त कुशल क्रिया के फल को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों की स्तुति रूप **'सिद्धस्तव'** (सिद्धाणं बुद्धाणं) पढ़ना चाहिए । उसके बाद श्रुत की समृद्धि के लिए श्रुतदेवी का एक नवकार का कायोत्सर्ग करें और उसके बाद श्रुतदेवी की स्तुति सुनें अथवा बोलें ।

उसके बाद इसी प्रकार क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग कर स्तुति स्वयं कहें अथवा सुनें । उसके बाद नवकारमंत्र पढ़कर संडासकों का प्रमार्जन करके नीचे बैठकर पूर्वविधि से ही मुहपत्ती का पड़िलेहन कर वांदणा देकर ``इच्छामो अणुसट्ठिं'' कहकर घुटने को ऊँचा कर गुरु के द्वारा स्तुति कही जाने पर वर्धमान अक्षरों से और उच्च स्वर से **'नमोस्तु वर्धमानाय'** की तीन गाथा पढ़ें । उसके बाद `नमो-त्थुणं....' कहकर प्रायश्चित्त के लिए कायोत्सर्ग करें ।

राई-प्रतिक्रमण विधि

राई-प्रतिक्रमण की विधि भी उपर्युक्त प्रकार से है, उसमें जो फर्क है, वह बतलाते हैं । प्रथम **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** देकर शक्रस्तव कहना चाहिए । फिर खड़े होकर विधिपूर्वक एक **'लोगस्स'** का कायोत्सर्ग करना चाहिए । उसके बाद दर्शनशुद्धि के लिए पुनः एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

तीसरे कायोत्सर्ग में रात्रि सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए । उसके बाद `सिद्ध-स्तव' कहकर संडासकों का प्रमार्जन कर नीचे बैठना, फिर पूर्व के जैसे मुहपत्ती का पलेड़िहन कर वांदणे देने । फिर **'राइयं आलोचेउं'** यह सूत्र पढ़कर प्रतिक्रमण सूत्र पढ़ें । उसके बाद वांदणा, खामणा और वांदणा देकर तीन गाथा कहकर कायोत्सर्ग करना चाहिए । उस कायोत्सर्ग में इस प्रकार चिन्तन करें- ``जिस प्रकार मेरे संयमयोगों की हानि न हो उस प्रकार तपश्चर्या अंगीकार करूंगा ।'' जैसे कि छहमास तप की शक्ति है ? परिणाम है ? शक्ति नहीं परिणाम नहीं, इस तरह चिन्तन करें । फिर एक से लेकर कम करें, यावत् उनतीस तक, ऐसा करते हुए सामर्थ्य नहीं, ऐसा चिन्तन करें । यावत् पंचमासी तप की भी शक्ति नहीं । उसमें भी एक-एक कम करते हुए, यावत् चार मास तक, तीन मास तक, दो मास तक और फिर एक मास तप की भी शक्ति नहीं, यह चिन्तन करें । उस एक मास में से भी तेरह दिन कम करके फिर चौंतीस भत्तु में से भी दो-दो भक्त कम करते हुए उपवास, आयम्बिल, एकासना, बियासणा.....और क्रमशः साढ़पोरिसी, पोरिसी.....नवकारसी का चिन्तन करना चाहिए ।

जिस तप की शक्ति हो उसे हृदय में धारण करना चाहिए.....फिर कायोत्सर्ग पूर्ण कर मुहपत्ती पड़िलेहन करनी चाहिए- फिर वांदणा देकर, जिस तप का संकल्प किया हो उसका विधि-पूर्वक पच्चक्खाण लेना चाहिए ।

फिर `इच्छामो अणुसट्ठिं' कहकर नीचे बैठकर तीन स्तुति पढ़नी चाहिए.... तत्पश्चात् मृदु स्वर से `नमोत्थुणं' कहकर चैत्यवन्दन करना चाहिए ।

पक्खी प्रतिक्रमण की विधि

चतुर्दशी के दिन पक्खी प्रतिक्रमण करने का होता है, उसमें प्रथम **'देवसी प्रतिक्रमण सूत्र'** तक विधि करने के बाद इस क्रम से करना चाहिए ।

प्रथम मुहपत्ती पड़िलेहन कर वांदणा देकर **'संबुद्धा खामणा'** करना चाहिए, फिर अतिचारों की आलोचना कर वांदणा तथा **'प्रत्येक खामणा'** कर वांदणा देकर **'पक्खीसूत्र'** पढ़ना चाहिए ।

फिर `प्रतिक्रमण सूत्र' कहकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करें । उसके बाद मुहपत्ती पड़िलेहन कर वांदणा देकर अन्तिम खामणा करें और चार थोभ वन्दना करें ।

उसके बाद पूर्वोक्त विधि अनुसार दैवसिक वन्दनादि करें । श्रुतदेवता के बजाय भुवनदेवता का कायोत्सर्ग करें और स्तवन में अजितशान्ति कहें ।

चातुर्मासिक व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण विधि

चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि पक्खीप्रतिक्रमण के समान ही समझनी चाहिए । उसमें फर्क इतना ही है कि पक्खी के स्थान पर **'चउमासी'** और **'संवत्सरी'** का पाठ बोलना चाहिए तथा पक्खी के कायोत्सर्ग में बारह लोगस्स, चउमासी के कायोत्सर्ग में बीस लोगस्स और संवत्सरी के कायोत्सर्ग में चालीस लोगस्स और ऊपर एक नवकार का कायोत्सर्ग करना चाहिए । पक्खी, चउमासी और संवत्सरी में क्रमशःतीन, पाँच, और सात साधुओं को **'संबुद्धा खामणा'** आदि करना चाहिए ।

हरिभद्रसूरि कृत **आवश्यक वृत्ति** में वंदन निर्युक्ति की **'चत्तारि पडिक्कमणे'** गाथा की व्याख्या करते समय **'संबुद्धा खामणा'** के विषय में कहा है कि- दैवसिक प्रतिक्रमण में जघन्य से तीन, पक्खी में पाँच और चउमासी व संवत्सरी में सात साधुओं को खामणा करना चाहिए। **पाक्षिक सूत्रवृत्ति** तथा **प्रवचनसारोद्धार** की वृत्ति में कही वृद्धसामाचारी में भी यही बात कही गयी है।

प्रतिक्रमण के अनुक्रम का विचार पूज्य श्री जयचन्द्रसूरि कृत ग्रन्थ से समझ लेना चाहिए।

52. गुरु-सेवा

आशातना के त्यागपूर्वक तथा विधिपूर्वक मुनि भगवन्तों की तथा विशिष्ट धर्मिष्ठ साधर्मिक की विश्रामणा (सेवा) करनी चाहिए। उनकी शारीरिक सुखसाता तथा संयम-यात्रा के बारे में कुशल-पृच्छा चाहिए।

पूर्वभव में पाँच सौ साधुओं की सेवाभक्ति करने से बाहुबली जी को चक्रवर्ती से भी अधिक बल की प्राप्ति हुई थी, इससे सेवा का फल ख्याल में आ सकता है।

'संबाहणं दंतपहोअणा य' इस वचन से आगम-निषिद्ध होने से उत्सर्ग मार्ग से तो साधु किसी के पास अपनी सेवा न कराये। अपवाद के रूप में जरूरत पड़े तो प्रथम साधु के पास कराये और साधु न हो तो श्रावक के पास भी करा सकते हैं।

यद्यपि मुख्यतया गुरु भगवन्त सेवा नहीं कराते हैं फिर भी अपने परिणाम की विशुद्धि से उसके लिए खमासमण देने से निर्जरालाभ व विनय का लाभ मिलता है।

स्वाध्याय

उसके बाद अपनी बुद्धि के अनुसार पहले पढ़े हुए दिनकृत्य आदि श्रावक विधि तथा उपदेश-माला, कर्मग्रन्थ आदि का पुनरावर्तन अथवा शीलांगरथ की गाथा अथवा नवकार वलक गिनने आदि रूप स्वाध्याय चित्त की एकाग्रता के लिए अवश्य करना चाहिए।

53. शीलांगरथ का स्वरूप

1) **तीन करण** – करण, करावण, अनुमोदन = 3

2) **तीन योग** – मन, वचन और काया 3 x 3 = 9

3) **चार संज्ञा** – आहार, भय, परिग्रह, मैथुन 9 x 4 = 36

4) **पाँच इन्द्रियाँ** – कान, आँख, नाक, जीभ, स्पर्श 36 x 5 = 180

5) **भूमि आदि 10** – पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, अजीवकाय 180 x 10 = 1800

6) **दस यतिधर्म** – क्षमा, मार्दव, आर्जव, त्याग, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य ब्रह्मचर्य 1800 x 10 = 18000

इस प्रकार शीलांग के 18000 भांगे होते हैं । उसका पाठ इस प्रकार समझना चाहिए-

आहार संज्ञा व श्रोत्रेन्द्रिय को जीतने वाले क्षमायुक्त जो मुनि मन से पृथ्वीकाय का आरम्भ नहीं करते हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ । इत्यादि ।

श्रमण धर्मरथ का पाठ–

आहार संज्ञा तथा श्रोत्रेन्द्रिय को वश में करने वाले, क्षमासम्पन्न साधु मन से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते हैं ।

इस प्रकार सामाचारीरथ, क्षामणारथ, नियमरथ, आलोचनारथ, तपोरथ, संसाररथ, धर्मरथ और संयमरथ के पाठ भी समझने चाहिए । विस्तार-भय से यहाँ नहीं कहे गये हैं ।

आनुपूर्वी आदि

नवकार वलक में पाँच पदों की अपेक्षा एक पूर्वानुपूर्वी, एक पश्चानुपूर्वी और 118 अनानुपूर्वी होती हैं ।

नवकार के नौ पदों की अपेक्षा अनानुपूर्वी की संख्या तीन लाख बासठ हजार आठ सौ और अठत्तर होती है ।

अनानुपूर्वी आदि के संदर्भ में विस्तृत जानकारी पूज्य **श्री जिनकीर्ति सूरि विरचित 'श्रीपंचपरमेष्ठि-स्तव'** से समझनी चाहिए ।

इस प्रकार नवकार गिनने से दुष्ट शाकिनी, व्यन्तर, वैरी, ग्रह, महारोग आदि का शीघ्र नाश होता है और परलोक की अपेक्षा अनन्त कर्मों का क्षय होता है । **कहा है**–

``छह मास अथवा एक वर्ष के तीव्र तप से जो निर्जरा होती है, उतनी निर्जरा नवकार की अनानुपूर्वी गिनने से अर्धक्षण में हो जाती है ।''

शीलांगरथ आदि गिनने से भी मन, वचन और काया की एकाग्रता होती है और उससे त्रिविध ध्यान होता है । आगम में भी कहा है- ``भांगिक श्रुत गिनने से साधक त्रिविध ध्यान में रहता है ।''

इस प्रकार स्वाध्याय करने से, धर्मदास की तरह स्वयं का कर्मक्षय और दूसरे को प्रतिबोध आदि अनेक गुण प्राप्त होते हैं ।

धर्मदास

धर्मदास प्रतिदिन सायंकाल प्रतिक्रमण करके स्वाध्याय करता था । उसके पिता सुश्रावक होने पर भी स्वभाव से क्रोधी थे । एक बार धर्मदास ने अपने पिता को क्रोधत्याग के लिए उपदेश दिया, जिसे सुनकर वे कुपित हो गये और मारने के लिए काष्ठ उठाकर दौड़ते हुए, स्तम्भ से टकराने के कारण मरकर साँप बन गये ।

एक बार अंधेरे में वह सर्प धर्मदास को काटने के लिए आ रहा था । उस समय धर्मदास स्वाध्याय में था- ``क्रोधी व्यक्ति करोड़ों वर्षों में किये गये सुकृत (पुण्य) को भी मुहूर्त मात्र में हार जाता है और दोनों भवों में दुःखी होता है ।'' यह बात सुनते ही उस साँप को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । उसके

बाद अनशन करके वह मरकर सौधर्म देवलोक में देव बना और अपने पुत्र के सर्वकार्यों में सान्निध्य करने लगा ।

इसी प्रकार स्वाध्याय करने में लीन उस धर्मदास को अन्त में केवलज्ञान भी उत्पन्न हुआ अतः प्रतिक्रमण के बाद स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ।

54. स्वजन-उपदेश

उसके बाद सामायिक पार कर अपने घर जायें और अपनी पत्नी, पुत्र, मित्र, भाई, नौकर, बहिन, पुत्रवधू, पुत्री, पौत्री, चाचा, चचेरा भाई तथा अपने जाति-बन्धु आदि के सामने उनकी योग्यतानुसार उपदेश करना चाहिए । उपदेश में सम्यक्त्वमूल देशविरति धर्म, सर्वकृत्यों में सर्वशक्ति से यतना, अरिहन्त चैत्य व साधर्मिक से रहित स्थान तथा कुसंसर्ग का त्याग, नवकार जाप, त्रिकाल चैत्यवन्दन, पूजा, पच्चक्खाण आदि अभिग्रह तथा यथाशक्ति सात क्षेत्रों में धन का वपन आदि बातें यथायोग्य समझानी चाहिए । **दिनकृत्य** में कहा है- ``जो व्यक्ति अपने परिवार जन को सर्वज्ञप्रणीत धर्म नहीं कहता है वह लोक और परलोक में उनके किये गये पापों से लिप्त बनता है ।'' ``यह लोकमान्यता है कि जो व्यक्ति चोर को भोजन आदि देता है, वह भी चोर की तरह सजा पाता है, उसी प्रकार धर्म में भी समझना चाहिए ।'' अतः तत्त्वज्ञ श्रावक को प्रतिदिन अपने पुत्र, पत्नी, दोहित्र आदि को यथायोग्य वस्त्र आदि प्रदान कर द्रव्यानुशासन और धर्म का उपदेश देकर भावानुशासन करना चाहिए । अनुशासन यानी वे सुखी हैं या दुःखी, इस बात का ध्यान रखना । अन्यत्र भी **कहा है**–

``राष्ट्रकृत पाप राजा को लगता है और राजा के द्वारा किया गया पाप पुरोहित को लगता है । स्त्री का पाप उसके पति को और शिष्य का पाप गुरु को लगता है ।''

पत्नी, पुत्र आदि गृहकार्य में व्यग्र होने से एवं प्रमादी होने से, गुरु के पास धर्मश्रवण में असमर्थ होने पर भी इस प्रकार धर्म में प्रवृत्त हो सकते हैं । इस संदर्भ में धन्यश्रेष्ठी का उदाहरण है ।

धन्य श्रेष्ठी

गुरु के उपदेशों को सुनकर सुश्राद्ध बना धन्यश्रेष्ठी प्रतिदिन सायंकाल अपनी पत्नी व चारों पुत्रों को प्रतिबोध देता । क्रमशः पत्नी व तीन पुत्र तो प्रतिबोध को प्राप्त हुए परन्तु चौथा पुत्र नास्तिक की तरह पुण्य-पाप का फल कहाँ है ? इस प्रकार कहकर प्रतिबोधित नहीं हुआ । उसके प्रतिबोध हेतु श्रेष्ठी के मन में काफी दुःख था ।

एक बार पड़ोस में मरणासन्न अवस्था में रही वृद्ध सुश्राविका को उसने निर्यामणा कराते हुए कहा- ``देवी बनने पर मेरे पुत्र को प्रतिबोध देना ।'' वह वृद्धा मरकर सौधर्म देवलोक में देवी बनी । उसने अपनी दिव्यऋद्धि बताकर उस पुत्र को प्रतिबोध दिया । इस प्रकार घर के मालिक को अपनी प्रिया, पुत्र आदि को प्रतिबोध देना चाहिए । प्रयत्न करने पर भी यदि कोई प्रतिबोध न पाये तो उसमें गृहपति का कोई दोष नहीं है ।

कहा भी है– ``हित का श्रवण करने से सभी श्रोताओं को एकान्त लाभ (धर्म) हो यह जरूरी नहीं

है, परन्तु अनुग्रह बुद्धि से बोलने वाले को तो अवश्य ही लाभ होता है।'' ``प्रायःअब्रह्म से रहित श्रावक समय पर अल्प निद्रा करता है। निद्रा से जगने पर स्त्रीदेह की अशुचिता का विचार करना चाहिए।'' ``स्वजनों को धर्मोपदेश देने के बाद रात्रि का एक प्रहर बीतने पर अपने शरीर की अनुकूलतानुसार उचित शय्या पर जाकर अल्प निद्रा लेनी चाहिए। श्रावक को प्रायःअब्रह्म (मैथुन) का त्याग करना चाहिए। जीवनपर्यन्त अब्रह्म-त्याग सम्भव न हो तो भी पर्वतिथि आदि अनेक दिनों में ब्रह्मव्रत का अवश्य पालन करना चाहिए। नवयौवन वय में ब्रह्मचर्य-पालन महाफलदायी है।

महाभारत में कहा है– हे युधिष्ठिर ! एक रात्रि में ब्रह्मचर्य-पालन से भी तो गति (लाभ) होती है, वह हजारों यज्ञों से भी नहीं होती है।

प्रस्तुत गाथा में **'निद्रा'** विशेष्य है और **'अल्प'** विशेषण है। जो विशेषण सहित हो उसमें विधि और निषेध अपना सम्बन्ध विशेषण के साथ रखते हैं। अतः यहाँ पर **'अल्पत्व'** विधेय है न कि निद्रा; क्योंकि दर्शनावरणीय कर्म के उदय से नींद तो स्वतः ही आती है, अतःनींद के लिए शास्त्रनिर्देश नहीं है। अतिनिद्रा से व्यक्ति इसलोक और परलोक के कृत्यों से भ्रष्ट बनता है। चोर, वैरी, धूर्त और दुर्जन व्यक्ति भी उस पर अचानक हमला कर सकते हैं।

अल्पनिद्रा महानता का लक्षण है। **कहा भी है**– ``अल्पाहारी, अल्पवचनी, अल्पनिद्रालु और अल्प उपाधि-उपकरण रखने वाले को देवता भी नमस्कार करते हैं।''

55. नीति-शास्त्र के अनुसार निद्राविधि

जीवों से व्याप्त, छोटी, भग्न, कष्टदायक, मलिन, जिसमें अधिक पाये जोड़ते हुए हों, जिसके पाये जले हुए काष्ठ के हों, ऐसी खाट का त्याग करना चाहिए।

सोने तथा बैठने में उपयोगी तख्ता वगैरह चार टुकड़े जोड़कर बनाया हो तब तक शुभ है। पाँच आदि टुकड़े जोड़कर बनावे तो अपना और कुल का नाश ही होता है।

अपने पूजनीय पुरुष से ऊँचे स्थान में न सोयें। पैर भीगे रखकर न सोयें। उत्तर व पश्चिम में मस्तक रखकर न सोयें। पाट के नीचे न सोयें। दोनों पैर हाथी के दाँत की तरह सिकोड़कर न सोयें। देवमन्दिर में, बांबी के ऊपर, वृक्ष के नीचे, श्मशान में तथा विदिशा में मस्तक करके नहीं सोना चाहिए। मल-मूत्र की शंका हो तो उसे दूर करके सोना चाहिए और उसके स्थान को जानकर पास में जल रखकर और द्वार बन्द कर सोना चाहिए।

इष्ट देवता को नमस्कार करके अपमृत्यु के भय को दूर करें। फिर रक्षा-मंत्र से पवित्र चौड़ी शय्या में, व्यवस्थित वस्त्र परिधानपूर्वक, सर्व आहार का त्याग कर कल्याण के इच्छुक को बाँयी करवट पर नींद लेनी चाहिए।

क्रोध, भय, शोक, मद्यपान, स्त्रीभोग, भारवहन, मार्गगमन आदि से थके हुए तथा अतिसार, श्वास, हिचकी आदि से रोगग्रस्त तथा वृद्ध, बाल, कमजोर, प्यासे, शूल तथा घाव से पीड़ित तथा अजीर्ण के रोगी को जरूरत लगे तो दिन में भी सोना चाहिए।

ग्रीष्म ऋतु में वायु का उपचय तथा सूखी हवा होने से तथा अल्परात्रि होने से दिन में भी सोना चाहिए । अन्य ऋतु में दिन में सोने से श्लेष्म व पित्त होता है ।

अति आसक्ति से बिना प्रसंग नींद लेना अच्छा नहीं है । अतिनिद्रा से कालरात्रि की तरह सुख और आयुष्य का नाश होता है ।

सोते समय पूर्व दिशा में मस्तक करने से विद्या का, दक्षिण दिशा में मस्तक करने से धन का लाभ होता है । पश्चिम में मस्तक करने से प्रबल चिन्ता एवं उत्तर में मस्तक करने से मृत्यु तथा हानि होती है ।

शयन विधि

सोने के पूर्व चैत्यवन्दन आदि द्वारा देव-गुरु को नमस्कार करना चाहिए और चार प्रकार के आहार का पच्चक्खाण करना चाहिए । गंठसी पच्चक्खाण से सर्वव्रत के संक्षेप रूप देशावकासिक व्रत स्वीकार करना चाहिए । **दिनकृत्य** में कहा है-

``प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, दिनलाभ, अनर्थदण्ड, अंगीकृत को छोड़कर समस्त उपभोग-परिभोग तथा गृह-मध्य के सिवाय समस्त दिशागमन को छोड़कर एवं मच्छर, जूं आदि के सिवाय समस्त जीवों की वचन व काया से हिंसा का गंठसी पच्चक्खाण से त्याग करता हूँ ।''

``पहले प्राणातिपात का नियमन नहीं था, अब एकेन्द्रिय, मच्छर, जूं आदि को छोड़ आरंभ-जन्य सापराध और त्रसविषयक हिंसा का वचन और काया से गंठसी पच्चक्खाण पूर्वक (जब तक गाँठ नहीं खोलूंगा तब तक) त्याग करता हूँ । (मन का नियंत्रण अशक्य होने से यहाँ पर वचन और काया ही कहा है ।) इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान व मैथुन का भी त्याग करता हूँ । प्रातःविद्यमान दिनलाभ का नियमन नहीं किया था अब उसकी भी मर्यादा करता हूँ । अनर्थदण्ड तथा शयन-आच्छादन को छोड़कर समस्त उपभोग-परिभोग का त्याग करता हूँ और गृहमध्य को छोड़ अन्य दिशाओं के गमन का त्याग करता हूँ ।''

इस प्रकार देशावकासिक व्रत को स्वीकार करने से महान् लाभ होता है । इसके पालन से महर्षि की तरह निःसंगता का लाभ मिलता है । इस व्रत का वैद्य के जीव बन्दर ने प्राणान्त कष्ट में भी पालन किया था । फलस्वरूप उसे आगामी भव में महान् फल प्राप्त हुआ था । अतःविशेष फल के अभिलाषी को यह व्रत मुख्यतया पालन करना चाहिए ।

मुख्यतया पालन करने में असमर्थ हो तो अनाभोग आदि चार आगारों में से चौथे आगार से अग्नि आदि का कारण आने पर व्रत छूट जाय तो व्रतभंग का दोष नहीं लगता है ।

(**नोट :-** वैद्य के जीव वानर का दृष्टान्त ग्रन्थकार के **आचार-प्रदीप** ग्रन्थ से जान लें ।)

शरणागति-स्वीकार

अरिहन्त आदि चार की शरण को स्वीकार करना चाहिए । सर्व जीवों के साथ क्षमापना और अठारह पापस्थानकों का त्याग करना चाहिए । दुष्कृत की गर्हा और सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिए ।

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए ।
आहारमुवहिदेहं सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ।।

``यदि इस रात्रि में मेरी मृत्यु हो जाय तो मैं देह, आहार और उपधि इन सबका त्रिविध से त्याग करता हूँ ।''

नवकार गिनकर उपर्युक्त गाथा को तीन बार पढ़कर सागारी अनशन करना चाहिए तथा शयन करते समय पञ्च परमेष्ठी नमस्कार का स्मरण करना चाहिए ।

एकान्त शय्या में ही शयन करें परन्तु स्त्री आदि से युक्त शय्या में शयन न करें । क्योंकि विषयसेवन का अभ्यास अनादिकाल से है तथा वेद का उदय उत्कट होता है इसलिए प्राणी पुनः कामवासना से पीड़ित हो जाता है । **कहा भी है**–

''जिस प्रकार अग्नि के सान्निध्य से लाख पिघलती है, उसी प्रकार स्त्री के सान्निध्य से धीर व कृशकाय मनुष्य भी पिघलता है (अर्थात् कामाधीन बनता है) ।''

आप्तवाणी है कि पुरुष जिस वासना से युक्त होकर सोता है, वह जागृति तक उसी वासना युक्त बना रहता है । अतः मोह को उपशान्त कर धर्म-वैराग्य आदि भावना से भावित होकर नींद लेनी चाहिए-इससे कुस्वप्न और दुःस्वप्न नहीं आते हैं और धर्ममय सुन्दर स्वप्न ही आते हैं ।

सोया हुआ व्यक्ति पराधीन होता हैं । जीवन आपत्तियों से भरपूर है, आयुष्य सोपक्रम है, कर्म की गति विचित्र है अतः कदाचित् आयुष्य समाप्त हो जाय तो भी शुभ भाव से निद्राधीन बने हों तो सद्गतिगामी बन सकते हैं । **कहा भी है**– अन्त में जो मति होती है, वही गति होती है ।

इस संदर्भ में कपटी साधु द्वारा पौषध में मारे गये उदायी राजा का दृष्टान्त प्रसिद्ध है ।

काम-विजय-चिन्तन

अब गाथा के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हैं । रात्रि के मध्य में निद्रा दूर होने पर, अनादि काल के भवाभ्यास के रस से उल्लसित दुर्जय कामराग को जीतने के लिए स्त्रीशरीर की अशुचिता-अपवित्रता का चिन्तन करना चाहिए ।

जम्बुस्वामी, स्थूलभद्र आदि महर्षि तथा सुदर्शन सेठ आदि सुश्रावकों के शीलपालन में एकाग्रता, कषाय आदि दोषों के विजय के उपाय, संसार की भयंकरता तथा धर्म के मनोरथों के बारे में चिन्तन करना चाहिए ।

स्त्रीशरीर की अपवित्रता और निन्दनीयता तो सर्वजगप्रसिद्ध ही है ।

पूज्यश्री मुनिसुन्दर सूरिजी म. ने **अध्यात्म-कल्पद्रुम** में कहा है-``हे आत्मन् ! चमड़ी, हड्डी, मज्जा, आँतें, चर्बी, रक्त, मांस, विष्ठा आदि के अपवित्र और अस्थिर पुद्गल के स्कन्ध स्त्री-शरीर के रूप में परिणत हुए हैं, उसमें कौनसी सुन्दरता लगती है ?''

''हे मूढ़ ! दूर रही थोड़ी भी विष्ठा को देखकर तू अपनी नाक सिकोड़ता है, तो फिर उसी अशुचि से भरी हुई स्त्री के शरीर की अभिलाषा क्यों करता है ?''

मानों विष्ठा की थैली न हो, जिसके बहुत से छिद्रों में से निकलते हुए मल से मलिन, मलिनता से उत्पन्न हुए कीड़ों के समुदाय से भरी हुई, चपलता और मायामृषावाद से सर्व प्राणियों को ठगने वाली स्त्री के ऊपर मोहित होकर के उसे भोगे तो अवश्य नरक में जाता है। संकल्प से विकल्प का त्याग करने वाले के लिए उसको जीतना आसान है। **कहा है**–

''हे काम ! मैं तेरे स्वरुप को जानता हूँ, तू संकल्प से ही उत्पन्न होता है, मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा, जिससे तू मेरा नहीं बन सकेगा।''

नवविवाहित आठ श्रेष्ठिकन्याओं को प्रतिबोध देने वाले और निन्यानवे करोड़ सोना मोहर का त्याग करने वाले जम्बूस्वामी, साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का व्यय कर कोशा वेश्या में आसक्ति-पूर्वक विलास करने वाले और अन्त में दीक्षा लेकर कोशा के महल में रहकर काम को जीतने वाले स्थूलभद्र महामुनि तथा अभयारानी के द्वारा विविध अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्ग करने पर भी लेश भी क्षुब्ध नहीं होने वाले सुदर्शन सेठ आदि के दृष्टान्त प्रसिद्ध होने के कारण उन्हें विस्तार से नहीं लिखते हैं।

कषायादि दोषों के विरुद्ध भावना करने से कषायों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जैसे-क्षमा की भावना से क्रोध को, मृदुता की भावना से मान को, सरलता की भावना से माया को, सन्तोष की भावना से लोभ को, वैराग्य की भावना से राग को, मैत्री की भावना से द्वेष को, विवेक की भावना से मोह को, स्त्रीदेह की अशुचि भावना से काम को, दूसरे की सम्पदा के उत्कर्ष के विषय में भी चित्त को नहीं बिगाड़ने से मत्सर को, संयम से विषय को, तीन गुप्ति से अशुभ मन, वचन और काया के योगों को अप्रमाद से प्रमाद को तथा विरति द्वारा अविरति को सुखपूर्वक जीता जा सकता है।

तक्षक सर्प के मस्तक पर रहे मणि को ग्रहण करने की तरह तथा अमृतपान के उपदेश की तरह इसे अशक्य नहीं समझना चाहिए। उन-उन दोषों के त्याग द्वारा गुणमय बने हुए मुनियों के दर्शन होते हैं। दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र और रोहिणेय आदि के दृष्टान्त प्रसिद्ध ही हैं।

कहा भी है– ``हे लोको ! जो महान् पुरुष पूज्यता को प्राप्त हुए हैं, वे पहले साधारण पुरुष ही थे। अतःदोष के त्याग में अतुल उत्साह रखो, सज्जन पुरुषों की उत्पत्ति का कोई खेत नहीं होता है तथा पूज्यपना स्वभाव से भी नहीं आता है, जो व्यक्ति जिन-जिन गुणों को धारण करता है, वह-वह व्यक्ति साधु बनता है, अतःउन गुणों को भजो।''

``हे प्रिय मित्र विवेक ! बहुत पुण्य से तुम प्राप्त हुए हो। हमारे पास से तुम कई दिनों तक मत जाना। तुम्हारे संग से मैं सत्वर ही अपने जन्म-मरण का उच्छेद करूंगा। पता नहीं फिर तुम्हारे साथ मेरा संग होगा या नहीं ?''

गुण यत्नसाध्य हैं और यत्न अपने अधीन है। `यह गुणवानों में अग्रणी है।' इस बात को कौन जीवित पुरुष सहन करेगा ?

''गुण गौरव के लिए हैं परन्तु जाति का आडम्बर गौरव के लिए नहीं होता है क्योंकि वन के पुष्प को ग्रहण किया जाता है और स्वयं के ही मल का त्याग किया जाता है।'' गुणों से ही महिमा होती है, बड़े शरीर अथवा वय से नहीं। जैसे केतकी के छोटे पत्ते भी सुगन्ध के कारण महिमा प्राप्त करते हैं।''

कषाय आदि की उत्पत्ति में निमित्तभूत उन-उन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि का त्याग करने पर भी उन-उन दोषों का परित्याग होता है ।

कहा है– ``जिस वस्तु से कषायों की आग बढ़ती हो, उस वस्तु का त्याग करना चाहिए और जिससे कषायों का उपशमन होता हो, उस वस्तु को ग्रहण करना चाहिए ।'' ऐसा सुनने में आता है कि प्रकृति से क्रोधी चण्डरुद्राचार्य क्रोध की उत्पत्ति के परित्याग के लिए शिष्यों से अलग ही स्थान में रहते थे ।

भवस्थिति अत्यन्त दुःखदायी है क्योंकि चारों गतियों में प्राय :दुःख की ही बहुलता रही हुई है । नारक और तिर्यंचों की दुःख की बहुलता प्रतीत ही है । **कहा भी है**-``सातों नरकों में क्षेत्रवेदना और शस्त्ररहित पारस्परिक उत्पन्न की गयी वेदना है । शस्त्रजन्य वेदना पाँच नरकों में है तथा परमाधार्मि-ककृत वेदना तीन नरकों में है ।'' रात दिन पके जाते हुए नरक के जीवों को क्षण मात्र भी सुख नहीं है, नरक में नारकों को सतत दुःख ही रहा हुआ है । ``हे गौतम ! नारक जीव नरक में जिस तीव्र वेदना को प्राप्त करते हैं, उससे अनन्त गुणी पीड़ा निगोद में रही हुई हैं।'' तिर्यच में भी भूख, प्यास, चाबुक की मार, अंकुश आदि की पीड़ा रही हुई है । गर्भ, जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, विविध प्रकार के दुःख तथा रोग, गरीबी आदि के उपद्रवों से मनुष्य भी दुःखी ही है ।

देव भव में भी च्यवन, दासत्व, पराभव, ईर्ष्या आदि के दुःख रहे हुए हैं ।

कहा है– अग्नि से लाल बनी हुई सैकड़ों सुइयों के निरन्तर भेदन से जो पीड़ा होती है, उससे आठ गुणी पीड़ा गर्भ में होती है ।

गर्भ में से बाहर निकलते समय और योनियन्त्र में पीलाते समय उपर्युक्त वेदना से लाख अथवा कोटाकोटी गुणी वेदना होती हैं ।

कैद, वध, बन्धन, रोग, धन-हरण, मृत्यु, आपत्ति, मनसंताप, अपयश, तिरस्कार आदि दुःख मनुष्यभव में रहे हुए हैं ।

अनावश्यक चिन्ता, सन्ताप, दारिद्र्य, रोग आदि से परेशान हुए कई जीव मनुष्य भव को प्राप्त करके भी बेमौत मर जाते हैं । ईर्ष्या, विषाद, मद, क्रोध, माया तथा लोभ आदि से पराभूत देवताओं को भी सुख कहाँ है ?

धर्म-मनोरथ भावना

``ज्ञान-दर्शन से युक्त श्रावक के घर में दास होना श्रेष्ठ है किन्तु मिथ्यात्व से मोहित मतिवाला राजा या चक्रवर्ती बनना भी श्रेष्ठ नहीं है ।''

संविग्न और गीतार्थ गुरु के पास स्वजनादि संग से रहित होकर मैं कब दीक्षा स्वीकार करूंगा ?

तप से दुर्बल शरीर वाला होकर, भय और भैरव से निष्प्रकम्प होकर श्मशान आदि में कायोत्सर्ग में रहकर कब मैं उत्तम चारित्र का पालन करूंगा ?

तृतीय प्रकाश

56. पर्व कृत्य

पर्वदिनों में तथा विशेषकर आसो और चैत्र प्रमुख विशेष दिनों में ब्रह्मचर्य, अनारम्भ, तप विशेष और पौषध आदि करना चाहिए ।।1।।

धर्म की जो पुष्टि करता है, उसे पौषध कहते हैं। आगमोक्त अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में श्रावक को व्रत-पौषध आदि अवश्य करना चाहिए ।

आगम में कहा है– जिनशासन में सभी दूज आदि पर्वों में शुभ प्रवृत्ति करने की है और अष्टमी और चतुर्दशी आदि में अवश्य पौषध करना चाहिए ।

आदि शब्द से यदि शारीरिक प्रतिकूलता आदि पुष्ट आलम्बन से पौषध करना शक्य न हो तो दो बार प्रतिक्रमण, अनेक बार सामायिक तथा दिशा आदि के विशेष संक्षेप रूप देशावगासिक व्रत का अवश्य स्वीकार करना चाहिए ।

पर्व दिनों में ब्रह्मचर्य का पालन, आरम्भ-समारम्भ का त्याग तथा नित्य तप की अपेक्षा विशेष यथाशक्ति उपवास आदि तप करना चाहिए ।

आदि शब्द से स्नात्र पूजा, चैत्य-परिपाटी, सर्व साधुओं को वन्दन, सुपात्रदान तथा पूर्व में की गयी देव-गुरु की पूजा व दान आदि से विशेष तद्-तद् धर्मानुष्ठान करना चाहिए । **कहा है**–

यदि प्रतिदिन धर्मानुष्ठान की क्रियाएँ होती हों तो बहुत अच्छा है, यदि प्रतिदिन शक्य न हों तो पर्वदिनों मे तो अवश्य करनी चाहिए ।

जिस प्रकार विजयादशमी, दीपावली, अक्षय तृतीया आदि लौकिक पर्वों में भोजन, वस्त्र-परिधान आदि में विशेष प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार पर्वदिनों में धर्म-कर्म में भी विशेष यत्न करना चाहिए ।

अन्यदर्शनी भी एकादशी, अमावस्या आदि पर्वदिनों में कुछ आरम्भ का त्याग व उपवास आदि करते हैं तथा संक्रान्ति, ग्रहण आदि पर्वदिनों में अपनी सर्वशक्ति से महादान देते हैं, अतःश्रावक को भी पर्वदिनों का यथाशक्ति अवश्य पालन करना चाहिए ।

57. पर्व दिन

पर्वदिन इस प्रकार कहे गये हैं-दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, एक पूर्णिमा और एक अमावस्या ये छह पर्व प्रत्येक मास में आते हैं तथा प्रत्येक पक्ष में तीन पर्व (तिथि) आते हैं। गणधर गौतम स्वामी ने कहा है कि दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी तथा चतुर्दशी ये पाँच तिथियाँ **शुभ-तिथियाँ हैं ।**

``दो प्रकार के धर्म की आराधना के लिए दूज की, पाँच ज्ञान की आराधना के लिए पंचमी की, आठकर्मों के क्षय के लिए अष्टमी की, ग्यारह अंगों की आराधना के लिए एकादशी की तथा चौदह पूर्वों की आराधना के लिए चतुर्दशी की आराधना कही गयी है ।'' इन पाँच पर्वतिथियों के साथ पूर्णिमा व

अमावस्या को जोड़ने पर प्रत्येक पक्ष में उत्कृष्ट से छह पर्वतिथियाँ आती हैं । सम्पूर्ण वर्ष में अट्ठाई, चउमासी आदि अनेक पर्व आते हैं ।

पर्वदिनों में पूर्णतया आरम्भ का त्याग शक्य न हो तो भी अल्प-अल्पतर आरम्भ से निर्वाह करना चाहिए । सचित्त आहार जीवहिंसा रूप होने से महा आरम्भ है, अतः पर्वदिनों में सर्व सचित्त आहार का त्याग भी करना चाहिए । ``(सचित्त) आहार के कारण ही मत्स्य 7वीं नरक भूमि में जाते हैं, अतःसचित्त आहार की इच्छा मन से भी नहीं करनी चाहिए ।''

पर्वदिनों में स्नान, केशसज्जा, केश-गूंथना, वस्त्र-धोना, वस्त्र रंगना, गाड़ी-हल आदि खेड़ना, धान्य आदि के पुलिन्दे बाँधना, यंत्र चलाना, दलना, कूटना, पीसना, पान-फूल-फल आदि तोड़ना, सचित्त खड़ी, वर्णिका आदि पीसना, धान्य वगैरह को काटना, मिट्टी खोदना तथा घर बनाना आदि समस्त आरम्भ का यथाशक्ति त्याग करना चाहिए ।

अन्य किसी उपाय से कुटुम्ब का निर्वाह न होता हो और पर्वदिनों में भी आरम्भ करना पड़े तो भी सचित्त का परिहार तो स्वाधीन और सुकर होने से अवश्य करना चाहिए । गाढ़ बीमारी के कारण सर्वसचित्त का त्याग शक्य न हो तो भी नामग्रहण पूर्वक एक-दो की छूट रखकर शेष सर्व सचित्त पदार्थों का त्याग अवश्य करना चाहिए ।

आसो और चैत्र मास की अट्ठाई आदि प्रमुख पर्वदिनों में पूर्वोक्त नियमों का विशेष करके पालन करना चाहिए । प्रमुख शब्द से चातुर्मासिक, वार्षिक, अट्ठाई तथा तीनों चउमासी चौदस तथा संवत्सरी का भी संग्रह समझ लेना चाहिए । **कहा भी है– ``संवत्सरी, चातुर्मासिक तथा अट्ठाई की तिथियों में विशेष आदरपूर्वक जिनेश्वर की पूजा, तपश्चर्या व ब्रह्मचर्य आदि गुणों में विशेष प्रयत्न करना चाहिए ।''**

अट्ठाइयों में चैत्र व आसो मास की अट्ठाइयाँ शाश्वत हैं । उन दिनों में वैमानिक देवता भी नन्दीश्वर आदि द्वीपों में तीर्थयात्रा व उत्सव आदि करते हैं । **कहा भी है**– ``दो शाश्वत यात्राओं में एक चैत्र मास में और दूसरी आसो मास में आती है । इन दिनों में अट्ठाई आदि महिमा होती है ।'' इन दो शाश्वत यात्राओं में सभी देव तथा विद्याधर नन्दीश्वर द्वीप में तथा मनुष्य अपने-अपने स्थान में पूजा भक्ति आदि करते हैं ।

दो शाश्वती तथा तीन चउमासी एवं पर्युषण के सहित छह अट्ठाइयाँ होती हैं । जिनेश्वर के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान व निर्वाण कल्याणक के दिनों में भी यात्रादि करते हैं । ये अशाश्वत यात्राएँ कहलाती हैं ।

जीवाभिगम में तो इस प्रकार कहा गया है-``बहुत से भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवता तीनों चउमासी तथा संवत्सरी में महिमापूर्वक अट्ठाई महोत्सव करते हैं ।''

58. तिथि की प्रामाणिकता

प्रातः पच्चक्खाण के समय जो तिथि होती है, वही प्रमाण गिनी जाती है । लोक में भी सूर्योदय के अनुसार ही दिन का व्यवहार होता है । **कहा भी है– ``जिस तिथि में सूर्य उदय होता है, उसी तिथि**

में चातुर्मासिक, वार्षिक, पाक्षिक, पंचमी व अष्टमी आदि समझना चाहिए, अन्य में नहीं ।'' ``जिस तिथि में सूर्य उदय हुआ हो, उसी तिथि में पूजा, पच्चक्खाण, प्रतिक्रमण तथा नियम ग्रहण आदि करना चाहिए ।''

''सूर्य उदय में जो तिथि होती है, वही तिथि प्रमाण गिनी जाती है, अन्य तिथि करने पर आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व तथा विराधना का पाप लगता है ।''

पाराशर स्मृति में भी कहा है-``सूर्योदय के समय जो तिथि थोड़ी भी हो उसे सम्पूर्ण ही माननी चाहिए । यदि दूसरी तिथि अधिक समय रहती हो परन्तु सूर्योदय के समय उसका अस्तित्व न हो तो वह नहीं मानी जाती ।''

श्रीमद् उमास्वाति वाचक का भी प्रघोष है- ***''तिथि का क्षय होने पर पूर्व की तिथि के दिन कार्य करना चाहिए और तिथि की वृद्धि होने पर दूसरी तिथि के दिन आराधना आदि करनी चाहिए । श्री वीर भगवान के केवलज्ञान व निर्वाण कल्याणक की आराधना लोक के अनुसार करनी चाहिए ।''***

श्री अरिहन्त परमात्मा के गर्भ-जन्म आदि पाँच कल्याणकों को भी पर्वतिथि समझना चाहिए । जिस दिन दो या तीन कल्याणक हों उसे विशेष पर्वदिन समझना चाहिए ।

मौन-एकादशी का महत्त्व

सर्व पर्वदिनों की आराधना करने में असमर्थ श्रीकृष्ण महाराजा ने नेमिनाथ प्रभु को पूछा-``प्रभो ! वर्ष में उत्कृष्ट पर्वदिन कौन सा है ?'' इस प्रकार पूछने पर नेमि प्रभु ने कहा- ``भाग्यशाली मगसर सुदी एकादशी जिनेश्वर के पंच-कल्याणकों से पवित्र है । इस दिन पाँच भरत व पाँच ऐरावत के कल्याणकों को जोड़ने पर पचास कल्याणक हुए है ।'' यह बात सुनकर कृष्ण ने मौन-पौषधोपवास द्वारा उस दिन की आराधना की । उस दिन **'यथा राजा तथा प्रजा'** के नियमानुसार सर्वलोक में भी आराधना तिथि के रूप में एकादशी प्रसिद्ध हो गयी ।

पर्वतिथि की आराधना से महान् फल होता है । क्योंकि उससे शुभ आयुष्य का बंध आदि होता है । आगम में भी कहा है-``भगवन् ! दूज आदि पाँच तिथियों में धर्मानुष्ठान करने का क्या फल होता है ?'' ``हे गौतम ! बहुत फल होता है । क्योंकि इन तिथियों में प्रायःजीव परभव के आयुष्य को बाँधता है, अतःइन दिनों में तप आदि धर्मानुष्ठान करने चाहिए, जिससे शुभायुष्य का बंध हो परन्तु आयुष्य का बंध हो गया हो तो दृढ़ धर्म आराधना करने पर भी बद्ध आयुष्य टलता नहीं है । जैसे श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यक्त्व होने पर भी पूर्व में गर्भवती हिरणी के घात समय गर्भपात होने पर अपने स्कन्ध का अभिमान करने से नरक का आयुष्य बँध गया था ।

अन्य दर्शनों के शास्त्रों में भी पर्वदिनों में स्नान, मैथुन आदि का निषेध है । **विष्णु पुराण** में कहा है-``हे राजेन्द्र ! चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा तथा सूर्यसंक्रान्ति के दिन पर्वदिन कहलाते हैं ।'' ``पर्वदिनों में तैल मालिश करने वाला, स्त्रीभोग करने वाला तथा मांस खाने वाला पुरुष विष्ठा व मूत्र के भोजन वाली नरकभूमि में जाता है ।''

मनुस्मृति में भी कहा है-``अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी में तथा अनुचित समय में स्नातक ब्राह्मण नित्य ब्रह्मचारी रहता है ।''

अतः पर्वदिनों में सर्वशक्ति से धर्म में यत्न करना चाहिए । अवसर पर किया गया थोड़ा भी धर्मकृत्य भोजन-पानी आदि की तरह विशेष लाभदायी होता है ।

वैद्यकशास्त्र में भी कहा है-``शरद् ऋतु में पिये गये जल, पौष-माघ में खाये गये अन्न तथा ज्येष्ठ-आषाढ़ में की गयी निद्रा से मनुष्य जीता है ।''

''वर्षा ऋतु में नमक अमृत है, शरद् ऋतु में जल, हेमन्त ऋतु में दूध, शिशिर ऋतु में आँवले का रस, वसन्त ऋतु में घी तथा ग्रीष्म ऋतु में गुड़ अमृत है ।''

पर्व की महिमा से धर्महीन भी धर्म में, निर्दय भी दया में, अविरतिधर भी विरति में, कृपण भी धनव्यय में, कुशील भी शील में तथा तपरहित व्यक्ति भी तप में प्रवृत्त होता है । सभी दर्शनों में यह बात वर्तमान में भी देखी जाती है । **कहा है**– ``जिसके प्रभाव से निर्दय को भी धर्मबुद्धि होती है, ऐसे संवत्सरी और चउमासी महान् पर्वों का जिन्होंने विधान किया है, वे जय पायें ।''

पर्वदिनों मे पौषध आदि अवश्य करना चाहिए । चार प्रकार के पौषध का स्वरूप **अर्थदीपिका** में कहा होने से यहाँ नहीं कहा है ।

पौषध तीन प्रकार के भी हैं- (1) अहोरात्र (2) दैवसिक और (3) रात्रिक ।

59. अहोरात्र पौषधविधि

श्रावक को जिस दिन पौषध लेना हो उस दिन गृह-व्यापार का त्याग कर और पौषध के योग्य उपकरण लेकर साधु के समीप अथवा पौषधशाला में जाना चाहिए । उसके बाद अपने देह की प्रतिलेखना कर मल-मूत्र की स्थंडिल भूमि की प्रतिलेखना कर गुरु-समीप में अथवा नवकारपूर्वक स्थापनाचार्य की स्थापना कर **'ईरियावहिय'** करके खमासमण देकर पौषध मुहपत्ती की पडिलेहना करनी चाहिए । फिर खमासमण देकर खड़े होकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पोसहं संदिसावेमि ।'** फिर दूसरा खमासमण देकर **'पोसहं ठावेमि'** कहकर नवकारपूर्वक पौषध उच्चरना चाहिए । (गुरु के अभाव में स्वयं पौषध उच्चरना चाहिए ।)

फिर मुहपत्ती-पडिलेहन कर दो खमासमण देकर सामायिक उच्चरना चाहिए । फिर दो खमासमण देकर यदि वर्षाऋतु हो तो काष्ठासन का और शेष आठ मास में **'पादोछन'** का आदेश मांगकर दो खमासमण देकर सज्झाय के आदेश मांगने चाहिए । फिर प्रतिक्रमण कर दो खमासमण देकर **बहुवेल संदिवेसामि** तथा **'बहुवेल करशुं'** कहकर खमासमणपूर्वक पडिलेहन के आदेश मांगकर मुहपत्ती, पादोछन व धोती का पडिलेहन कर, (श्राविका हो तो मुहपत्ती, पादोछन, चणिया, कंचुक व साड़ी का पडिलेहन कर) खमासमण देकर **'इच्छकारी भगवन् पडिलेहणा पडिलेहावओ'** का आदेश माँगकर **'इच्छं'** कहकर स्थापनाचार्य का पडिलेहन कर, खमासमण पूर्वक **'उपधिमुहपत्ती'** का पडिलेहन कर दो खमासमण देकर **'उपधि संदिसाहु'** एवं **'उपधि पडिलेहु'** ये दो आदेश मांगकर वस्त्र-कम्बल

का पडिलेहन करना चाहिए। फिर पौषधशाला का प्रमार्जन कर काजा लेकर, उसे परठकर इरियावहिय प्रतिक्रमण कर गमनागमन की आलोचना कर खमासमणपूर्वक साधु की तरह स्वाध्याय करे। उसके बाद पादोनपोरिसी तक पठन, गुणन करे या पुस्तक पढ़े। फिर खमासमण पूर्वक मुहपत्ती पडिलेहन कर कालवेला तक पूर्व की तरह स्वाध्याय करे।

जब देववन्दन करने हों तब **आवस्सही** कहकर मन्दिर में जाकर देव-वन्दन करना चाहिए। फिर यदि आहार करना हो तो पच्चक्खाण का समय पूर्ण होने पर खमासमण पूर्वक मुहपत्ती पडिलेहन कर खमासमण देकर यों कहे-``पोरिसी पारावहं'' या पुरिमड्ढ चोविहार या तिविहार जो किया हो सो कहे।

फिर देववन्दन कर स्वाध्याय कर घर जाना चाहिए। 100 हाथ से दूर हो तो इरियावहिय प्रतिक्रमण कर **'गमणागमणे'** का पाठ बोलकर यथाशक्य अतिथिसंविभाग-व्रत का पालन करें।

फिर निश्चल आसन पर बैठकर हाथ, पैर व मुख की पडिलेहना कर नवकार बोलकर राग-द्वेष किये बिना भोजन करें। अथवा पूर्व सूचित स्वजन द्वारा लाया गया अन्न खायें, किन्तु भिक्षा न मांगें। फिर पौषधशाला में जाकर ईरियावहिय कर, देव-वंदन कर तिविहार अथवा चोविहार का पच्चक्खाण करें।

यदि शरीरचिन्ता के लिए बाहर जाना पड़े तो `आवस्सिअं' कहकर साधु की तरह उपयोगपूर्वक निर्जीव स्थंडिल भूमि में जाकर विधि-पूर्वक मल-मूत्र का त्याग करें। शरीरशुद्धि कर पौषधशाला में आकर ईरियावहिय कर खमासमण देकर **'गमणागमणे'** की आलोचना इस प्रकार करें-``इच्छाकारेण संदिसह भगवन्, गमणागमणं आलोचेउं, इच्छं।'' वसति से पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में जाकर दिशाएँ देखकर `अणुजाणह जस्सुग्गहो' कहकर संडासक और स्थंडिल का प्रमार्जन कर बड़ी नीति व लघुनीति को वोसिराए। उसके बाद `निसीहि' कहकर पौषधशाला में आये। जाने-आने में विराधना हुई हो तो **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** करें, फिर अन्तिम प्रहर तक स्वाध्याय करें।

फिर खमासमण देकर **'पडिलेहणं करेमि'** इस प्रकार पडिलेहन का आदेश मांगें, फिर **'पोसहसालं पमज्जेमि'** इस प्रकार पौषधशाला के प्रमार्जन का आदेश मांगकर मुहपत्ती, पादोछन व धोती का पडिलेहन करें। श्राविका हो तो मुहपत्ती, पादोछन, साड़ी, कंचुक व चणिया का पडिलेहन करें।

फिर स्थापनाचार्य का पडिलेहन कर पौषधशाला का प्रमार्जन कर खमासमण देकर उपधि, मुहपत्ती पडिलेहन कर खमासमण देकर मांडली में घुटने के बल बैठकर स्वाध्याय करे। फिर वन्दन देकर पच्चक्खाण करके दो खमासमण देकर उपधि पडिलेहन के आदेश मांगकर वस्त्र-कम्बल आदि का पडिलेहन करे। यदि उपवास हो तो सर्व उपधि के बाद पहिने हुए वस्त्र का पडिलेहन करे। श्राविका हो तो प्रभात की तरह वस्त्र पडिलेहन करे।

कालवेला में खमासमणपूर्वक शय्या के अन्दर तथा बाहर बारह-बारह लघुनीति व बड़ी नीति हेतु भूमि को देखे। फिर प्रतिक्रमण करके, साधु का योग हो तो उनकी विश्रामणा करके, वन्दना करके पोरिसी तक स्वाध्याय करे।

फिर खमासमण देकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! बहु पडिपुन्ना पोरिसी राई संथारए ठामि'**-कहकर देववन्दन कर शरीर-शुद्धि कर समस्त बाह्य उपधि को देखकर जानु के ऊपर संथारा व उत्तरपट्ट को रखकर जिस ओर पैर हों उस ओर भूमि का प्रमार्जन कर धीरे-धीरे संथारा बिछायें ।

फिर बायें पैर से संथारे का स्पर्श कर मुहपत्ती पडिलेहन कर तीन बार **'निसीहि' बोलकर 'नमो खमासमणाणं अणुजाणह जिट्ठज्जा'** कहकर संथारे पर बैठकर नवकार के अन्तर से तीन बार `करेमि भंते' सूत्र पढ़ें । फिर **''अणुजाणह परम गुरु-''** इत्यादि चार गाथाएँ कहें-

उत्तम गुणरूपी रत्नों से शोभायमान शरीर वाले हे परमगुरो ! पोरिसी होने आयी है, अब मैं संथारे पर स्थापित होता हूँ ।।1।।

हे भगवन् ! संथारे की मुझे आज्ञा दीजिये । बायाँ हाथ तकिये की जगह रखकर बायीं करवट पर सोऊंगा । मुर्गी की तरह पैर रखकर शयन करूंगा । अगर इस प्रकार सम्भव नहीं हुआ तो भूमि को प्रमार्जन करके पैरों को फैलाऊंगा ।।2।।

यदि पैर सिकोड़ने पड़े तो संडासे को पौंछकर पैरों को सिकोडूंगा तथा करवट बदलनी पड़ी तो शरीर का पडिलेहण करके करवट बदलूंगा । शरीरचिन्ता हेतु उठना हो तो द्रव्यादि का उपयोग देना जैसे ``मैं कौन हूँ'' इत्यादि । इस प्रकार नींद नहीं उड़े तो श्वास रोकना चाहिए और जहाँ आकाश दिखाई देता हो वहाँ पर प्रमार्जन करते हुए जाना चाहिए ।।3।।

यदि इस रात्रि में मेरी मृत्यु हो जाये तो इस शरीर, आहार और उपधि को मैं मन, वचन, काया से वोसिराता हूँ ।।4।।

बाद में चत्तारि मंगलं इत्यादि भावनाएँ कर रजोहरण (चरवला) आदि से शरीर का व संथारे का प्रमार्जन कर बायीं करवट पर सोये ।

यदि शरीरचिन्ता के लिए जाना पड़े तो संथारा दूसरे को संभलाकर `आवस्सही' कहकर पहले देखी हुई शुद्धभूमि में कायचिन्ता करे । फिर ईरियावहिय कर गमनागमन की आलोचना कर जघन्य से तीन गाथाओं का स्वाध्याय कर नवकार का स्मरण कर पूर्व की तरह सो जाय ।

रात्रि के अन्तिम प्रहर में जगने पर **'इरियावहिय'** कर **'कुसुमिण-दुसुमिण'** का कायोत्सर्ग व चैत्यवन्दन करके आचार्य आदि को वन्दन कर प्रतिक्रमण के समय तक स्वाध्याय करे ।

फिर पूर्व की प्रतिक्रमण आदि कर मांडली में स्वाध्याय कर यदि पौषध पारने की इच्छा हो तो खमासमण देकर आदेशपूर्वक मुहपत्ती का पडिलेहन करे । फिर पुनःदो खमासमण देकर पौषध पारने के लिए `इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पोसहं पारउं ?' तथा `इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! पोसहं पारिउं' इस प्रकार दो आदेश मांगें ।

प्रथम आदेश मांगने पर गुरु-**''पुणो वि कायव्वं''** (वापस करना चाहिए) तथा दूसरी बार आदेश मांगने पर गुरु-आयारो न मुत्तव्वो (आचार छोड़ने जैसा नहीं है) कहते हैं । फिर खड़े होकर नवकार

गिनकर बाद में घुटने के बल बैठकर भूमि पर मस्तक लगाकर ``सागर-चंदो कामो.....।' आदि का पाठ बोलना चाहिए ।

सागरचन्द्र श्रावक, कामदेव श्रावक, चन्द्रावतंसक राजा तथा सुदर्शनसेठ को धन्य है कि जीवित के अन्त तक भी उनकी पौषध प्रतिमा अखंड रही ।

सुलसा श्राविका, आनन्द व कामदेव श्रावक धन्य एवं प्रशंसा के योग्य हैं जिनके दृढ़व्रत की प्रशंसा भगवान महावीर स्वामी ने की ।

इसी प्रकार सामायिक पारने के लिए भी दो बार आदेश मांगे जाते हैं । सामायिक पारते समय **'सागरचंदो'** के बजाय **'सामाइय वयजुत्तो.....!'** आदि का पाठ बोलना चाहिए । सामायिक व्रत से युक्त जीव जब तक मन से नियमयुक्त है तब तक तथा जितनी बार सामायिक करता है उतनी बार उसके अशुभ कर्मों का नाश होता है । ``मैं छद्मस्थ एवं मूढ़ हूँ तथा मुझे जो थोड़ा कुछ याद है तथा जो याद नहीं है उसका `मिच्छामि दुक्कडम्'।'' ``सामायिक और पौषध में रहते हुए जीव का जो काल व्यतीत होता है, उसे सफल मानना चाहिए, शेषकाल संसारवर्धक ही है ।

दिन के पौषध की भी यही विधि समझनी चाहिए । सिर्फ दिन के पौषध में **'जाव दिवसं'** बोलना चाहिए । दिन का पौषध दैवसिक प्रतिक्रमण के बाद पारना चाहिए । रात्रि पौषध की भी यही विधि समझनी चाहिए । सिर्फ उसमें **'जाव दिवससेसं रत्तिं पज्जुवासामि'** बोला जाता है ।

रात्रि पौषध मध्याह्न के बाद और दिन की दो घड़ी शेष हो तब तक ले लेना चाहिए ।

पौषध पारते समय यदि साधु भगवन्त का योग हो तो अवश्य अतिथिसंविभाग व्रत करना चाहिए ।

इस प्रकार पौषध आदि से पर्वदिन की आराधना करनी चाहिए । इस पर धनेश्वर सेठ का दृष्टान्त है ।

धनेश्वर सेठ

धन्यपुर नगर में धनेश्वर सेठ रहता था । उसके धनश्री नाम की पत्नी और धनसार नाम का पुत्र था । सेठ परम श्रावक था और कुटुम्ब सहित प्रत्येक पक्ष की छह पर्वतिथियों के दिन विशेष प्रकार से आरम्भ का त्याग करता था । तुंगिका नगरी के श्रावकों का वर्णन करते हुए भगवतीसूत्र में कहा है कि वे अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा व अमावस्या इन तिथियों को पौषध करने वाले थे । इसलिए वह भी प्रतिमास छह पर्वतिथियों में विधिपूर्वक पौषध आदि करता था ।

एक बार वह सेठ अष्टमी के दिन पौषध में रात्रि में शून्यगृह में प्रतिमा में रहा हुआ था, तभी सौधर्मेन्द्र ने उसकी धर्मदृढ़ता की प्रशंसा की, जिसे सुनकर एक मिथ्यादृष्टि देव ने उसकी परीक्षा करने का निश्चय किया ।

सर्वप्रथम रात्रि में उस देव ने मित्र का रूप किया और ``करोड़ों सोना मोहर की निधि है, आप आज्ञा दो तो मैं लूँ-'' इस प्रकार पूछा । उसके बाद पत्नी का रूप कर आलिंगन आदि द्वारा सेठ की

कदर्थना की । उसके बाद रात्रि होने पर भी प्रातःकाल के सूर्योदय का दृश्य बतलाकर पत्नी, पुत्र आदि के द्वारा पौषध पारने के लिए विनंति करने का आडम्बर किया । परन्तु स्वाध्याय व जाप में लीन सेठ लेश भी भ्रमित नहीं हुआ ।

उसके बाद उस देव ने पिशाच का रूप करके चमड़ी उतारना, घात करना, उछालना, शिला पर पछाड़ना, समुद्र में डालना इत्यादि अनेक प्राणान्त प्रतिकूल उपसर्ग किये; फिर भी वह सेठ अपने ध्यान से चलित नहीं हुआ । **कहा है**– ``दिग् गजेन्द्र, कूर्म, कुलपर्वत और शेषनाग के द्वारा धारण की हुई होने पर भी यह पृथ्वी कदाचित् चलित होती है; परन्तु निर्मल मन वाले पुरुषों का मन प्रलयकाल में भी अपने व्रत से चलित नहीं होता है ।''

उसके बाद वह देव बोला-``मैं तुम पर खुश हूँ, तुम्हें जो चाहिए वह मांग लो ।'' इस प्रकार कहने पर भी वह ध्यान से चलित नहीं हुआ । इससे खुश होकर उस देव ने उसके घर में असंख्य रत्नों की वृष्टि की ।

उसकी महिमा से अनेक लोग पर्व की आराधना करने में तत्पर हुए । उनमें भी राजा के एक धोबी, तेली व कौटुम्बिक (किसान) ने छह पर्वतिथियों में अपने-अपने आरम्भकार्य का त्याग किया; जबकि इन्हें राजा की प्रसन्नता पर विशेष ध्यान देना पड़ता था । वह सेठ उन तीनों को नवीन साधर्मिक जानकर पारणे के लिए आमंत्रण देता था और उनके साथ भोजन कर भेंट आदि में भी अमाप धन देकर उनका सम्मान करता था । **कहा भी है**– ``माता-पिता और बन्धु वर्ग भी जो वात्सल्य नहीं दे सकते हैं, सुश्रावक उससे अधिक वात्सल्य साधर्मिक को देते हैं ।''

सेठ के सम्पर्क से वे तीनों भी सम्यग्दृष्टि बने ।

कहा है– ``जिस प्रकार मेरुपर्वत पर रहा हुआ तृण भी स्वर्णत्व को प्राप्त करता है, उसी प्रकार उत्तम पुरुषों के संसर्ग से शीलहीन भी शीलसमृद्ध बन जाता है ।''

एक बार कौमुदी महोत्सव होनेवाला था, तब चतुर्दशी के दिन ही राजपुरुषों ने जाकर धोबी को कहा-``आज ही राजा व रानी के वस्त्र धोने हैं ।''

धोबी ने कहा-``पर्वदिनों में कुटुम्ब सहित वस्त्र नहीं धोने का नियम है ।''

राजपुरुषों ने कहा-``राजा की आज्ञा में नियम कौनसा ? आज्ञा भंग करोगे तो मृत्युदण्ड भी हो सकता है ।''

कुटुम्बीजनों ने तथा अन्य लोगों ने भी उस धोबी को बहुत समझाया । सेठ ने भी कहा-``राजदण्ड से धर्महीलना न हो, इसलिए नियम में राजाभियोग का अपवाद भी होता है ।'' इस प्रकार युक्ति से समझाने पर भी ``दृढ़ता के बिना धर्म से क्या ? '' इस प्रकार कहकर उस धोबी ने कपड़े धोने से मना कर दिया ।

राजपुरुषों ने जाकर राजा के कान फूंके । राजा भी बोला-``कल उसे परिवार सहित दण्ड दूंगा ।'' ``परन्तु दैवयोग से उसी रात्रि में राजा को शूल की भयंकर पीड़ा उत्पन्न हुई । समस्त नगर

में हाहाकार मच गया । इस बीच तीन दिन बीत गये । धर्म के प्रभावसे धोबी का नियम बच गया । उसने एकम् के दिन वस्त्र धो दिये और दूज के दिन वस्त्र मांगने पर उसने वस्त्र दे दिये ।

इसी प्रकार कोई विशेष प्रसंग आ जाने से राजा ने चतुर्दशी के दिन ही उस तेली को तेल पीलने के लिए आदेश दिया । परन्तु वह भी अपने नियम में दृढ़ रहा । राजा ने कोप भी किया । परन्तु अचानक दुश्मन राजा के आगमन के कारण राजा को युद्ध के लिए जाना पड़ा, परिणामस्वरूप उसके नियम का भी रक्षण हो गया ।

इसी प्रकार एक दिन राजा ने किसान को अष्टमी के दिन ही हल जोतने का आदेश दिया परन्तु नियम की दृढ़ता के कारण उसने मना कर दिया । इससे राजा को गुस्सा आ गया परन्तु उसी समय निरन्तर वर्षा हो जाने से उसका नियम सुरक्षित रह गया ।

इस प्रकार पर्व के नियमों का अखण्ड पालन करने के फलस्वरूप वे तीनों मरकर छठे देवलोक में चौदह सागरोपम के आयुष्य वाले देव बने । सेठ मरकर बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ । उन चारों के बीच में मैत्री हुई । अपने च्यवन के समय उन तीनों देवों ने सेठ देव को कहा-``आप पहले की तरह हमें प्रतिबोध देना ।'' वे तीनों देव स्वर्ग से च्यवकर अलग-अलग राजकुलों में उत्पन्न हुए और तीनों बड़े राजा बने; क्रमशः धीर, वीर और हीर के नाम से वे तीनों प्रसिद्ध हुए ।

धीर राजा के नगर में एक सेठ को पर्वदिनों में हमेशा लाभ होता था, जबकि अन्य दिनों में हानि भी होती थी । उस सेठ ने ज्ञानी गुरु को पूछा । ज्ञानी गुरु ने कहा-``तुमने पूर्वभव में गरीबी की अवस्था में भी पर्व के नियमों का दृढ़ता से पालन किया था । जबकि अन्य दिनों में योग होने पर भी पुण्यकार्य में प्रमादी हुए थे । उसी के फलस्वरूप इस भव में यह स्थिति है ।'' **कहा भी है**– ``धर्म में प्रमादी जीव जिसको लुटाता है, जिसका नाश करता है तथा हारता है वह चोर भी लूट नहीं सकता, उसे अग्नि भी नाश नहीं कर सकती तथा उसे जुए में भी नहीं हारता । अर्थात् धर्म में प्रमाद करने से महाअनर्थ होता है । ''

उसके बाद वह कुटुम्ब सहित पुण्यकार्यों में हमेशा अप्रमत्त रहने लगा और अपनी सर्वशक्ति से सभी पर्वों की आराधना करने लगा । व्यवहारशुद्धि के साथ अत्यल्प आरम्भपूर्वक व्यापार आदि भी दूज आदि पर्वदिनों में ही करने लगा, अन्य दिनों में नहीं । विश्वास हो जाने से सभी ग्राहक भी उसी के साथ व्यवहार करने लगे, दूसरों के साथ नहीं । इस प्रकार थोड़े ही दिनों में वह करोड़ों की सम्पत्ति का मालिक बन गया ।

``कौआ, कायस्थ तथा मुर्गा अपने कुल के पोषक होते हैं, जबकि वणिक्, श्वान, हाथी और ब्राह्मण अपने ही कुल का नाश करते हैं ।''

इस प्रकार मात्सर्य से अन्य अनार्य वणिकों ने जाकर राजा को शिकायत की कि ``इस सेठ को करोड़ों का निधान मिला है ।'' राजा के पूछने पर सेठ ने कहा-``मैंने तो स्थूलमृषावाद और अदत्तादान का गुरु के पास नियम लिया है ।''

वणिकों के कहने से **'धर्मठग'** मानकर राजा ने उसका सारा धन अपने महल में रखवा दिया

और उसे पुत्र सहित अपने महल में रखा । सेठ ने विचार किया-``आज पंचमी पर्व होने से किसी भी प्रकार से मुझे लाभ ही होना चाहिए ।''

प्रातःकाल होने पर राजा ने अपना खजाना खाली देखा और सेठ का घर मणि-स्वर्ण आदि से भरा हुआ देखा । इसे देख राजा को अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ । राजा ने उसके पास क्षमा-याचना की । राजा ने पूछा-``सेठ ! यह सब धन तुम्हारे घर में कैसे चला गया ?''

उसने कहा-``राजन् ! मुझे कुछ भी पता नहीं है, परन्तु पुण्य के प्रभाव से मुझे पर्वदिनों में लाभ ही होता है''-इस प्रकार सही बात कहने पर पर्व की महिमा को सुनकर राजा को भी जाति-स्मरण ज्ञान हुआ और उसने भी जीवन पर्यन्त छह पर्वतिथियों के पालन का नियम स्वीकार किया ।

उसी समय कोषाध्यक्ष ने आकर राजा को शुभ समाचार दिये कि ``वर्षा के जलप्रवाह से भरने वाले सरोवर की भाँति सारा खजाना धन से भर गया है ।'' इसे सुनकर राजा को आश्चर्य के साथ अत्यन्त खुशी हुई । उसी समय चंचल कुण्डलादि आभूषणों से सुशोभित देव प्रगट हुआ और बोला-``हे राजन् ! क्या पूर्व भव के मित्र श्रेष्ठी देव को तुम पहिचानते हो ? मैंने ही पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार तुम्हारे प्रतिबोध के लिए तथा पर्व दिन में निष्ठापूर्वक आराधना करने वाले श्रेष्ठी के सान्निध्य के लिए यह सब कुछ किया था, अतः धर्म में प्रमाद मत करना । अब में तेली व किसान देव, जो राजा बने हैं उनके प्रतिबोध के लिए जाता हूँ ।''-इस प्रकार कहकर उस देव ने उन दोनों राजाओं को अपना पूर्वभव स्वप्न में दिखलाया । उन दोनों को भी जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और उन्होंने श्राद्ध-धर्म स्वीकार किया और विशेषकर छह पर्वदिनों में वे भी उत्तम आराधना करने लगे ।

श्रेष्ठी देव की वाणी से उन तीनों राजाओं ने अपने-अपने देश में अमारि की घोषणा की, अपने देश को सातों व्यसनों से मुक्त किया । स्थान-स्थान पर नवीन मन्दिरों का निर्माण कराया । तीर्थ-यात्रा व साधर्मिक वात्सल्य आदि के अनेक कार्य किये ।

पर्व के पहले दिन पटह की उद्घोषणा पूर्वक सर्वलोकों को धर्ममार्ग में इस प्रकार जोड़ा कि जिससे एकछत्र साम्राज्य की तरह जैनधर्म की महिमा होने लगी । तीर्थंकर की विहारभूमि की तरह उन देशों में श्रेष्ठी देव के सान्निध्य के कारण ईति, अकाल, स्वचक्र-परचक्र का भय, व्याधि, अशिव आदि उपद्रव नहीं हुए ।

ऐसी कौनसी बात है जो दुःसाध्य होने पर भी धर्म के प्रभाव से सुसाध्य न बने ।

इस प्रकार सुख व धर्ममय राजलक्ष्मी को दीर्घकाल तक भोगकर अन्त में उन तीनों राजाओं ने दीक्षा स्वीकार की । दीर्घ तप के प्रभाव से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । श्रेष्ठी देव भी स्थान-स्थान पर उनकी महिमा करने लगे । वे केवली भगवन्त भी पृथ्वीतल पर विचर कर अपनी आत्मकथा व उपदेशों के द्वारा पर्व एवं धर्म साम्राज्य की महिमा बतलाकर अनेक भव्यजीवों का निस्तार कर मोक्ष में गये ।

श्रेष्ठी देव भी अच्युत देवलोक से च्यवकर बड़े राजा बने और पर्व की महिमा को सुनकर उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ । अन्त में दीक्षा लेकर वे मोक्ष गये ।

60. चतुर्थ-प्रकाश चातुर्मासिक-कृत्य

पर्वकृत्यों का वर्णन करने के बाद अब चातुर्मासिक कृत्यों का वर्णन करते हैं–

जिसने परिग्रह-परिमाण का नियम लिया हो उसे प्रत्येक चातुर्मास के पूर्व उसका संक्षेप करना चाहिए। जिसने नियम नहीं लिया हो उसे भी प्रत्येक चातुर्मास के योग्य नियमों को स्वीकार करना चाहिए और अभिग्रह लेने चाहिए।

वर्षाकालीन चातुर्मास में सविशेष नियम लेने चाहिए। जिन नियमों को लेने से बहुत अधिक लाभ होता हो और नहीं लेने से बहुत विराधना होती हो और धर्म की अपभ्राजना होती हो, वे नियम विशेष करके ग्रहण करने चाहिए। जैसे-वर्षा ऋतु में गाड़े चलाना निषिद्ध है। बादल तथा वर्षा होने से ईलिका आदि पड़ने के कारण रायण (खिरनी) व आम आदि का त्याग ही उचित है।

देश, नगर, ग्राम, जाति, कुल, वय तथा अवस्था आदि की अपेक्षा समुचित नियम अवश्य स्वीकार करने चाहिए। ये नियम दो प्रकार के हैं-(1) जिनका कठिनाई से पालन हो सके और (2) जिनका पालन करना सरल हो।

धनवान, व्यापारी तथा अविरतिधर लोगों के लिए सचित्त रस तथा शाक का त्याग तथा सामायिक आदि का स्वीकार कठिन है तथा पूजा, दान आदि का पालन सरल है; जबकि निर्धन व्यक्ति के लिए इससे विपरीत स्थिति होती है। यदि चित्त की एकाग्रता हो तो, जैसे चक्रवर्ती और शालिभद्र आदि ने दीक्षा ली, वैसे सब-कुछ सरल है।

कहा है– ``तभी तक मेरुपर्वत की ऊँचाई है, समुद्र दुस्तर है और कार्य की गति विषम है, जब तक धीर पुरुष प्रवृत्त नहीं होते हैं।'' कठिन नियमों के पालन में अशक्त व्यक्ति को भी सरल नियमों को स्वीकार अवश्य करना चाहिए।

मुख्यतया वर्षा ऋतु में सर्व दिशाओं में गमन का निषेध उचित है। कृष्ण महाराजा और कुमारपाल ने इन नियमों का पालन किया था। इतना भी नियम शक्य न हो तो जिस दिशा में जाने के बिना चल सकता है उस दिशा का नियम करना चाहिए। सर्व सचित्त का त्याग शक्य न हो तो जिनके बिना निर्वाह हो सकता हो, उनको अवश्य छोड़ना चाहिए।

जब जिसके पास जो वस्तु नहीं होती हो, जैसे-गरीब के घर हाथी आदि, मरुस्थल में नागरबेल, अपनी-अपनी ऋतु के बिना आम्रफल; इत्यादि वस्तुओं का तो अवश्य नियम करना चाहिए। इस प्रकार अविद्यमान वस्तु के त्याग से भी महान् लाभ होता है।

द्रमक का दृष्टान्त

राजगृही नगरी में एक द्रमक (भिखारी) ने दीक्षा ली थी। `इसने तो बहुत छोड़ा' इस प्रकार कहकर लोग उसकी मजाक करते। लोगों के उपहास को देखकर गुरु (सुधर्मास्वामी) ने वहाँ से विहार की तैयारी की। अभयकुमार मंत्री को पता चलते ही उसने चौराहे पर तीन करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं के ढेर

कर लोगों को बुलाकर कहा-``जो कुए के जल, अग्नि और स्त्री के स्पर्श का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करेगा वह इस ढेर को ग्रहण कर सकेगा ।''

लोगों ने सोचकर कहा-``तीन करोड़ स्वर्णमुद्राओं का त्याग शक्य है, किन्तु जल आदि तीनों का त्याग शक्य नहीं है ।''

तब अभयकुमार ने कहा-``अरे मूर्खो ! तो फिर इस द्रमक मुनि पर क्यों हँसते हो ? जल आदि का त्याग किया होने से इन्होंने इन तीन करोड़ स्वर्णमुद्राओं का भी तो त्याग किया है ।''

प्रतिबोध पाकर लोगों ने अपने अपराध की क्षमायाचना की । अविद्यमान वस्तु के त्याग में उपर्युक्त दृष्टान्त है ।

अतःअसम्भव वस्तु के त्याग का भी नियम लेना चाहिए । नियम न लें तो उन-उन वस्तुओं का उपयोग नहीं करने पर भी अविरत पशुओं की तरह उन नियमों के फल से वंचित रहते हैं । सन्तोष से नहीं, दुःसह शीत, वायु, धूप, आदि के क्लेश सहन किये परन्तु तप नहीं किया, रात-दिन, प्राणों को नियन्त्रित करके धन का ध्यान किया परन्तु मुक्तिपद का नहीं अतः क्षमा, त्याग, ध्यान आदि जो मुनि करते हैं, वह सब किया, परन्तु उसके फल से वंचित रहे ।''

एक बार भोजन करने पर भी पच्चक्खाण लिये बिना 'एकाशना' आदि का लाभ नहीं मिलता है ।

लोक में भी किसी का धन लम्बे समय तक उपयोग में लेने पर भी पूर्वनिर्णय के बिना ब्याज की प्राप्ति नहीं होती है ।

अविद्यमान वस्तु का नियम ले लेने पर कदाचित् संयोगवश वह वस्तु प्राप्त हो जाय तो भी नियमबद्ध व्यक्ति उसे ग्रहण नहीं करेगा और जिसके नियम नहीं है, वह ग्रहण भी कर सकता है, अतः नियमग्रहण का फल व्यक्त ही है ।

वंकचूल ने गुरुदेव के पास अज्ञात फल नहीं खाने का नियम लिया था । जंगल में भूख लगने पर साथियों के द्वारा बहुत आग्रह करने पर भी उसने अज्ञात नाम वाले किंपाक फलों को नहीं खाया था, जबकि उसके साथियों ने खा लिया था, परिणामस्वरूप वे सब मृत्यु को प्राप्त हुए ।

मूल गाथा में प्रति चातुर्मास का निर्देश उपलक्षण रूप होने से भाव यह है कि पक्ष, एक मास, दो मास, तीन मास, एक-दो वर्ष अथवा अपनी शक्ति के अनुसार नियम लेने चाहिए । जो जितने काल के लिए नियमपालन में समर्थ हो उसे उतने काल का नियम ले लेना चाहिए । नियम बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए । क्योंकि विरति का महाफल होता है; जबकि अविरति से बहुत से कर्मों का बंध होता है ।

यहाँ जो नित्यनियम पहले बतलाये है, उन्हें वर्षाऋतु में विशेष रूप से ग्रहण करना चाहिए ।

दिन में दो अथवा तीन बार पूजा, अष्ट प्रकारी पूजा, सम्पूर्ण देव-वन्दन, मन्दिर में सर्व बिम्बों की पूजा अथवा वन्दन, स्नात्र पूजा, महापूजा, प्रभावना, गुरु को द्वादशावर्त वन्दन, प्रत्येक साधु को

वन्दन, चौबीस लोगस्स का कायोत्सर्ग, नवीन ज्ञानार्जन, सेवा, ब्रह्मचर्य, उचित जल-पान, सचित्त त्याग, बासी द्विदल (दलहन), बासी पूड़ी, पापड़, बड़ी आदि सूखे शाक, तन्दुलीयक आदि की भाजी, खारक, खजूर, द्राक्ष, खांड, सूंठ आदि का फूलन, कुंथु, ईलिका आदि जीवों की उत्पत्ति की सम्भावना होने से त्याग करें ।

औषध आदि विशेष कार्य हेतु लेनी पड़े तो अच्छी तरह से साफ कर यतनापूर्वक लेनी चाहिए । शक्ति अनुसार खाट, स्नान, केश-सज्जा, दातुन, जूते, आदि का त्याग करना चाहिए । भूमिखनन, वस्त्रों को रंगना. गाड़ी आदि चलाना तथा दूसरे गाँव जाने का त्याग करना चाहिए ।

घर, हाट, दीवार, स्तम्भ, खाट, कपाट, पाट, पाटला, सीका तथा घी, तेल व पानी के बर्तन तथा अन्य बर्तन, ईंधन, धान्य आदि सभी वस्तुओं को लीलफूल की उत्पत्ति से बचाने के लिए किसी को चूना लगायें, किसी को राख लगायें, किसी का मैल दूर करें, किसी को धूप में सुखायें तथा ठण्डे व नमी वाले स्थान पर न रखें ।

पानी को दो-तीन बार छानना चाहिए। घी, तेल, गुड़, छाछ, जल आदि के बर्तन अच्छी तरह से ढककर रखने चाहिए ।

अवश्रावण (चावल वगैरह का धोवन) तथा स्नान जल को भी जहाँ पर लीलफूल न हो वैसी भूमि पर थोड़ा-थोड़ा डालना चाहिए । चूल्हे व दीपक को खुला न रखें । कूटने, पीसने, पकाने तथा वस्त्र-बर्तन आदि साफ करते बराबर देखना चाहिए चैत्यशाला आदि की आवश्यक मरम्मत भी यतनापूर्वक करनी चाहिए ।

उपधान, मास आदि प्रतिमा, कषायजय, इन्द्रियजय, योगशुद्धि, वीश-स्थानक, अमृत अष्टमी, ग्यारह अंग, चौदह पूर्व आदि तप तथा नमस्कारफल तप, चौबीसी तप, अक्षयनिधि तप, दमयन्ती तप, भद्रश्रेणी तप, महाभद्रश्रेणी तप, संसारतारण तप, अट्ठाई तप, पक्षक्षमण, मासक्षमण आदि तपस्याएँ यथाशक्ति करनी चाहिए । रात्रि में चौविहार तथा तिविहार का पच्चक्खाण करना चाहिए । पर्व दिनों में विगई का त्याग तथा पौषध उपवास आदि करने चाहिए । पारणे में अतिथि-संविभाग व्रत रखना चाहिए । पूर्वाचार्यों ने भी चातुर्मास के अभिग्रह इस प्रकार बतलाये हैं–

चातुर्मास में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार तथा वीर्याचार में द्रव्य आदि से अनेक प्रकार के अभिग्रह धारण करने चाहिए ।

पुनरावर्तन, स्वाध्याय, उपदेशश्रवण तथा चिन्तन एवं शुक्ल पंचमी को ज्ञान की पूजा शक्ति-अनुसार करनी चाहिए । ये ज्ञानाचार के नियम हैं ।

जिनमन्दिर में सम्मार्जन (झाड़ू निकालना), लीपना, गहुँली करना, जिनपूजा, वन्दन तथा जिनबिम्बों को निर्मल करना चाहिए । ये दर्शनाचार के नियम हैं । फसल या पेड़-पौधे पर जंतु नाशक दवाई छाँटने का त्याग करना चाहिए । त्रस काय की रक्षा निमित्त ईंधन, अग्नि आदि की यतना करने का नियम करना ये चारित्राचार तथा स्थूल प्राणातिपात व्रत के नियम हैं ।

किसी पर झूठा कलंक न दें । आक्रोश न करें । कठोर वचन न बोलें, देव-गुरु की सौगन्ध न खायें । किसी की चुगली न करें । किसी की निन्दा न करें । ये द्वितीय व्रत के नियम हैं ।

माता-पिता की दृष्टि बचाकर काम न करें ।

दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करें व रात्रि में पुरुष को परस्त्री का तथा स्त्री को परपुरुष का सेवन नहीं करना चाहिए ।

धन-धान्य आदि नौ प्रकार के परिग्रह के परिमाण में सक्षेप करें ।

दिक् परिमाण व्रत में भी दूसरे को भेजने का, दूसरे के साथ सन्देशा कहलाने का, अधोभूमि में गमन करने आदि का त्याग करें ।

स्नान, अंगराग, धूप, विलेपन, आभरण, फूल, तंबोल, बरास, अगुरु, कुंकुम, अंबर, कस्तूरी आदि का परिमाण करें ।

मजीठ, लाख, कसुम्बा तथा गुली इन रंगों से रंगे हुए वस्त्रों का परिमाण करें । रत्न, वज्र, मणि, स्वर्ण, रजत, मोती आदि का परिमाण करें ।

जंबीरफल, आम, जामुन, रायण, नारंगी, बिजोरा, ककड़ी, अखरोट, वायम, कैथ, टिंबरु, बेलफल, खजूर, द्राक्ष, दाड़िम, उत्ततिय, नारियल, केला, बेर, बिल्लु, चीभड़ा, चीभड़ी, कैर, करमदे, भोरड़, इमली, अंकुरित अनेक जाति के फूल, पत्र, सचित्त बहुबीज, अनन्तकाय आदि का भी त्याग करें । विगई तथा विगईगत वस्तु का परिमाण करें ।

वस्त्र धोना, लीपना, क्षेत्र-खनन करना, स्नान, अन्य की जूं निकालना तथा अनेक प्रकार के क्षेत्र के कार्यों का संक्षेप करना चाहिए ।

कूटना, पीसना, असत्य साक्षी देने आदि का तथा जल में स्नान, अन्न रांधने का, उबटन आदि का संक्षेप करना ।

देशावगासिक व्रत में भू-खनन, पानी मंगाने का, वस्त्र धोने का, स्नान करने का, जल पीने का, अग्नि जलाने का, दीपक प्रगटाने का, पंखा वगैरह चलाने का, हरी वनस्पति काटने का, गुरुजन के साथ बिना विचारे अमर्यादित बोलने का तथा अदत्तग्रहण करने का नियम धारण करना चाहिए ।

पुरुष तथा स्त्री के आसन पर बैठने का, शय्या में सोने का एवं स्त्री-पुरुष के साथ संभाषण करने का, नजर से देखने का, व्यवहार, दिशा, भोग-परिभोग तथा समस्त अनर्थदण्ड में संक्षेप करना चाहिए । सामायिक, पौषध, अतिथिसंविभाग करने की संख्या नियत करनी चाहिए ।

कूटना, पीसना, पकाना, भोजन करना, खोदना, वस्त्र रंगना, कातना, पींजना, लोढ़ना, सफेदी देना, लीपना, सुशोभित करना, वाहन की सवारी करना, अनावश्यक घास काटना, लीख आदि देखना, जूतों का उपयोग करना, क्षेत्र काटना, ऊपर से धान काटना, दलना आदि जो कार्य हैं उनका यथासम्भव प्रतिदिन संक्षेप करना एवं पढ़ने-गुणने में, जिनमन्दिर के दर्शन तथा कार्यों में, धर्मोपदेश सुनने में तथा वर्षभर में जो अष्टमी, चतुर्दशी, कल्याणक तिथि आदि आती हैं उनमें विशेष तप करने का उद्यम करना चाहिए ।

धर्म के लिए मुहपत्ती देना, पानी छानने के छन्ने देना, औषध आदि देना, साधर्मिक वात्सल्य करना तथा यथाशक्ति गुरु का विनय करना चाहिए ।

हरेक महीने में अमुक सामायिक तथा वर्ष में अमुक पौषध, अतिथिसंविभाग करने चाहिए ।

चौमासी नियम पर विजयश्री कुमार का दृष्टान्त है ।

चौमासी नियम

विजयपुर नगर में विजयसेन नाम का राजा था । उसके बहुत से पुत्र थे । उनमें विजयश्री रानी का पुत्र राज्यधुरा को वहन करने में योग्य होने से-`इसे अन्य कोई मार न दे' इस दृष्टि से राजा उसको सम्मान नहीं देता था । राजा के इस व्यवहार से उस राजपुत्र को खेद हुआ । वह सोचने लगा । ``पैर से तिरस्कृत धूल भी तिरस्कार करने वाले के मस्तक पर चढ़ती है अतः मौन होकर अपमान सहन करने वाले की अपेक्षा तो वह धूल श्रेष्ठ है''-अतःमुझे यहाँ रहने से क्या मतलब ? अब मैं देशान्तर जाऊंगा । ``घर से बाहर निकलकर जो पुरुष आश्चर्यों से रम्य सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल को नहीं देखता है, वह पुरुष कुए में रहे मेंढक के समान है ।''

``पृथ्वीतल पर भ्रमण करने वाला व्यक्ति देश की भाषाओं को जानता है तथा वहाँ की विचित्र प्रकार की नीतियों को जानता है तथा अनेक प्रकार के आश्चर्यों को देखता है ।'' इस प्रकार विचार कर वह राजकुमार हाथ में तलवार लेकर एक रात को अपने भवन से निकल गया और पृथ्वी पर इच्छापूर्वक भ्रमण करने लगा । एक बार वह किसी जंगल में मध्याह्न समय भूख और प्यास से दुःखी होने लगा । उसी समय सर्व अलंकारों से अलंकृत किसी दिव्य पुरुष ने आकार उसे स्नेहपूर्वक बुलाकर सर्वउपद्रवों को दूर करने वाला एक रत्न और सर्व इष्ट को साधने वाला दूसरा रत्न प्रदान किया ।

कुमार ने पूछा-``तुम कौन हो ?''

उसने कहा-``अपने नगर में पहुँचने पर मुनि की वाणी से मेरे चरित्र को जान सकोगे ।''

उसके बाद वह राजकुमार उस रत्न की महिमा से इच्छापूर्वक विलास करता हुआ कुसुमपुर नगर में आया । उस नगर के महाराजा देवशर्मा की आँख में भयंकर पीड़ा होने से उनकी पीड़ा निवारण के लिए पटह बजाया गया था । राजकुमार ने उस रत्न के प्रभाव से राजा की पीड़ा दूर की । प्रसन्न होकर राजा ने राज्य तथा अपनी पुण्यश्री नाम की पुत्री प्रदान की और स्वयं ने दीक्षा स्वीकार कर ली । बाद में उसके पिता राजा ने भी उस राजकुमार को अपना राज्य सौंपकर दीक्षा स्वीकार कर ली । इस प्रकार वह दोनों राज्यों पर अपना शासन चलाने लगा ।

एक बार तीन ज्ञान के धारक देवशर्मा राजर्षि ने इस प्रकार उसका पूर्वभव कहा-``क्षेमापुरी में सुव्रत नाम का सेठ था, जिसने यथाशक्ति चातुर्मासिक नियमों को स्वीकार किया था । उसका एक नौकर भी प्रतिवर्ष चातुर्मास में रात्रिभोजन, मधु, मद्य तथा मांस त्याग का नियम करता था । वही नौकर मरकर राजकुमार के रूप में तुम पैदा हुए हो और सुव्रत सेठ का जीव मरकर ऋद्धिमन्त देव हुआ है । उसी देव ने पूर्वभव की प्रीति के कारण तुम्हें दो रत्न दिये थे । इस प्रकार अपने पूर्वभव को सुनने से उस राजा को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । अनेक नियमों का पालन कर वह स्वर्ग में गया । वहाँ से च्यवकर महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष में जाएगा ।

लौकिक-शास्त्रों का समर्थन

लौकिक ग्रन्थों में भी ये बातें कही हैं । वशिष्ठ ने कहा है-``हे ब्रह्मदेव ! महासमुद्र में विष्णु क्यों सोते हैं और उनके सोने पर क्या त्याग करना चाहिए । और उस त्याग का क्या फल है ?'' ब्रह्मदेव ने कहा-``हे वशिष्ठ ! विष्णु वास्तव में सोते नहीं है और न ही जागते हैं, परन्तु वर्षा ऋतु में विष्णु में इस प्रकार का उपचार किया जाता है । विष्णु जब योगनिद्रा में हों तब क्या-क्या छोड़ना चाहिए, सो सुनो-

(चातुर्मास में) य़ात्रा नहीं करनी चाहिए और मिट्टी को नहीं खोदना चाहिए । जो बैंगन, चौले, बाल, कलथी, तुअर, कालिंगा, मूला तथा तांदलजा की भाजी का त्याग करता है तथा हे राजन् ! जो मनुष्य चातुर्मास में एक दफा भोजन करता है वह मनुष्य चतुर्भुज (देव) बनकर परम-पद प्राप्त करता है ।

``जो मनुष्य रात्रिभोजन नहीं करता है तथा विशेष करके चातुर्मास में रात्रिभोजन नहीं करता है, वह इस लोक और परलोक में समस्त इच्छित वस्तु को प्राप्त करता है । जो मनुष्य विष्णु के सोने पर मद्य-मांस को छोड़ता है वह प्रत्येक मास में अश्वमेध यज्ञ करके सौ बरस तक जयवन्त वर्तता है ।'' मार्कण्डेय बोले -``हे राजन् ! जो मनुष्य (चातुर्मास में) तेलमालिश नहीं करता है, वह बहुत से पुत्र व धन से युक्त नीरोग बनता है । पुष्पादि के भोगत्याग से मनुष्य स्वर्गलोक में पूजा जाता है । जो मनुष्य कड़वे, खट्टे, तीखे, मीठे और खारे रसों का त्याग करता है, वह पुरुष कभी कुरूपता और दुर्भाग्य को प्राप्त नहीं करता है । `` हे राजन ! ताम्बूल के त्याग से व्यक्ति भोगी बनता है और लावण्य प्राप्त करता है ।'' ``हे राजन ! चातुर्मास में गुड़ का त्याग करने से वह मनुष्य मधुर स्वर पाता है, फल, पत्र व शाक को छोड़ने से मनुष्य पुत्र व धन को पाता है ।''

`` ताप से पकायी वस्तु के त्याग से मनुष्य पुत्र-पौत्रादि की संतति प्राप्त करता है और भूमि पर संथारा कर सोने वाला विष्णु का सेवक बनता है ।''

``दही व दूध के त्याग से मनुष्य गोलोक प्राप्त करता है । दो प्रहर तक जल का त्याग करने से वह मनुष्य रोगों से मुक्त बनता है ।''

``एकान्तर उपवास करने वाला ब्रह्मलोक में पूजा जाता है । जो पुरुष चातुर्मास में नाखून व केश नहीं काटता है, वह प्रतिदिन गंगास्नान का फल पाता है ।''

जो मनुष्य अन्य के भोजन का त्याग करता है वह अनन्त पुण्य पाता है । जो मौनपूर्वक भोजन नहीं करता है, वह केवल पाप को भोगता है ।''

हमेशा मौनपूर्वक भोजन करने वाला उपवास का फल पाता है, अतःचातुर्मास में सर्व प्रयत्न-पूर्वक व्रतधारी बनना चाहिए; इत्यादि **भविष्योत्तर पुराण** में कहा गया है ।

61. पंचम-प्रकाश-वार्षिक कृत्य

चातुर्मासी कृत्य कहने के बाद अब वार्षिक-कृत्य कहते हैं । प्रतिवर्ष कम-से-कम एक बार निम्नलिखित ग्यारह कृत्य अवश्य करने चाहिए ।

1) चतुर्विध-संघ की पूजा । 2) साधर्मिक-भक्ति ।

3) यात्रा त्रिक-तीर्थयात्रा, स्थयात्रा और अष्टाह्निक महोत्सव ।

4) जिनमन्दिर में स्नात्र-महोत्सव । 5) देवद्रव्य की वृद्धि-माला ।
6) महापूजा 7) रात्रि में धर्म जागरिका ।
8) श्रुतज्ञान की विशेष पूजा । 9) उद्यापन
10) जिनशासन प्रभावना 11) आलोचना ।

ये धर्मकृत्य श्रावक को यथाशक्ति अवश्य करने चाहिए ।

1) **संघपूजा :-** अपने वैभव तथा कुल आदि के अनुसार अत्यन्त आदर व बहुमान के साथ आधाकर्म, क्रीत आदि दोषों से रहित साधु-साध्वी के योग्य वस्त्र, कम्बल, ओघा, सूत, ऊन, पात्र, पानी आदि रखने के चमड़े के बर्तन, तुंबड़ा आदि पात्र, दण्ड, दण्डी, सुई, काँटे निकालने हेतु चिमटा, कागज, दवात, कलम, पुस्तक आदि वस्तु गुरु को देनी चाहिए । **दिनकृत्य** में भी कहा है–

``वस्त्र, पात्र, पाँचों प्रकार की आपवादिक पुस्तक, कम्बल, पाद-पोंछनक, दण्ड, संथारा, शय्या तथा अन्य भी औघिक और औपग्रहिक उपधि मुहपत्ती, दण्ड आदि जो संयम के लिए सहायक हो, देना चाहिए ।'' **कहा भी है**-``जो वस्तु संयम के लिए उपकारी हो, उसे उपकरण कहते हैं, उससे अधिक रखना अधिकरण कहलाता है । अयतनापूर्वक वस्तुओं का उपयोग करने वाला असंयत कहलाता है ।''

इसी प्रकार प्रातिहारिक, पीठ, फलक, पाटी, आदि भी संयम के लिए उपकारी होने से सभी साधुओं को श्रद्धापूर्वक देने चाहिए ।

श्रीकल्प में सुई आदि को भी उपकरण कहा है । जैसे-अशन, वस्त्र तथा सुई ये चार-चार वस्तुएँ अर्थात् 12 वस्तुएँ ।

- **अशन चतुष्क –** (1) अशन (2) पान (3) खादिम और (4) स्वादिम ।
- **वस्त्र चतुष्क –** (1) वस्त्र (2) पात्र (3) कम्बल और (4) पाद पोंछनक ।
- **सुई चतुष्क –** (1) सुई (2) उस्तरा (3) नख छेदक (4) कर्णशोधक ।

इसी प्रकार श्रावक-श्राविका रूप संघ का भी यथाशक्ति भक्तिपूर्वक सत्कार करना चाहिए । देव और गुरु आदि के गुणगान करने वाले याचक आदि का भी यथोचित सम्मान करना चाहिए । संघपूजा तीन प्रकार की है-(1) उत्कृष्ट (2) मध्यम और (3) जघन्य । चतुर्विध संघ को पहेरामणी करने से उत्कृष्ट तथा सूत आदि से जघन्य और शेष मध्यम कहलाती है ।

अधिक व्यय करने की शक्ति नहीं होने पर भी गुरु को सूत की मुहपत्ती आदि देकर तथा दो-तीन श्रावक-श्राविकाओं को सुपारी आदि देकर भी प्रतिवर्ष संघपूजा के इस कृत्य को अवश्य करना चाहिए । गरीब के लिए उतना पालन करना भी महाफलदायी है ।

कहा है– ``सम्पत्ति होने पर नियम करना, शक्ति होने पर भी सहन करना, युवावस्था में व्रत स्वीकार करना तथा दारिद्र्य अवस्था में थोड़ा भी दान देना महान् लाभ के लिए होता है ।''

मंत्री वस्तुपाल आदि प्रत्येक चातुर्मास में सर्वगच्छ के संघ की पूजा करते थे और धर्म के कार्यों में बहुत-सा धन व्यय करते थे ।

दिल्ली में जगसी सेठ का पुत्र महणसिंह तपागच्छ के अधिपति श्री देवसुन्दर सूरि का भक्त था । उसने एक ही संघपूजा में समस्त संघ की भक्ति करते हुए चौरासी हजार सोना मोहर का व्यय किया

था । दूसरे ही दिन पण्डित देवमंगलगणि के प्रवेश समय संक्षिप्त संघपूजा में छप्पन हजार टंक का खर्च किया था । पहले महणसिंह ने ही गुरुदेव को आमंत्रण भेजा था और आचार्य गुरुदेव ने ही देवमंगल गणि को भेजा था ।

2) **साधर्मिक वात्सल्य :-** सभी साधर्मिकों का अथवा अपनी शक्ति के अनुसार कुछ साधर्मिकों का वात्सल्य अवश्य करना चाहिए । समान धार्मिक की प्राप्ति अत्यन्त दूर्लभ है । ग्रन्थकार ने कहा है- ``सभी ने सभी के साथ सभी प्रकार के सम्बन्ध प्राप्त किये हैं, परन्तु साधर्मिक के सम्बन्ध को पाने वाले तो बहुत थोड़े ही होते हैं ।''

साधर्मिक का सम्बन्ध महान् पुण्य के लिए होता है तो फिर उसके अनुरूप सेवा-भक्ति करें तो महान् पुण्यबन्ध हो इसमें क्या आश्चर्य है । **कहा है**– ``एक ओर सारा धर्म हो और दूसरी और सिर्फ साधर्मिक वात्सल्य हो । बुद्धि रूपी तराजू से तौलने पर वे दोनों तुल्य कहलाते हैं ।''

साधर्मिकों की सेवा-भक्ति इस प्रकार करनी चाहिए । अपने पुत्रादि के जन्मोत्सव पर अथवा विवाह आदि अन्य प्रसंगों पर साधर्मिकों को आमंत्रण देना चाहिए और विशिष्ट भोजन, तांबूल, वस्त्र-आभरण आदि देने चाहिए तथा आपत्ति में हों तो अपना धन खर्च करके भी उनका उद्धार करना चाहिए ।

अन्तराय दोष से किसी का विभव क्षय हुआ हो तो उसे पुनःपूर्वावस्था में लाना चाहिए । जो अपने साधर्मिकों को समृद्ध नहीं करता है, उसकी समृद्धि से भी क्या फायदा ? **कहा भी है**– ``जिसने गरीबों का उद्धार नहीं किया, साधर्मिकों का वात्सल्य नहीं किया और हृदय में वीतराग को धारण नहीं किया, सचमुच, वह अपने जन्म को हार गया है ।''

साधर्मिक यदि धर्म में शिथिल हों तो उन्हें उन-उन उपायों से धर्म में स्थिर करना चाहिए । प्रमाद करने वालों को स्मरण, निवारण, प्रेरणा और विशेष प्रेरणा भी करनी चाहिए । **कहा है**– ``कर्त्तव्य का विस्मरण होने पर याद कराना वह सारणा कहलाती है । अनाचार में प्रवृत्त हो तो उसे रोकना वह वारणा कहलाती है । वारणा करने पर भी भूल करे तो उसे प्रेरणा करनी चाहिए । वह चोयणा कहलाती है तथा बार-बार भूल करे तो कठोर दण्ड करे वह पडिचोयणा कहलाती है।''

साधर्मिक को वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा में यथायोग्य जोड़ना चाहिए । विशिष्ट धर्मानुष्ठान करने के लिए साधारण पौषधशाला आदि बनवानी चाहिए । श्रावक की तरह श्राविका की भी भक्ति अन्यूनाधिक रूप से करनी चाहिए । ज्ञान, दर्शन और चारित्र वाली, शील व सन्तोष वाली सधवा या विधवा स्त्री जिनशासन की रागी होने से साधर्मिक के रूप में मान्य है ।

प्रश्न :- स्त्री तो लोक और लोकोत्तर में दोष की भाजन है । कहा है– ''स्त्री तो भूमिरहित विषकंदली है । आकाश के बिना उत्पन्न वज्र है, जिसकी औषध नहीं है ऐसी बीमारी है, कारण बिना की मृत्यु है, निमित्त बिना का उत्पात है, फण बिना की सर्पिणी है, गुफा बिना की व्याघ्री है, गुरु व बन्धु के स्नेह को तोड़ने वाली तथा असत्य बोलने वाली तथा मायावी है ।'' और भी कहा है– ''झूठ, साहस, माया, मूर्खता, अतिलोभ, अपवित्रता व निर्दयता ये स्त्री के स्वाभाविक दोष हैं ।'' ''हे गौतम ! जब अनन्त पापराशि इकट्ठी होती है, तब आत्मा स्त्री के रूप में जन्म लेती है ।'' सभी शास्त्रों में भी प्रायःस्थान-स्थान पर उसकी निन्दा देखने में आती है, अतः उन्हें दूर से ही छोड़ देना चाहिए ; तो फिर उसके दान, सम्मान व वात्सल्य का विधान क्या योग्य है?

उत्तर :- यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि स्त्रियों में ही बहुत से दोष पाये जाते हों । पुरुष में भी बहुत से दोष पाये जाते हैं । कई पुरुष भी क्रूर, दोषी, नास्तिक, कृतघ्न, स्वामी- द्रोही, विश्वासघाती, असत्यवादी, परस्त्री-रक्त, निर्दय तथा देव-गुरु को ठगने वाले होते हैं । इतने मात्र से महापुरुषों की अवज्ञा करना उचित नहीं है । इसी प्रकार योग्य स्त्री की भी उपेक्षा करना उचित नहीं है । यद्यपि कुछ स्त्रियों में बहुत से दोष पाये जाते हैं फिर भी उनमें बहुत-सी गुणसम्पन्न भी होती हैं । तीर्थंकर की माता स्त्री होने पर भी अपनी गुणगरिमा के कारण इन्द्रों के द्वारा पूजी जाती है और मुनियों के द्वारा भी उसकी स्तुति की जाती है । लौकिक शास्त्र में भी कहते हैं-जगत् के गुरु बनने वाले गर्भ को भी स्त्री ही वहन करती है, इसी कारण विद्वान् पुरुष उसकी निरतिशय महिमा कहते हैं ।

कई स्त्रियाँ अपने शील के प्रभाव से अग्नि को जल के जैसा, जल को स्थल के जैसा, हाथी को सियार के जैसा, सर्प को डोरी के जैसा तथा विष को अमृत के जैसा करती हैं । चतुर्वर्णी संघ में चौथा अंग श्राविका का ही है । शास्त्र में जो उसकी निन्दा की गयी है, उसके पीछे मुख्य उद्देश्य उसमें आसक्त पुरुषों को आसक्तिमुक्त कराने का ही है । सुलसा आदि श्राविकाओं की तीर्थंकरों ने भी प्रशंसा की है । इन्द्रों ने भी स्वर्ग में उनकी धर्म में दृढ़ता की प्रशंसा की है, प्रबल मिथ्यादृष्टि भी जिनका सम्यक्त्व डिगा नहीं सके । कई चरमशरीरी होती हैं । कई स्त्रियाँ दो-तीन भवों में मोक्ष में जाने वाली हैं, ऐसा भी शास्त्र में सुनने में आता है । अतः स्त्रियों का भी माता, बहिन व पुत्री की तरह वात्सल्य करना युक्तिसंगत ही है ।

राजाओं को अतिथि-संविभाग व्रत की आराधना साधर्मिक वात्सल्य से ही सम्भव है, क्योंकि राजपिंड तो मुनियों के लिए अकल्प्य है ।

दण्डवीर्य

भरत की परम्परा में हुए त्रिखण्ड के अधिपति दण्डवीर्य राजा साधर्मिक को भोजन कराकर ही भोजन करते थे । एक बार इन्द्र ने उनकी परीक्षा करने का निर्णय किया । उसने ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नों की सूचक स्वर्ण की जनोई तथा बारह व्रत के सूचक बारह तिलक करने वाले तथा भरत विरचित चार वेदों का मुखपाठ करने वाले करोड़ों तीर्थयात्रिक श्रावकों की रचना की । दण्डवीर्य उनको निमंत्रण देकर भक्तिपूर्वक भोजन कराने लगे । भोजन पूर्ण होने के पहले ही सूर्य अस्त हो गया । इस प्रकार आठ उपवास हो जाने पर भी उनकी साधर्मिक भक्ति तो वर्धमान तरुण पुरुष की शक्ति की भाँति बढ़ने ही लगी । यह देख इन्द्र प्रसन्न हो गये और उन्होंने दिव्य धनुष, बाण, रथ, हार व कुण्डल-युगल के दानपूर्वक शत्रुंजय की यात्रा एवं उस तीर्थ के उद्धार के लिए आदेश दिया । दण्डवीर्य राजा ने भी वैसा ही किया ।

सम्भवनाथ प्रभु

सम्भवनाथ प्रभु अपने पूर्व के तीसरे भव में द्यातकी खण्ड के ऐरावत क्षेत्र में क्षेमापुरी नगरी में विमलवाहन नाम के राजा थे । उस समय उन्होंने समस्त साधर्मिकों को भोजन आदि खिलाकर जिननामकर्म का बन्ध किया । उसके बाद दीक्षा स्वीकार कर आनत देवलोक में देव बने और वहाँ से च्यवकर सम्भवनाथ बने ।

फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के दिन माँ की कुक्षि में उनके जन्म के साथ ही उसी दिन महादुर्भिक्ष दूर हो गया और उसी दिन चारों ओर से समस्त धान्यों का सम्भव (उत्पत्ति) हो जाने से उनका नाम सम्भव रखा गया । **बृहद्भाष्य** में भी कहा है– ``सं का अर्थ सुख होता है, उनको देखने से ही सर्व को सुख होता है, अतः उन्हें संभव कहते हैं । इस व्याख्या से सभी तीर्थंकर सम्भव कहलाते हैं ।''

सम्भवनाथ प्रभु के **'सम्भव'** नामकरण का दूसरा भी कारण है । एक बार काल के दोष से श्रावस्ती नगरी में अकाल पड़ा । सभी लोग दुःखी हो गये । उसी समय सेनादेवी की कुक्षि में सम्भवनाथ प्रभु का अवतरण हुआ । उस समय इन्द्र ने आकर माता की पूजा की और भुवन में सूर्य समान पुत्र के लाभ की वधामणी दी । उसी समय अचानक धान्य से भरपूर अनेक सार्थवाह वहाँ आये, उससे वहाँ सुभिक्ष हुआ, जिस कारण समस्त प्रकार के धान्य सम्भव हुए, इसी कारण माता-पिता ने उनका नाम सम्भव रखा ।

देवगिरि मे सेठ जगसिंह ने तीन सौ साठ साधर्मिकों को अपने समान सुखी किया था । उनके पास प्रतिदिन बहोत्तर हजार टंक का खर्च कराकर साधर्मिक वात्सल्य कराता था । इस प्रकार उस सेठ के प्रतिवर्ष तीन सौ साठ साधर्मिक वात्सल्य होते थे ।

थराद में श्रीमाली आभू संघपति ने तीन सौ साठ साधर्मिकों को अपने समान किया था । **कहा है**– ``उस स्वर्णपर्वत अथवा रजतपर्वत से भी क्या मतलब है, जिसके आश्रित वृक्ष, वृक्ष ही रहते हैं । मैं तो मलयाचल पर्वत को ही पर्वत मानता हूँ जहाँ के आम, नीम व कुटज के वृक्ष भी चन्दनमय होते हैं ।''

सारंग सेठ अपने पास पंच परमेष्ठी मंत्र का पाठ करने वालों को सभी को स्वर्णटंक देता था । एक चारण को पुनः पुनः कहने पर उसने नौ बार नवकार पढ़ा तो उसे नौ स्वर्ण मुद्राएँ दीं ।

3) **यात्रात्रिक :-** श्रावक को प्रतिवर्ष जघन्य से भी एक-एक यात्रा अवश्य करनी चाहिए । यात्रा तीन प्रकार की है । कहा भी है:– (1) अष्टाह्निक यात्रा । (2) रथयात्रा और (3) तीर्थयात्रा । बुध पुरुषों ने ये तीन यात्राएँ कही हैं । इनमें अष्टाह्निका का स्वरूप तो पहले कह चुके हैं । विस्तारपूर्वक समस्त चैत्यों की परिपाटी करने को अष्टाह्निक-यात्रा कहते हैं, इसे चैत्ययात्रा भी कहते हैं ।

हेमचन्द्राचार्य जी ने परिशिष्ट पर्व में रथयात्रा का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–सुहस्ति आचार्य भगवन्त जब अवन्ती में बिराजमान थे, तब संघ ने एक बार चैत्ययात्रा का उत्सव किया था । भगवान सुहस्ति आचार्य भी प्रतिदिन संघ के साथ चैत्ययात्रा में आकर मण्डप को अलंकृत करते थे । सुहस्ति सूरि म. का अत्यन्त लघु शिष्य के जैसा सम्प्रति राजा भी हाथ जोड़कर सामने बैठता था ।

यात्रा उत्सव के अन्त में संघ ने रथयात्रा की थी । रथयात्रा से ही यात्रोत्सव सम्पूर्ण होता है । रथयात्रा के समय सूर्य के रथ की उपमा वाला एवं स्वर्ण-माणिक्य की कान्ति से दिशाओं के मुख को प्रकाशित करने वाला रथ रथशाला में से बाहर लाया गया । विधि को जानने वाले एवं समृद्ध श्रावकों ने रथ में रही अरिहन्त की प्रतिमा की स्नात्रपूजा आदि आरम्भ की । अरिहन्त परमात्मा का अभिषेक करते समय, प्रभु के जन्मकल्याणक प्रसंग पर मेरुपर्वत से गिरने वाले जल की भाँति रथ में से स्नात्रजल नीचे गिरने लगा । मानों प्रभु से विज्ञप्ति करने के इच्छुक न हों, इस प्रकार मुखकोश बाँधकर श्रावकों ने

सुगन्धित द्रव्यों से प्रतिमा का विलेपन किया । मालती तथा कमल आदि की मालाओं से जब उस प्रतिमा की पूजा की गयी तब वह प्रतिमा शरद् ऋतु के बादलों से आवृत चन्द्रकला की भाँति शोभने लगी । जलते हुए अगरु आदि के धुएँ की रेखाओं से आवृत वह प्रतिमा मानों नील वस्त्र से पूजित न हो, इस प्रकार शोभने लगी ।

देदीप्यमान औषधियों के समुदाय वाले पर्वत के शिखर का अनुकरण करने वाली, जलती हुई शिखाओं वाली आरती से श्रावकों ने प्रभु की आरती की । उसके बाद श्री अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार कर अश्व की भाँति रथ के आगे होकर उन श्रावकों ने उस रथ को खींचा । स्त्रियाँ घेरा बनाकर नाच के साथ रासड़े ले रही थीं तथा चारों ओर श्राविकाएँ मंगल गीत गा रही थीं तब चार प्रकार के वाजित्र बजने के कारण सुन्दर दिखने वाला, हररोज प्रत्येक घर से विविध पूजा को स्वीकार करता हुआ, अत्यधिक कुंकुम (केसर) के जल से अभिसिक्त हुआ है आगे का भूतल जिसका ऐसा वह रथ क्रमशः सम्प्रति राजा के द्वार तक आया ।

रथ की पूजा के लिए सम्प्रति राजा भी पनस के फल की भाँति रोमांचित देहवाला वहाँ आया । आनन्द रूपी सरोवर में हंस की भाँति क्रीड़ा करने वाले सम्प्रति राजा ने रथ में आरूढ़ प्रतिमा की अष्टप्रकारी पूजा की ।

माता के मनोरथ की पूर्ति के लिए महापद्म चक्रवर्ती ने भी अत्यन्त आडम्बरपूर्वक रथयात्रा की थी ।

कुमारपाल की रथयात्रा

चैत्र मास की अष्टमी के दिन चौथे प्रहर में गतिमान मेरुपर्वत की भाँति जिनेश्वर का स्वर्ण का रथ आगे बढ़ता है । रथ स्वर्ण के दण्ड, ध्वजा, छत्र व चामर आदि से सुशोभित है । हर्षपूर्वक मिले हुए नगरजन भी आनन्दपूर्वक जय-जयकार कर रहे थे ।

स्नान, विलेपन व फूलों के समूह से पूजित पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा को कुमार-विहार के द्वार पर महाजन अत्यन्त ऋद्धिपूर्वक स्थापित करते हैं ।

वाद्ययंत्र की ध्वनि से आकाशमंडल गूंज उठा था । उस यात्रा में सुन्दर स्त्रीगण नृत्य कर रही थीं, ऐसा वह रथ सामन्तों व मंत्रियों के साथ राजा के भवन के पास आया । राजा भी रथ में रही प्रतिमा की पट्टवस्त्र व सोने के आभूषणों से स्वयं पूजा करता है और विविध नाटक कराता है । वह रथ एक रात्रि वहाँ रह कर, बाहर निकलकर सिंहद्वार के बाहर ध्वजा वाले मंडप में ठहरता है । वहाँ पर प्रभात काल में राजा रथ की जिनप्रतिमा की पूजा करके चतुर्विध संघ के साथ आरती करता है । उसके बाद हाथियों से जुता हुआ वह रथ स्थान-स्थान पर बँधे हुए पटमण्डपों में ठहरता हुआ नगर में घूमता है ।

तीर्थयात्रा :- श्री शत्रुंजय, गिरनार आदि तीर्थ कहलाते हैं । तीर्थंकर की जन्म, दीक्षा, ज्ञान निर्वाण व विहार भूमि भी अनेक भव्य जीवों के शुभभावों की उत्पत्ति में कारणभूत होने एवं संसारतारक होने से तीर्थ कहलाती है ।

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि व प्रभावना आदि के लिए विधिपूर्वक उन तीर्थों की यात्रा के लिए जाने को तीर्थयात्रा कहते हैं ।

तीर्थयात्रा विधि :- तीर्थयात्रा दरम्यान एकाशना, सचित्तत्याग, भूमिशयन, ब्रह्मचर्यपालन आदि कठिन अभिग्रहों का प्रारम्भ से ही पालन करना चाहिए ।

पालकी, घोड़े, पलंग आदि समग्र ऋद्धि होने पर भी समृद्ध श्रावक को भी शक्ति हो तो पैदल चलना ही उचित है । **ग्रन्थकार ने कहा है**–``यात्रा में एकल आहारी, सम्यक्त्वधारी, भूशयनकारी सचित्तपरिहारी, पदचारी व ब्रह्मचारी रहना चाहिए ।'' लौकिक ग्रन्थों में कहा गया है–

``यात्रा में वाहन में बैठने से तीर्थयात्रा का आधा फल नष्ट हो जाता है, जूते पहिनने से पौना भाग नष्ट होता है । हजामत कराने से तृतीयांश फल नष्ट होता है । तीर्थयात्रा में दान लेने से समस्त फल नष्ट हो जाता है ।''

``तीर्थयात्रा में एक ही बार भोजन लेना चाहिए । निर्जीव भूमि पर सोना चाहिए और स्त्री ऋतुवती हो तो भी ब्रह्मचारी रहना चाहिए ।''

उपर्युक्त अभिग्रह लेने के बाद शक्ति अनुसार भेंट देकर राजा को प्रसन्न कर उसकी आज्ञा लेनी चाहिए । यात्रा हेतु यथाशक्ति विशिष्ट जिनमन्दिर तैयार करने चाहिए । फिर स्वजन-साधर्मिकों को विनय-बहुमानपूर्वक आमंत्रण देना चाहिए । भक्तिपूर्वक गुरु को भी निमन्त्रण देना चाहिए, अमारि की घोषणा करनी चाहिए, चैत्य आदि में महापूजा आदि महोत्सव करना चाहिए । जिसके पास शंबल (भाता) न हो उसे शंबल देना चाहिए । जिसके पास वाहन न हो, उसे वाहन देना चाहिए और निराधार व्यक्तियों को धन व सद्वचन देना चाहिए । ``जिसको जो आवश्यकता होगी, वह वस्तु दी जायेगी''- इस प्रकार की घोषणापूर्वक सार्थवाह की तरह उत्साहहीन लोगों को भी प्रोत्साहन देना चाहिए । आडम्बर से सर्व प्रकार की तैयारियाँ करें । जैसे बड़े-बड़े चरू, बड़े-बड़े तपेले, तंबू, कनात, कड़ाह, चलते हुए कुए (बड़े-बड़े टैंकर), सरोवर (बड़े-बड़े बर्तन) आदि तैयार रखें । बैलगाड़ियाँ, सेजवालक, रथ, पालकी, बैल, ऊँट, घोड़े आदि साथ में रखें ।

श्रीसंघ की रक्षा के लिए मजबूत सुभटों को बुलाना चाहिए और उन्हें कवच, शिरस्त्राण आदि देकर सम्मानित करना चाहिए । गीत, नृत्य तथा वाद्य-यंत्र आदि सामग्री तैयार करनी चाहिए । उसके बाद शुभ मुहूर्त में शुभ शकुन-निमित्त आदि से उत्साहवन्त होकर प्रस्थान करना चाहिए । वहाँ सकल संघ को इकट्ठा कर सुन्दर भोजन-पक्वान्न से सबको भोजन कराना चाहिए व सबको तांबूल देना चाहिए तथा पञ्चाङ्ग मडि, रेशमी वस्त्र आदि से उनका सत्कार करना चाहिए । सुप्रतिष्ठित धर्मिष्ठ, पूज्य व भाग्यशाली व्यक्तियों के पास संघपति का तिलक कराना चाहिए । संघपूजा आदि महामहोत्सव करना चाहिए । दूसरों के पास भी यथोचित संघपति आदि का तिलक कराना चाहिए ।

महाधर, आगे व पीछे रक्षण करनेवाले, संघ के अध्यक्ष आदि का स्थापन करना चाहिए, संघप्रयाण, उतारे आदि की व्यवस्था करनी चाहिए । तथा मार्ग में सभी साथियों की संभाल लेनी चाहिए । किसी की गाड़ी का पहिया आदि टूटने पर उसे योग्य सहायता करनी चाहिए । प्रत्येक गाँव व नगर के चैत्यों में स्नात्रपूजा, महाध्वजा-प्रदान व चैत्यपरिपाटी आदि बड़ा महोत्सव करना चाहिए और जीर्ण मन्दिर का उद्धार करना चाहिए ।

तीर्थ के दर्शन होने पर स्वर्ण, रत्न व मोती से बधामणी करनी चाहिए। लापसी, लड्डू आदि की लहाणी, साधर्मिक का वात्सल्य व यथोचित दान देना चाहिए।

तीर्थ में प्रवेश के समय भव्य महोत्सव स्वयं करना, कराना चाहिए। प्रथम हर्ष निमित्त पूजा, भेंट आदि उपचार करना चाहिए। अष्टप्रकारी पूजा तथा विधिपूर्वक स्नात्र महोत्सव करना चाहिए। संघ-माला पहननी चाहिए तथा घी की धार देनी चाहिए। पहेरामणी रखनी चाहिए। प्रभु की नवांगी पूजा करनी चाहिए। फूलगृह, कदलीगृह आदि महापूजा करनी चाहिए। रेशमी वस्त्र की महाध्वजा का आरोपण करना चाहिए और अवारित दान देना चाहिए। रात्रिजागरण करना चाहिए। अनेक प्रकार के गीत व नृत्य आदि उत्सव करने चाहिए। तीर्थ में उपवास, छट्ठ आदि तप करना चाहिए। करोड़ अथवा लक्ष चावल आदि विविध वस्तु उद्यापन में रखनी चाहिए।

अनेक प्रकार के एक सौ आठ, चौबीस, बावन, बहोत्तर की संख्या में फल आदि तथा समस्त भोज्य सामग्री से भरे हुए थाल आदि प्रभु के आगे रखने चाहिए। रेशमी चंदरवा, पहेरामणी, अंगलूंछन, दीपक हेतु तैल, धोती, चन्दन, केसर, भोग, पुष्प की छाब, पिङ्गानिका, कलश, धूपदानी, आरती, आभूषण, प्रदीप, चामर, विशेष प्रकार का कलश, थाली, कटोरी, घंट, झल्लरी, पटह आदि वाद्य-यन्त्र देने चाहिए। देवकुलिका आदि बनानी चाहिए। सुथार आदि का सत्कार करना चाहिए। तीर्थसेवा करनी चाहिए। नष्ट होते हुए तीर्थ के अङ्गों का उद्धार करना चाहिए। तीर्थरक्षकों का बहुमान करना चाहिए। तीर्थ में आमदनी का प्रवर्तन करना चाहिए तथा साधर्मिकों का वात्सल्य करना चाहिए। गुरु व संघ की पहेरामणी आदि से भक्ति करनी चाहिए। जैनों के याचकों को (भोजक आदि) तथा दीन आदि को उचित दान आदि देना चाहिए। इस प्रकार अनेक धर्मकृत्य करने चाहिए।

याचकों को दिया गया दान मात्र कीर्ति कराने वाला मानकर निष्फल नहीं मानना चाहिए। क्योंकि याचक भी देव, गुरु व संघ के गुणगान करते हैं इसलिए यह दान भी महाफलदायी है।

जिनेश्वर प्रभु के आगमन की सूचना देने वाले उद्यानपाल आदि को भी चक्रवर्ती साढ़े बारह करोड़ स्वर्णमुद्रा का दान देते थे। आगम में भी कहा है–

``चक्रवर्ती का वृत्तिदान (नियुक्त पुरुष को आजीविका हेतु दान) साढ़े बारह लाख स्वर्णमुद्रिका का होता है परन्तु प्रीतिदान (नियुक्त पुरुष के अलावा समाचार देने वाले को दिया गया दान) साढ़े बारह करोड़ स्वर्णमुद्रिका प्रमाण समझना चाहिए।

इस प्रकार यात्रा करके लौटते समय भी भव्य प्रवेश महोत्सव द्वारा घर आना चाहिए और देव-आह्वान आदि उत्सव करना चाहिए तथा वर्ष आदि तक तीर्थोपवास आदि करना चाहिए।

विक्रम राजा का संघ

श्री सिद्धसेन दिवाकर द्वारा प्रतिबोधित श्री विक्रमादित्य के शत्रुंजय यात्रासंघ में 169 सोने के तथा 500 हाथीदांत व चन्दन के जिनमन्दिर थे। संघ में 5000 आचार्य, चौदह मुकुटबद्ध राजा, 70 लाख परिवार, एक करोड़ दस लाख नौ हजार गाड़े, अठारह लाख घोड़े, 7600 हाथी तथा इतने ही ऊँट व बैल आदि थे।

कुमारपाल के संघ में स्वर्ण रत्नादिमय 1874 जिनमन्दिर थे ।

थराद में पश्चिम मंडलीक के नाम से प्रख्यात आभू सेठ के संघ में 700 मन्दिर थे, उसने अपने संघ में बारह करोड़ सोना मोहर का खर्च किया था ।

पेथड़शाह ने तीर्थ के दर्शन के समय ग्यारह लाख चांदी के टंक का व्यय किया था । उसके संघ में 52 मन्दिर व 7 लाख लोग थे । वस्तुपाल मंत्री द्वारा की गयी साढ़े बारह यात्राएँ प्रसिद्ध हैं ।

4) **स्नात्र महोत्सव :-** जिनमन्दिर में प्रतिदिन अथवा पर्वदिनों में बड़े आडम्बर के साथ स्नात्र महोत्सव करना चाहिए । इतनी भी शक्ति न हो तो वर्ष में एक बार यह महोत्सव करना चाहिए । स्नात्र महोत्सव में मेरु की रचना करनी चाहिए । अष्टमंगल, नैवेद्य आदि धरना चाहिए । बावनाचंदन, केसर, पुष्प व भोग आदि समग्र सामग्री इकट्ठी करनी चाहिए । समुदाय को इकट्ठा करना चाहिए, फिर संगीत आदि बाह्य आडम्बर के साथ एवं रेशमी महाध्वजा के प्रदान व प्रभावना पूर्वक स्नात्र महोत्सव करना चाहिए ।

स्नात्र महोत्सव में अपने वैभव, कुल व प्रतिष्ठा के अनुसार सर्वशक्ति से द्रव्य-व्यय के आडम्बरपूर्वक जिनशासन की प्रभावना के लिए यत्न करना चाहिए ।

पेथड़शाह ने गिरनार तीर्थ पर स्नात्र महोत्सव में छप्पन लाख घड़ी प्रमाण सुवर्ण प्रदान कर इन्द्रमाला पहनी थी । उसने शत्रुंजय से गिरनार तक स्वर्णमय (सोनेरी जरी वाली) ध्वजा बाँधी थी । उसके पुत्र झांझण सेठ ने रेशमी वस्त्रमय ध्वजा प्रदान की थी ।

5) **देवद्रव्य वृद्धि :-** देवद्रव्य की वृद्धि के लिए प्रतिवर्ष मालोद्घाटन करना चाहिए । उसमें इन्द्रमाला अथवा अन्यमाला प्रतिवर्ष ग्रहण करनी चाहिए ।

कुमारपाल महाराजा के संघ की माला-परिधान के समय वाग्भट्ट आदि मंत्री चार-आठ लाख आदि बोलने लगे । उस समय सौराष्ट्र देश के महुआ निवासी प्राग्वाट हंसराज धारु के पुत्र जगड़ ने, जो मलिन वस्त्र में थे, सवा करोड़ बोला । विस्मित हुए राजा के पूछने पर वह बोला, ``मेरे पिता ने नौका में बैठकर देश-विदेश में भ्रमण कर जो अर्थोपार्जन किया था, उस धन से उन्होंने सवा करोड़ की कीमत के पाँच रत्न खरीदे थे । ...अन्त में उन्होंने कहा था- श्री शत्रुंजय, गिरनार और देवपत्तन तीर्थ के प्रभु को एक-एक रत्न समर्पित करना और दो तुम रखना । उनमें से तीन रत्नों को स्वर्ण के कण्ठाभरण में स्थापित कर ऋषभदेव स्वामी, नेमिनाथ और चन्द्रप्रभ स्वामी को अर्पित किये । गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बर व दिगम्बर संघ के एक साथ पहुँचने पर तीर्थ का विवाद पैदा हुआ । उस समय वृद्धों ने कहा- ``जो इन्द्रमाला ग्रहण करेगा उसका यह तीर्थ होगा ।''

पेथड़ शाह ने छप्पन घड़ी स्वर्ण बोलकर वह माला ग्रहण की । चार घड़ी सोना याचकों को प्रदान कर तीर्थ को अपना बनाया ।

इसी प्रकार पहेरामणी, नवीन धोती, विचित्र चंदरवे, अंगलूंछन, दीपतैल, जात्यचंदन, केसर, भोग आदि चैत्योपयोगी वस्तु भी प्रतिवर्ष प्रदान करनी चाहिए ।

6) **महापूजा व** 7) **रात्रिजागरण :-** विशिष्ट आंगी की रचना, सोने रूपे के बरक की विविध रचना, सर्वांगाभरण। पुष्पगृह, कदलीगृह, पुतली, जलयंत्र आदि की रचना, अनेक प्रकार के गीत, नृत्य आदि उत्सवों द्वारा महापूजा और रात्रिजागरण करना चाहिए ।

एक सेठ ने सामुद्रिक यात्रा में जाते समय एक लाख के व्यय से तथा बारह वर्ष के बाद मनोवांछित लाभपूर्वक लौटने पर एक करोड़ के व्यय द्वारा चैत्य में महापूजा की थी ।

8) **श्रुतज्ञान-भक्ति :-** पुस्तक में रहे श्रुतज्ञान की भक्ति कर्पूर आदि द्वारा प्रतिदिन सुकर है । प्रशस्त वस्त्र आदि द्वारा विशेष पूजा प्रत्येक मास की शुक्ल पंचमी के दिन श्रावक को अवश्य करनी चाहिए। इतना करने में भी जो अशक्त हो उसे प्रतिवर्ष एक बार अवश्य करनी चाहिए। इसका विस्तृत वर्णन जन्मकृत्य में ज्ञानभक्ति द्वार में कहेंगे ।

9) **उद्यापन :-** नवकार, आवश्यक सूत्र, उपदेशमाला, उत्तराध्ययन सूत्र आदि ज्ञान, दर्शन तथा विविध तप सम्बन्धी उद्यापन में जघन्य से एक उद्यापन प्रतिवर्ष यथाशक्ति अवश्य करना चाहिए ।

कहा है– ``उद्यापन करने से लक्ष्मी सार्थक बनती है, तप भी सफल होता है, सदैव श्रेष्ठ ध्यान होता है, भव्य जीवों को सम्यक्त्व का लाभ होता है, वीतराग की भक्ति होती है तथा जिनशासन की शोभा होती है।'' उद्यापन करने से ये गुण होते हैं। ``तप के समर्थन में जो उद्यापन किया जाता है वह, चैत्य के मस्तक पर कलश चढ़ाने, अक्षत पात्र के मस्तक पर फल चढ़ाने तथा भोजन के अन्त में तांबूलप्रदान के समान है।''

शास्त्रोक्त विधि के अनुसार नवकार मंत्र के एक लाख अथवा एक करोड़ जापपूर्वक जिनमन्दिर में स्नात्र-महोत्सव, साधर्मिक-वात्सल्य, संघ-पूजा आदि विस्तृत आडम्बर पूर्वक, लाख अथवा करोड़ चावल, अड़सठ चांदी की कटोरी, पट्टी, कलम, मणि, मोती, परवाला, सिक्के नारियल आदि अनेक फल, विविध पक्वान्न, धान्य, खाद्य तथा स्वाद्य आदि अनेक वस्तुएँ तथा कपड़ा आदि वस्तुएँ रखकर नवकार का, उपधान की आराधना के बाद विधिपूर्वक मालारोपण द्वारा आवश्यक सूत्रों का, उपदेशमाला की पाँच सौ चवालीस गाथा संख्यानुसार उतने ही मोदक, नारियल, कटोरी आदि विविध वस्तुओं को रखकर उपदेशमाला का तथा स्वर्णादिगर्भित दर्शन मोदक आदि की लहाणी करके सम्यग् दर्शन का उद्यापन करने वाले ग्रन्थकार के समय विद्यमान थे । मालारोपण विशेष धर्मकृत्य है । यथाशक्ति विधिपूर्वक उपधान तप किये बिना नवकार व इरियावहिय आदि सूत्रों को पढ़ने-गुणने का अधिकार नहीं होने से साधु को योगोद्वहन की तरह श्रावकों को उपधान तप अवश्य करना चाहिए ।

उपधान की माला ही उपधान का उद्यापन है। **ग्रन्थकार ने कहा है-** ``विधिपूर्वक उपधान तप करके अपने कण्ठ में जो दोनों प्रकार की सूत्र माला (सूत्र यानी आवश्यक सूत्र एवं सूत) को धारण करता है, वह दोनों प्रकार की (भौतिक ऋद्धि एवं मोक्ष ऋद्धि) शिवलक्ष्मी को प्राप्त करता है ।

उपधान की माला मुक्ति रूपी कन्या को वरने की वरमाला है। सुकृत रूपी जल को खींचने वाली घटीमाला है और मानों साक्षात् गुणमाला है, यह माला पुण्यशाली लोगों के द्वारा ही धारण की जाती है ।

इसी प्रकार शुक्ल पंचमी आदि विविध तपों में भी, उतने-उतने उपवास की संख्यानुसार रुपया, कटोरी, नारियल, मोदक आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ रखकर श्रुत व सम्प्रदाय आदि के अनुसार उद्यापन करना चाहिए ।

10) **शासनप्रभावना :-** शासन-प्रभावना के लिए अपने गुरुदेव का भव्य प्रवेश उत्सव व प्रभावना आदि कार्य वर्ष में कम-से-कम एक बार अवश्य करने चाहिए ।

गुरु के प्रवेश-उत्सव में विस्तृत व भव्य आडम्बर के साथ चतुर्विध संघ सह गुरुदेव के सम्मुख जाना चाहिए और गुरुदेव व संघ का यथाशक्ति सत्कार आदि करना चाहिए । **कहा है**– ``साधु के सम्मुख गमन, वन्दन, नमस्कार व सुखशाता पूछने से चिरसंचित कर्म भी क्षण भर में नष्ट हो जाता है ।''

पेथड़ शाह ने तपागच्छीय श्री धर्मघोषसूरिजी के प्रवेश-उत्सव में बहोत्तर हजार टंक का व्यय किया था । संविग्न साधु का प्रवेश-उत्सव अनुचित है, ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि आगम में भी उनके सम्मुख जाकर प्रवेशोत्सव करने का प्रतिपादन है । **व्यवहार भाष्य** में प्रतिमा अधिकार में कहा है- ``प्रतिमा पूर्ण होने पर प्रतिमावाहक साधु जहाँ साधुओं का विचरण होता हो, वहाँ अपने आपको प्रगट करे, उसके बाद संयत साधु अथवा संज्ञी श्रावक को संदेश भेजे । उसके बाद राजा, ग्रामाधिपति, वह न हो तो श्रावक वर्ग तथा साधु-साध्वी वर्ग प्रतिमावाहक का सत्कार करे ।''

इसका भाव इस प्रकार है-प्रतिमा समाप्त होने पर जिस निकट के गाँव में बहुत से भिक्षाचर तथा साधु आते हों, वहाँ आकर अपने आपको प्रगट करे । उसके बाद जिस साधु या श्रावक को देखे, उसे सन्देश कहे- ``मैंने प्रतिमा समाप्त की है, अतः आया हूँ ।''

वहाँ आचार्य भगवन्त राजा को निवेदन करते हैं कि ``अमुक महातपस्वी ने महान् तप समाप्त किया है, अतः इनका सत्कार के साथ गच्छ में प्रवेश होना चाहिए ।''

उसके बाद वह राजा, राजा न हो तो अधिकृत ग्रामनायक, उसके अभाव में समृद्ध श्रावकवर्ग और उसके भी अभाव में साधु-साध्वी आदि संघ उस प्रतिमावाहक साधु का यथाशक्ति सत्कार करते हैं । सत्कार में ऊपर चंदरवे को धारण करें, मंगल वाद्य यंत्र बजायें, सुगंधित वास-गुलाब जल, इत्तर फुलेल वगैरह छाँटें ।

सत्कार के ये लाभ हैं–

(1) प्रवेश के समय सत्कार करने से शासन की शोभा होती है ।

(2) दूसरे साधुओं को भी प्रेरणा मिलती है कि ``हम भी ऐसा करें, जिससे महती शासनप्रभावना हो ।''

(3) श्रावक-श्राविका तथा अन्य को भी शासन पर बहुमान पैदा होता है-``अहो ! वीतराग का यह शासन महाप्रतापी है, जहाँ इस प्रकार के महान् तपस्वी हैं ।''

(4) कुतीर्थिकों की हीलना होती है क्योंकि उनमें इस प्रकार के महासत्त्वशालियों का अभाव है ।

(5) प्रतिमा समाप्त करने वाले साधु का सत्कार करना चाहिए-यह आचार भी है ।

(6) तीर्थ की वृद्धि होती है । प्रवचन के अतिशय को देखकर बहुत से लोग संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं, उससे तीर्थ की वृद्धि भी होती है । यथाशक्ति संघ का भी बहुमान करना चाहिए । तिलक करना, चन्दन, जौ आदि, कपूर, कस्तूरी आदि सुगंधित वस्तु का लेप करना, सुगन्धित पुष्प प्रदान करना, भक्तिपूर्वक नारियल आदि व विविध तांबूल प्रदान कर शासन की प्रभावना करनी चाहिए । ``शासन की उन्नति से तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है ।'

कहा है- ``अपूर्व ज्ञानग्रहण, श्रुत-भक्ति-प्रवचन की प्रभावना आदि कार्यों से जीव तीर्थंकरपने को प्राप्त करता है ।''

``भावना स्वयं को ही मोक्ष-देने वाली है, जबकि प्रभावना स्व-पर दोनों को मोक्ष देने वाली है । 'प्र' पूर्वक भावना से प्रभावना की अधिकता युक्त ही है ।

आलोचना

प्रतिवर्ष कम-से-कम एक बार गुरु के पास अवश्य आलोचना करनी चाहिए । **कहा है--** ``प्रतिवर्ष गुरु के आगे प्रायश्चित्त अवश्य लेना चाहिए । आलोचना से शुद्धि करने से आत्मा दर्पण की तरह उज्ज्वल बनती है ।''

श्री आवश्यक निर्युक्ति आगम में इस प्रकार कहा गया है- ``चउमासी तथा संवत्सरी में आलोचना करनी चाहिए । पूर्व में ग्रहण किये हुए अभिग्रहों को कहकर नवीन अभिग्रह लेने चाहिए ।'' **श्राद्धजित कल्प** आदि में इस प्रकार विधि कही गयी है- ``पाक्षिक, चातुर्मासिक, संवत्सरी के दिन में, उत्कृष्ट से बारह वर्ष जितने काल में भी गीतार्थ गुरु के पास अवश्य आलोचना करनी चाहिए ।''

आलोचना करने के लिए सात सौ योजन के क्षेत्र में तथा बारह वर्ष तक गीतार्थ गुरु की अवश्य शोध करनी चाहिए ।

आलोचना कराने वाले गुरु

आलोचना कराने वाले गुरु गीतार्थ होने चाहिए अर्थात् निशीथ आदि सूत्र के ज्ञाता होने चाहिए । कृतयोगी अर्थात् मन, वचन और काया के शुभ व्यापार वाले अथवा विविध तप करने वाले होने चाहिए अर्थात् विविध शुभ ध्यान व तप विशेष से अपनी आत्मा व शरीर को संस्कारित किये हुए होने चाहिए । निरतिचार चारित्र वाले होने चाहिए । आलोचना करने वाले को, बहुत-सी युक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त तथा तप आदि स्वीकार कराने में कुशल होने चाहिए । प्रायश्चित्त में दिये गये तप के श्रम को जानने वाले होने चाहिए । आलोचक के भयंकर दोष का श्रवण करने पर भी विषाद नहीं करने वाले होने चाहिए बल्कि अन्य-अन्य वचन तथा वैराग्यगर्भित वचनों के द्वारा आलोचक को प्रोत्साहित करने वाले होने चाहिए ।

1) ज्ञानादि पाँच प्रकार के आचारों से युक्त होने चाहिए ।
2) आलोचक के अपराध को उनमें बराबर याद रखने की शक्ति होनी चाहिए ।
3) पाँच प्रकार के व्यवहार को जानने वाले होने चाहिए । **पाँच व्यवहार**- (1) **आगम व्यवहार** - केवली,

मनःपर्यव ज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी तथा नौ पूर्वी को होता है। (2) **श्रुत व्यवहार** - आठ पूर्व से लेकर अर्ध पूर्वधर, ग्यारह अंग, निशीथ आदि सभी सूत्रों के धारकों को होता है। (3) **आज्ञा व्यवहार** - दूर-दूर भिन्न देशों में रहे दो गीतार्थ आचार्यों के परस्पर मिलन की सम्भावना न हो तो गूढ़ पदों के द्वारा जो आलोचना प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह **आज्ञा व्यवहार** कहलाता है। (4) **धारणा व्यवहार** - अपराध होने पर गुरु ने जो प्रायश्चित्त दिया हो उसे याद कर दूसरा उस अपराध का प्रायश्चित्त उसी प्रकार देता है उसे **धारणा व्यवहार** कहते हैं। (5) **जीत व्यवहार** - सिद्धान्त में जिस दोष के लिए जो प्रायश्चित्त कहा हो उससे हीन अथवा अधिक प्रायश्चित्त परम्परा के अनुसार देना **जीत व्यवहार** है। वर्तमान में जीत व्यवहार मुख्य है।

4. लज्जा के कारण यदि आलोचना करने वाला सही बात कहने में हिचकिचाता हो तो उसे इस प्रकार की वैराग्यवर्धक बातें कहें कि वह लज्जा छोड़कर सब कुछ बता दे।
5. आलोचना करने वाले की सम्यग्विशुद्धि करने वाले हों।
6. आलोचक की बात अन्य किसी को कहने वाले न हों।
7. आलोचक जिस तप आदि को करने में समर्थ हो, उसी के अनुसार प्रायश्चित्त देने वाले हों।
8. अच्छी तरह से आलोचना नहीं करने वाले तथा प्रायश्चित्त नहीं करने वाले को उभय लोक में कितना नुकसान होता है-गीतार्थ गुरु इस बात को जानने वाले होते हैं।

उपर्युक्त आठ गुणों से युक्त गुरु आलोचना कराने में समर्थ होते हैं।

आलोचना का इच्छुक व्यक्ति गुरु के पास आलोचना लेने के लिए घर से निकला हो और बीच में ही मर जाय तो भी आराधक होता है। साधु अथवा श्रावक को सर्वप्रथम, शक्य हो तो अपने ही गच्छ के आचार्य के पास आलोचना करनी चाहिए। उनका योग न हो तो उपाध्याय के पास, उनका भी योग न हो तो प्रवर्तक, स्थविर अथवा गणावच्छेदक के पास आलोचना करनी चाहिए। अपने गच्छ में उन सबका अभाव हो तो एक सामाचारी वाले सांभोगिक अन्य गच्छ में रहे हुए आचार्य आदि के पास आलोचना करनी चाहिए। उनका भी अभाव हो तो अन्य असांभोगिक संविग्नगच्छ के आचार्य आदि के पास आलोचना करनी चाहिए। उनका भी अभाव हो तो गीतार्थ पासत्था के पास आलोचना करनी चाहिए। उनका भी अभाव हो तो गीतार्थ सारूपिक के पास आलोचना करे। उनका भी अभाव हो तो गीतार्थ पश्चात्कृत के पास आलोचना करनी चाहिए।

सफेद वस्त्रधारी, मुण्डन कराने वाला, कच्छरहित, रजोहरणरहित, ब्रह्मचारी, स्त्री रहित तथा भिक्षा ग्रहण करने वाला **सारूपिक** कहलाता है।

शिखायुक्त व पत्नीयुक्त हो वह **सिद्धपुत्र** कहलाता है।

चारित्र वेष को छोड़ने वाला **पश्चात्कृत** कहलाता है।

आलोचना करते समय पासत्था आदि को गुरु-वन्दन की विधि से वन्दन करना चाहिए, क्योंकि विनय ही धर्म का मूल है। यदि पासत्था आदि अपने आपको गुणहीन समझकर वन्दन न करायें तो उन्हें आसन आदि प्रदान कर प्रणाम करके आलोचना करनी चाहिए।

पश्चात्कृत के पास आलोचना करनी हो तो उसमें इत्वर सामायिक का आरोपण कर व लिंग प्रदान कर विधिपूर्वक आलोचना करनी चाहिए ।

पासत्था आदि का भी अभाव हो तो जैसे राजगृह में गुणशिलादि में जहाँ अरिहन्तों व गणधरों ने बहुत बार प्रायश्चित्त दिया है उसे जिस देव ने देखा हो, वहाँ उस सम्यग्दृष्टि देव की अट्ठम आदि से आराधना करके उन्हें प्रत्यक्ष करके आलोचना करनी चाहिए ।

कदाचित् उस समय उस देव का च्यवन हो गया हो और अन्य देव उत्पन्न हुआ हो तो वह महाविदेह में अरिहन्त परमात्मा को पूछकर प्रायश्चित्त देता है । उनका भी योग न हो तो अरिहन्त-प्रतिमा के आगे स्वयं आलोचना कर प्रायश्चित्त स्वीकार करना चाहिए । उसका भी योग न हो तो पूर्व अथवा उत्तर सम्मुख अरिहन्त या सिद्ध की साक्षी में आलोचना करनी चाहिए, परन्तु आलोचनारहित नहीं रहना चाहिए, क्योंकि जो शल्ययुक्त होता है, वह आराधक नहीं होता है ।

अगीतार्थ चारित्र की शुद्धि को नहीं जानता है और न्यूनाधिक आलोचना देता है, वह स्वयं को तथा आलोचक को भी संसार में डुबोता है ।

जिस प्रकार बालक कार्य अथवा अकार्य को सरलता से कह देता है, उसी प्रकार माया व मद से रहित होकर आलोचना करनी चाहिए ।

मायादि दोष से रहित, प्रतिसमय वर्धमान संवेग वाला पुनः उस अकार्य को नहीं करने के निश्चयपूर्वक अपने अकार्य की आलोचना करता है ।

लज्जादि तथा रसादि गारव के कारण, तप का अनिच्छुक तथा बहुश्रुतपने के अहंकार के कारण अपमान होने के भय से, प्रायश्चित्त अधिक मिलने के भय से जो गुरु को अपने दोष नहीं कहता है, वह आराधक नहीं होता है ।

उन-उन सूत्रों के द्वारा अपने चित्त को संवेग से भावित करके तथा शल्य को नहीं निकालने के दुष्परिणामों का विचार करके आलोचना करनी चाहिए । शल्य को नहीं निकालने के विपाक को बताने वाले जुदे-जुदे सूत्रों के द्वारा चित्त को संवेगी बनाकर आलोचना करनी चाहिए ।

आलोचक के दस दोष

1) वैयावच्च आदि से गुरु को आवर्जित कर जो आलोचना करता है कि ``गुरु मुझे कम प्रायश्चित्त देंगे''-इस प्रकार का अभिप्राय होने से यह दोष है ।

2) ``ये गुरु अल्प दण्ड देने वाले हैं''-इस प्रकार अनुमान कर जो आलोचना करता है ।

3) जिन दोषों को दूसरों ने देख लिया हो उनकी आलोचना करे और दूसरों के द्वारा नहीं देखे हुए दोषों की आलोचना नहीं करे ।

4) अवज्ञा में तत्पर होने से जो बड़े दोषों की तो आलोचना करता है, परन्तु सूक्ष्म दोषों की आलोचना नहीं करता ।

5) सूक्ष्म का आलोचक बादर दोषों की आलोचना क्यों नहीं करेगा, यह दिखाने के लिए तृणग्रहण आदि रूप सूक्ष्म दोषों की ही आलोचना करता है, बादर की नहीं ।

6) अव्यक्त स्वर से आलोचना करना ।

7) गुरु को अच्छी तरह से पता न चले, अथवा अन्य भी सुनें, इस प्रकार आवाज कर आलोचना करता है ।

8) आलोचना करके बहुत लोगों को सुनाता है ।

9) छेदग्रन्थ के जो ज्ञाता नहीं हैं, ऐसे गुरु से आलोचना करता है ।

10) डाँटने के भय से अपने समान अपराध करने वाले गुरु के पास आलोचना करना; आलोचक को इन दस दोषों का त्याग करना चाहिए ।

आलोचना से लाभ

1) जिस प्रकार भार को वहन करने वाला, भार को हटाने पर हल्केपन का अनुभव करता है, उसी प्रकार शल्य का उद्धार होने पर आलोचक भी हल्केपन का अनुभव करता है ।

2) आनन्द उत्पन्न होता है ।

3) स्वयं के तथा दूसरों के दोष दूर होते हैं । आलोचना लेने से स्वयं के दोषों की निवृत्ति प्रतीत ही है, उसे देखकर अन्य व्यक्ति भी आलोचना लेने के लिए तैयार होते हैं, अतः दूसरों के भी दोषों की निवृत्ति होती है ।

4) अच्छी तरह से आलोचना करने से मायारहित सरलता प्राप्त होती है ।

5) अतिचार-दोषों की निवृत्ति होने से शुद्धि होती है ।

6) दोष का सेवन करना वह दुष्कर नहीं है क्योंकि यह अनादि काल का अभ्यास है परन्तु उसकी आलोचना दुष्कर कार्य है क्योंकि मोक्ष के अनुकूल प्रबल वीर्योल्लास विशेष से ही आलोचना हो सकती है । **निशीथचूर्णि** में कहा है-

``दोष का सेवन दुष्कर कार्य़ नहीं है परन्तु उसकी सम्यग् आलोचना करना दुष्कर कार्य है ।''

सम्यग् आलोचना अभ्यन्तर तप के भेद रूप होने से मासक्षमण आदि से भी दुष्कर है-लक्ष्मणा साध्वी के दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट है ।

लक्ष्मणा साध्वी

आज से अस्सी चौबीसी के पूर्व एक राजा के बहुत से पुत्रों के ऊपर, सैकड़ों मानताओं के बाद एक पुत्री पैदा हुई थी । दुर्भाग्य से स्वयंवर मण्डप में ही उसके पति की मृत्यु हो गई । परन्तु शीलसम्पन्न होने से उसने सतियों में विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त की । श्रावक धर्म का अच्छी तरह से पालन करती हुई उसने अंतिम तीर्थंकर के हाथ से जैन दीक्षा स्वीकार की ।

उस लक्ष्मणा साध्वी ने एक बार चिड़िया के युगल की काम-क्रीड़ा को देखकर विचार किया-

``अरिहन्तों ने काम की अनुमति क्यों नहीं दी होगी, वे तो अवेदी होते हैं अतः वे सवेदी के दुःख को नहीं जानते हैं ।''

क्षणभर के बाद ही उसे पश्चाताप हो गया । ``इसकी मैं कैसे आलोचना करूंगी''-इस प्रकार लज्जित होने पर भी शल्य रहने पर सर्वथा शुद्धि नहीं होती है; इस प्रकार अपने आपको प्रोत्साहित कर ज्योंही वह गयी, त्योंही अचानक पैर में काँटा लगने से अपशकुन की बुद्धि से क्षुब्ध हो गयी और ``जो इस प्रकार विचार करता है, उसे क्या प्रायश्चित्त आता है ।'' इस प्रकार दूसरे के बहाने उसने प्रायश्चित्त किया परन्तु लज्जा व अपने बड़प्पन की हानि का विचार कर स्वयं के नाम से प्रायश्चित्त नहीं किया । उस प्रायश्चित्त में उसने पचास वर्ष तक तीव्र तप किया ।

कहा है- पारणे में नीवि करके छट्ठ, अट्ठम, चार उपवास व पाँच उपवास का तप दस वर्ष तक किया । उपवास के पारणे उपवास दो वर्ष, एकासणा द्वारा दो वर्ष, मासक्षमण की तपश्चर्या सोलह वर्ष और आयंबिल की तपश्चर्या बीस वर्ष तक की । इस प्रकार लक्ष्मणा साध्वी ने पचास वर्ष का तप किया । इस तप के साथ-साथ उसने आवश्यक आदि क्रियाएँ भी कीं एवं अदीनमन से उसने यह तप किया-फिर भी उसकी शुद्धि नहीं हुई, बल्कि आर्तध्यान से मरकर दासी आदि के असंख्य भवों में अत्यन्त वेदना को सहनकर वह आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर पद्मनाभ स्वामी के शासन में मोक्ष में जायेगी । कहा भी है- ``शल्ययुक्त जीव कष्टदायी घोर तीव्र तप को दिव्य हजार वर्ष तक करे तो भी उसका वह तप निष्फल है ।''

``कुशल वैद्य भी अपना रोग दूसरों को कहता है, इसी प्रकार प्रायश्चित्त को जानने वाले को भी अपने शल्य का उद्धार दूसरे के पास कराना चाहिए ।

7) आलोचना करने से तीर्थंकर की आज्ञा की आराधना होती है ।

8) आलोचना करने से साधक शल्यरहित हो जाता है ।

उत्तराध्ययन के उनतीसवें अध्ययन में कहा है- ``हे भगवन्त ! आलोचना से जीव को क्या लाभ होता है ?'' ``हे गौतम ! आलोचना से माया, निदान और मिथ्यात्व शल्य तथा अनन्त संसार की वृद्धि का नाश होता है तथा ऋजुभाव पैदा होता है । ऋजुभाव को प्राप्त अमायावी जीव स्त्रीवेद, नपुंसक वेद का बन्ध नहीं करता है तथा पूर्व में बँधा हुआ हो तो उसकी निर्जरा करता है ।'' ये आलोचना के गुण हैं । **श्राद्धजितकल्प** की टीका में से उद्धृत की गयी यह आलोचना विधि है ।

बालहत्या, स्त्रीहत्या, देव द्रव्यादि का भक्षण, राज-रानी से भोग आदि बड़े पाप तीव्र अध्यवसाय से निकाचित भी किये हों तो भी विधिपूर्वक आलोचना करने से व गुरुप्रदत्त प्रायश्चित्त करने से उसी भव में भी शुद्ध हो जाते हैं । अगर ऐसा नहीं होता तो दृढ़प्रहारी आदि की उसी भव में सिद्धि सम्भव ही नहीं थी अतः प्रति चातुर्मास अथवा प्रतिवर्ष आलोचना अवश्य करनी चाहिए ।

62. छठा प्रकाश-जन्म कृत्य

वर्षकृत्य कहने के बाद अब जन्मकृत्य कहते हैं-

63. निवास-स्थान :- जन्मकृत्य में सर्वप्रथम समुचित निवास-स्थान ग्रहण करना चाहिए । जिस स्थान में धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग की सिद्धि होती हो वहीं पर श्रावक को रहना चाहिए । अयोग्य स्थान पर रहने से दोनों भवों का नाश होता है ।

कहा है- भील लोकों की बस्ती में, चोरों की पल्ली में, पर्वतीय लोगों की बस्ती में तथा हिंसक व दुष्ट लोकों को आश्रय देने वाले पापी लोगों के पास नहीं रहना चाहिए क्योंकि कुसंगति साधुजनों के लिए निन्दनीय है ।

श्रावक को उसी स्थान में रहना चाहिए जहाँ साधुओं का आगमन होता हो । जहाँ पास में जिनमन्दिर हो और श्रावक रहते हों । जहाँ बुद्धिमान् लोग रहते हों, जहाँ के लोग जीवन से भी शील को अधिक मानते हों, जहाँ की प्रजा नित्य धर्मशील हो, वहीं पर रहना चाहिए, क्योंकि सज्जनों की संगति विभूति (लाभ) के लिए होती है । ``जिस नगर में जिनभवन हो, जहाँ शास्त्रज्ञ साधु-श्रावक रहते हों, जहाँ प्रचुर जल व ईंधन हो, वहीं पर सदा रहना चाहिए ।''

अजमेर के पास हर्षपुर नगर तीन सौ जिनमन्दिरों तथा सुश्रावक आदि से अलंकृत था तथा उसमें धर्मिष्ठ, सुशील और बुद्धिमान् लोग रहते थे । उस सुन्दर स्थान में रहने वाले अठारह हजार ब्राह्मण तथा उनके भक्त छत्तीस सेठ श्री प्रियग्रंथसूरिजी के आगमन से प्रतिबुद्ध हुए ।

अच्छे स्थान में रहने से तथा धनी, गुणवान् और धर्मिष्ठ व्यक्तियों की संगति से धन, विवेक, विनय, विचार, आचार, उदारता, गम्भीरता, धैर्य तथा प्रतिष्ठा (इज्जत) आदि गुण प्राप्त होते हैं एवं समस्त धर्मकार्यों में कुशलता प्राप्त होती है । यह बात वर्तमान में भी प्रतीत होती है । अतः नीच गाँवों में धनार्जन आदि से सुखपूर्वक निर्वाह होता हो तो भी नहीं रहना चाहिए ।

कहा है- ``जहाँ पर जिनेश्वर देव, जिनमन्दिर व संघ का मुखदर्शन नहीं होता हो तथा जहाँ जिन-वाणी का श्रवण नहीं होता हो वहाँ धन की प्राप्ति होती हो तो भी क्या ?'' ``यदि मूर्खता चाहते हो तो गाँव में तीन दिन रहो । जहाँ नवीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है और पहले पढ़ा हुआ भी नष्ट हो जाता है ।''

सुना जाता है कि कोई नगरनिवासी, धनलाभ के लिए अत्यल्प वणिक् के गाँव में रहा । कृषि तथा विविध व्यापार आदि के द्वारा उसने कुछ धन कमाया, अचानक उसकी घास की झोपड़ी आग लग जाने से नष्ट हो गयी । इस प्रकार पुनःपुनः धनार्जन करने पर भी चोरी, मारी, दुर्भिक्ष, राज-दण्ड आदि से उसका धन नष्ट हो गया । एक बार उस गाँव के चोरों ने किसी नगर को लूटा, इससे कुपित होकर उस नगर के राजा ने उस गाँव को ही खत्म कर दिया । सेठ व उसके पुत्र आदि पकड़े गये तब उन सुभटों के साथ लड़ता हुआ वह सेठ भी मारा गया । खराब गाँव में रहने पर क्या परिणाम आता है, उसका यह दृष्टान्त है ।

उचित निवासस्थान होने पर भी जहाँ स्वचक्र, परचक्र का विरोध हो, अकाल, मारी ● ईति, प्रजाविरोध, वास्तुक्षय आदि से आकुल-व्याकुल हो, उसे भी शीघ्र छोड़ देना चाहिए, अन्यथा त्रिवर्ग की हानि होती है ।

यवनों का आक्रमण होने पर जिन्होंने दिल्ली छोड़ दी और जो गुजरात आदि में आकर बस गये, उन्होंने त्रिवर्ग की पुष्टि द्वारा उभय जीवन को सफल किया और जिन्होंने दिल्ली नहीं छोड़ी, वे बन्दी बना लिये गये, जिससे वे दोनों भव हार गये ।

वास्तुक्षय से स्थानत्याग में क्षितिप्रतिष्ठित, चणकपुर, ऋषभपुर आदि के दृष्टान्त हैं । आर्षवाणी है-क्षितिप्रतिष्ठित, चणकपुर, ऋषभपुर, कुशाग्रपुर, राजगृह, चम्पा तथा पाटलिपुत्र ।

निवासस्थान को घर भी कहते हैं । घर का पड़ोसी अच्छा होना चाहिए । घर अत्यन्त प्रगट अथवा अत्यन्त गुप्त भी नहीं होना चाहिए । अच्छे स्थान पर विधिपूर्वक बना हुआ परिमित द्वार वाला जो घर होता है, वह घर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ व काम) की सिद्धि में हेतुभूत होने से योग्य है । खराब पड़ोसी का आगम में इस प्रकार निषेध है-

``दासी, तिर्यंच स्त्री (बकरी, गाय आदि), तालाचर, शाक्य, श्रमण, ब्राह्मण, श्मशान, वाघरी, शिकारी, जेलर, चांडाल, मच्छीमार, जुआरी, चोर, नट, नृत्यकार, भाट, वेश्या, कुकर्मकारी के साथ नहीं रहना तथा उनके पड़ोस में भी नहीं रहना चाहिए ।''

देवकुल के पास रहने से दुःख होता है, चौराहे पर घर होने पर हानि होती है, धूर्त व मन्त्री के घर के पास रहने से पुत्र व धन की हानि होती है । आत्महित के इच्छुक को मूर्ख, अधर्मी, पाखण्डी, पतित, चोर, रोगी, क्रोधी, चांडाल, अहंकारी, गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखने वाला, बैरी, स्वामिद्रोही, लोभी, ऋषि, स्त्री व बाल हत्यारे के पड़ोस का त्याग करना चाहिए । दुराचारी पड़ोसी के संग से, उनके साथ बातचीत करने से तथा उनकी कुचेष्टाओं को देखने से गुणवान् के गुणों की भी हानि ही होती है ।

अच्छे पड़ोसी के कारण प्राप्त खीर के दान से संगम शालिभद्र बन गया ।

अम्बिका देवी पूर्वभव में सोमभट्ट की भार्या थी । उसने पर्व दिन में साधु को अग्रपिंड (इष्टदेव को प्रसाद धरने के पहले दान) दिया । उसकी दुष्ट पड़ोसन ने उसकी सास को चुगली खाई । सास ने गुस्से में आकर उसे डाँटा और उसके पति को (अपने पुत्र को) बहकाया ।

अति खुले स्थान में रहना अच्छा नहीं है, क्योंकि पास में किसी का घर नहीं होने से और चारों ओर खुला होने से चोर आदि के पराभव की सम्भावना रहती है ।

चारों ओर दूसरे मकानों से निरुद्ध होने से अतिगुप्त स्थान होने पर मकान की अपनी शोभा नहीं होती है । आग आदि का उपद्रव होने पर एकान्त मकान में प्रवेश व निर्गमन भी कठिन होता है ।

● **ईति बहुधा 6 कही जाती हैं- 1) अतिवृष्टि, 2) अनावृष्टि, 3) टिड्डी दल, 4) चूहे, 5) तोते और 6) बाहर से आक्रमण ।**

शल्य, भस्म व क्षात्र आदि दोषों से तथा निषिद्ध आय आदि से रहित स्थान योग्य स्थान कहलाता है ।

दूब, कोंपल, दर्भ के गुच्छे, प्रशस्त वर्ण-गन्ध वाली मिट्टी हो, मीठा जल तथा निधान वाली भूमि उत्तम भूमि कहलाती है । **कहा भी है**- ``उष्णकाल में शीत स्पर्शवाली तथा शीत ऋतु में उष्ण स्पर्शवाली तथा वर्षा में उभय स्पर्शवाली हो, वह सभी प्राणियों के लिए शुभ है ।''

एक हाथ खोदने के बाद उतनी ही मिट्टी को उस खड्डे में डाला जाय और मिट्टी बढ़ जाय तो उसे श्रेष्ठ समझना चाहिए । मिट्टी बराबर हो तो मध्यम और कम पड़े तो उस भूमि को हीन समझना चाहिए ।

भूमि में खड्डा करने के बाद उसे जल से भरा जाय और सौ कदम चलने के बाद भी उस में उतना ही जल रहे तो उस भूमि को उत्तम समझना चाहिए । अंगुल प्रमाण कम जल रहे तो मध्यम और उससे भी कम जल रहे तो उस भूमि को अधम समझना चाहिए ।

जिस भूमि के खड्डे में रखे गये पुष्प दूसरे दिन भी वैसे ही रहें तो उस भूमि को उत्तम समझना चाहिए । वे पुष्प आधे सूख जायें तो उस भूमि को मध्यम व एकदम सूख जायें तो उस भूमि को अधम समझना चाहिए ।

जिस भूमि में बोये हुए चावल तीन दिन में उग जायें तो उस भूमि को उत्तम समझना चाहिए तथा पाँच व सात दिन में उगें तो क्रमशः मध्यम व हीन समझना चाहिए ।

भूमि में बांबी हो तो उस भूमि पर रहने से बीमारी होती है । पोली भूमि पर रहने से दरिद्रता, फटी हुई भूमि पर रहने से मृत्यु होती है । शल्य वाली भूमि दुःख देती है अतः प्रयत्नपूर्वक शल्य जानने चाहिए ।

मनुष्य का शल्य (हड्डी) निकले तो मनुष्य को हानि होती है । गधे की हड्डी निकले तो राजादि से भय होता है, कुत्ते की हड्डी निकले तो बालक की मृत्यु होती है, बालक की हड्डी निकले तो घर के मालिक को प्रवास होता है, गाय की हड्डी निकले तो गोधन की हानि होती है । मनुष्य के बाल, कपाल व भस्म निकले तो मृत्यु होती है ।

प्रथम व अन्तिम प्रहर को छोड़कर अर्थात् दूसरे व तीसरे प्रहर की वृक्ष व ध्वजा आदि की (मकान पर) छाया हमेशा दुःख देती है ।

अरिहन्त की पीठ, ब्रह्मा व विष्णु का पड़ोस, चण्डिका व सूर्य की नजर तथा महादेव का सभी (पीठ, पड़ोस और नजर) छोड़ना चाहिए ।

आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति को वासुदेव की बायीं तरफ को, ब्रह्मा की दाहिनी तरफ को तथा शंकर का निर्माल्य स्नात्र जल, ध्वजा की छाया तथा विलेपन छोड़ना चाहिए । अरिहन्त के शिखर की छाया और अरिहन्त की दृष्टि उत्तम कही गयी है ।

``जिनेश्वर भगवान की पीठ और सूर्य और महादेव की दृष्टि और विष्णु की बायीं तरफ को छोड़ना चाहिए । चंडिका सभी तरफ अशुभ है इसलिए उसका सब तरफ त्याग करना चाहिए ।''

``घर के दाहिनी ओर अरिहन्त की दृष्टि पड़ती हो और महादेव की पीठ बायीं ओर पड़ती हो तो वह कल्याणकारी है, इससे विपरीत दुःखदायी है । परन्तु बीच में मार्ग हो तो दोष नहीं है ।''

नगर व गाँव के ईशानादि कोण में घर नहीं करना चाहिए । वह सज्जनों के लिए अशुभ है तथा अन्त्यजों के लिए ऋद्धिकारक है ।

स्थान के गुण-दोष की जानकारी शकुन, स्वप्न व श्रुति (शब्दश्रवण) आदि के बल से करनी चाहिए । अच्छा स्थान भी उचित मूल्य देकर पड़ोसी की अनुमति आदि पूर्वक ही ग्रहण करना चाहिए, न कि किसी का पराभव करके । किसी का पराभव करके लेने से त्रिवर्ग की हानि होती है ।

इसी प्रकार ईंट, काष्ठ, पाषाण आदि वस्तुएँ भी निर्दोष, दृढ़ व उचित मूल्य से ही मंगानी चाहिए और लेनी चाहिए । वे वस्तुएँ भी विक्रेता ने बेचने के लिए अपने आप बनायी हों, वे ही लेनी चाहिए, परन्तु ऑर्डर से नहीं बनवाना चाहिए, क्योंकि उसमें महारम्भ आदि का दोष लगता है ।

उपर्युक्त वस्तुएँ मन्दिर आदि सम्बन्धी हों तो नहीं लेनी चाहिए क्योंकि उसमें बहुतसा नुकसान होता है ।

दृष्टान्त

दो वणिक् पास-पास में रहते थे । एक समृद्ध था और दूसरा गरीब था, जो समृद्ध था वह गरीब का कदम-कदम पर पराभव करता था । जो गरीब था वह प्रतिकार करने में असमर्थ था । एक बार उस समृद्ध सेठ का भवन बन रहा था, उस समय जिनमन्दिर में से एक ईंट उस भवन में डाल दी ।

मकान तैयार हो जाने पर उस गरीब ने उस सेठ को सब बात कह दी । उस सेठ ने कहा- ``इतने में क्या दोष है ?'' इस प्रकार अवज्ञा करने से कुछ ही दिनों में उसकी सारी सम्पत्ति बिजली अग्नि आदि से नष्ट हो गयी ।

कहा भी है– ``जिनमन्दिर, कूप, बावड़ी, श्मशान व राजमन्दिर सम्बन्धी सरसों मात्र भी पत्थर, ईंट व काष्ठ आदि का त्याग करना चाहिए ।''

पाषाणमय स्तम्भ, पीठ, पाट व बारसाख आदि वस्तुएँ गृहस्थ के लिए विरुद्ध हैं, परन्तु धर्मस्थान के लिए शुभ है ।

पाषाणमय वस्तु पर काष्ठ व काष्ठमय वस्तु पर पाषाणस्तम्भ आदि का घर व जिनमन्दिर में प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ।

हल, घाणी, शकट व रहट के लिए काँटे वाले वृक्ष, बड़ आदि पाँच उंबरवृक्ष तथा दूध वाले आकड़े आदि की लकड़ियों का त्याग करना चाहिए ।

बीजोरी, केल, दाड़िम, जंबीर, दो प्रकार के हरिद्र, इमली, बबूल, बेर आदि वृक्षों की लकड़ियों की भी उपर्युक्त वस्तुएँ नहीं बनानी चाहिए । उपर्युक्त वृक्षों का मूल पड़ोसी के घर में घुस जाय अथवा उस वृक्ष की छाया जिस घर पर गिरे, उस घर के कुल का नाश होता है ।

पूर्व दिशा में ऊँचा घर हो तो धन का नाश होता है, दक्षिण भाग में ऊँचा हो तो धन की समृद्धि होती है, पश्चिम भाग में ऊँचा हो तो वृद्धि होती है ।

वलयाकार, बहुत से कोण वाला, भीड़वाला, एक, दो या तीन कोने वाला, दायीं और बायीं तरफ लम्बा हो, ऐसा घर नहीं बनाना चाहिए ।

जिस घर के द्वार (कपाट) स्वतः बन्द होकर खुल जायें उसे अशुभ माना गया है ।

घर के मूल द्वार में चित्रमय कलश आदि की शोभा सुन्दर कहलाती है ।

जिन चित्रों में योगिनी का नाट्यारम्भ हो, महाभारत, रामायण, नृपयुद्ध, ऋषि अथवा देव के चरित्र हों ऐसे चित्र घर में अच्छे नहीं हैं ।

फल वाले वृक्ष, फूल की लताएँ, सरस्वती, नवनिधानयुक्त लक्ष्मी, कलश, वर्धापन तथा चौदह स्वप्नों की श्रेणी शुभ चित्र हैं ।

जिस घर में खजूर, दाड़िम, केल, बेर, बिजोरी के वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उस घर का समूल नाश होता है ।

घर में दूध झरने वाले वृक्ष हों तो लक्ष्मी का नाश होता है, काँटे वाले वृक्ष हों तो शत्रु से भय होता है, फल वाले हों तो सन्तति का नाश होता है अतः उनके काष्ठ का भी त्याग करना चाहिए ।

किसी का कहना है- घर के पूर्व भाग में बड़ का वृक्ष, दक्षिण भाग में उंबर का वृक्ष, पश्चिम भाग में पीपल का वृक्ष तथा उत्तर भाग में पलाश का वृक्ष श्रेष्ठ है ।

घर के पूर्व भाग में लक्ष्मी का गृह (भंडार), अग्निकोण में रसोड़ा, दक्षिण भाग में शयनगृह, नैऋत्य में शस्त्रागार व पश्चिम में भोजनकक्ष, वायव्यकोण में धान्यसंग्रह, उत्तर दिशा में जलस्थान व ईशान कोण में देवतागृह रखना चाहिए ।

घर के दक्षिण में अग्नि, जल, गाय, वायु तथा दीपक के स्थान रखने चाहिए और बायें या पश्चिम भाग में भोजन, धान्य, द्रव्य, सीढ़ी, देवस्थान रखना चाहिए ।

घर के द्वार की अपेक्षा पूर्व आदि दिशाएँ समझना चाहिए । जिस दिशा में द्वार हो उसे पूर्व दिशा और उसके अनुसार अन्य दिशाएँ समझनी चाहिए, न कि सूर्योदय की अपेक्षा से पूर्व दिशा आदि; जैसे छींक में गिनी जाती है ।

घर के निर्माता सूत्रधार, नौकर आदि के साथ जो मूल्य आदि तय किये हों, उससे अधिक उचित देकर उन्हें खुश करना चाहिए, परन्तु उन्हें कभी ठगना नहीं चाहिए ।

जितने से कुटुम्ब आदि का सुखपूर्वक निर्वाह हो सकता हो और लोक में भी शोभा लगे, उतना ही घर का विस्तार करना चाहिए ।

सन्तोष धारण न कर अधिकाधिक विस्तार ही किया जाय तो व्यर्थ ही धन का व्यय और आरम्भ आदि हो जाता है ।

उपर्युक्त प्रकार का घर भी अल्प द्वार वाला ही उचित है । घर के बहुत से द्वार हों तो दुष्ट लोकों के आगमन व निर्गमन का पता नहीं लगने के कारण स्त्री तथा धन आदि की हानि की सम्भावना रहती है । अल्प द्वार वाला घर भी मजबूत कपाट ● उल्लालक शृंखला व अर्गला आदि से सुरक्षित होना चाहिए अन्यथा पूर्वोक्त दोषों की ही सम्भावना रहती है ।

कपाट आदि भी सुखपूर्वक दे सकें तथा खोले जा सकें, ऐसे होने चाहिए । अन्यथा अधिकाधिक जीव-विराधना एवं शीघ्र गमनागमन के कार्य में तकलीफ पैदा होती है ।

दीवार में रहने वाली अर्गला उचित नहीं है, क्योंकि इससे पंचेन्द्रिय जीव आदि की भी विराधना की सम्भावना रहती है । इस प्रकार के कपाट आदि भी जीव जन्तु आदि देखकर यतनापूर्वक खोलने या बंद करने चाहिए ।

इसी प्रकार पानी की नाली, खाल आदि में भी यथाशक्ति यतना रखनी चाहिए । अल्पद्वार आदि के लिए शास्त्र में भी कहा है-

``जहाँ वेध आदि दोष न हों, जहाँ समस्त दल (ईंट आदि) नवीन हों, जहाँ बहुत दरवाजे न हों, जहाँ धान्य का संग्रह हो, जहाँ देवताओं की पूजा होती हो, जहाँ सावधानीपूर्वक जलसिंचन किया जाता हो, जहाँ लाल पर्दा हो, जहाँ व्यवस्थित सफाई होती हो, जहाँ छोटे-बड़े की मर्यादाओं का पालन होता हो, जहाँ सूर्य-किरणों का भीतर प्रवेश न होता हो, जहाँ दीपक प्रकाशित रहता हो, जहाँ रोगियों की सेवा होती हो, जहाँ थके हुए की मालिश होती हो, उस घर में लक्ष्मी का वास होता है ।''

इस प्रकार देश, काल, अपने वैभव तथा जाति आदि के औचित्यपूर्वक तैयार किये घर को विधिपूर्वक स्नात्रपूजा, साधर्मिक वात्सल्य व संघपूजा आदि करके उपयोग में लेना चाहिए ।

घर के निर्माण व प्रवेश आदि के समय सुन्दर मुहूर्त व शकुन आदि के बल को अवश्य देखना चाहिए । इस प्रकार विधिपूर्वक बने हुए घर में लक्ष्मी की वृद्धि आदि दुर्लभ नहीं है ।

सुना जाता है कि उज्जयिनी नगरी में दांताक नाम के सेठ ने अठारह करोड़ स्वर्ण का व्यय करके वास्तुशास्त्र आदि में निर्दिष्ट विधि से सात मंजिल का भवन तैयार किया था । रात्रि में उस महल में `गिरता हूँ, गिरता हूँ' इस प्रकार की ध्वनि सुनाई दी । इसे सुनकर सेठ डर गया और उतना ही मूल्य लेकर वह महल विक्रमराजा को सौंप दिया । विक्रमराजा ने महल ले लिया और उसी रात्रि में स्वर्णपुरुष गिरा ।

विधिपूर्वक बने हुए एवं विधिपूर्वक प्रतिष्ठित श्री मुनिसुव्रत स्वामी के स्तूप की महिमा से प्रबल सैन्य वाला कोणिक भी वैशाली नगरी को बारह वर्ष तक ग्रहण न कर सका और चारित्रभ्रष्ट कूलवालक मुनि के कथन से स्तूप को गिराने से वह तुरन्त ही उस नगरी को अपने अधीन कर सका ।

इस प्रकार घर की तरह दुकान भी अच्छे पड़ोसी को देखकर, न अतिगुप्त, न अतिप्रगट स्थान में अल्प द्वार आदि गुणों से युक्त बनाने से त्रिवर्ग की सिद्धि होती है ।

● **किवाड़ में पुराने ढंग की लकड़ी की खड़ी चिटकनी जिसे गुजराती में 'उलालो' कहते हैं ।**

64. विद्याग्रहण

विद्याप्राप्ति भी त्रिवर्ग की सिद्धि में कारणभूत है, अतः लेखन, पठन, व्यापार तथा धर्मादि कलाओं का अच्छी तरह से अध्ययन करना चाहिए ।

कलाओं का अच्छी तरह से अभ्यास नहीं किया जाय तो मूर्खता व उपहास के द्वारा कदम-कदम पर पराभव पाते हैं । जैसे कालिदास कवि पहले ग्वाला था, उस समय राजसभा में स्वस्ति के स्थान पर **'उशटर'** बोलने के कारण हँसी का पात्र हुआ था । उसके बाद उसे ग्रन्थशोधन तथा चित्रसभादर्शन का कार्य दिया गया । उसमें भी उसकी हँसी हुई । कलावान को वसुदेव आदि की तरह विदेश में भी मान प्राप्त होता है । कहते हैं- ``विद्वत्ता व नृपत्व में कभी भी समानता नहीं है, क्योंकि राजा अपने देश में ही पूजा जाता है, जबकि विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है ।''

सभी कलाओं को सीखना चाहिए । क्षेत्र-काल आदि से उन सब कलाओं का प्रसंग पर विशेष उपयोग हो सकता है, अन्यथा तकलीफ भी आ जाती है ।

कहा है- ``अट्टमट्ट (निरर्थक) भी सीखना चाहिए । सीखा हुआ कभी बेकार नहीं जाता है । ● **'अट्टमट्ट'** के प्रभाव से गुड़ एवं तुम्बे खाने को मिले हैं ।''

सकल कलाओं का अभ्यास किया हो तो पूर्वोक्त सात प्रकार की आजीविका के उपायों में से किसी भी उपाय से सुखपूर्वक निर्वाह कर सकते हैं तथा समृद्ध भी बन सकते हैं ।

सभी कलाओं को सीखने में असमर्थ हो तो जिससे इस जीवन में सुखपूर्वक निर्वाह हो सके और परलोक में सद्गति हो सके, ऐसी कलाएँ अवश्य सीखनी चाहिए । **कहा है–**

``श्रुतसागर तो अपार है और आयुष्य थोड़ा है और प्राणी मन्द बुद्धिवाले हैं । अतः उतना सीख लेना चाहिए जो थोड़ा और उपयोगी हो ।''

इस जीवलोक में उत्पन्न हुए व्यक्ति को दो बातें अवश्य सीखनी चाहिए- (1) जिससे अपना सुखपूर्वक निर्वाह होता हो और (2) जिस कर्म से मरने के बाद सद्गति होती हो ।

मूल गाथा में **'उचित'** पद का निर्देश होने से निन्द्य व पापमय कर्म से जीवन-निर्वाह का स्वतः निषेध हो जाता है ।

65. विवाह

पाणिग्रहण अर्थात् विवाह । विवाह भी त्रिवर्ग की सिद्धि में हेतुभूत होने से **'उचित'** ही करना चाहिए ।

समान कुल, सदाचार, शील, रूप, वय, विद्या, वैभव, वेष, भाषा व प्रतिष्ठा आदि गुणों से युक्त भिन्न गोत्र वाले के साथ विवाह करे । कुल-शील आदि में विषमता होने पर परस्पर अवहेलना, कुटुम्ब-कलह एवं कलंक आदि की सम्भावना रहती है ।

● **इसकी कथा उत्तराध्ययन के पाँचवें अध्ययन की गाथा सं. 8 की आ. शान्तिसूरिजी की टीका में है, पृ. सं. 245 ।**

◆ पोतनपुर नगर में श्रावक की पुत्री श्रीमती का मिथ्यादृष्टि के साथ विवाह हो गया । वह धर्म में अत्यन्त दृढ़ होने से उसका पति उसके विरुद्ध हो गया । परिणामस्वरूप उसको मारने के लिए घड़े में साँप रखकर उसने कहा- ``जा, उस घड़े में से फूल की माला ले आ ।'' श्रीमती उस घड़े के पास गयी । नमस्कार महामंत्र के स्मरण के प्रभाव से वह साँप फूलमाला के रूप में बदल गया । उसके बाद उसके पति आदि भी श्रावक बन गये ।

◆ कुल-शील आदि की समानता हो तो पेथड़शाह और प्रथमिणी की तरह हर तरह से सुख, धर्म व बड़प्पन आदि की प्राप्ति होती है ।

कन्या व वर की परीक्षा सामुद्रिकशास्त्र में निर्दिष्ट शारीरिक लक्षण व जन्म-पत्रिका आदि देखकर करनी चाहिए । **कहा भी है**–

``कुल, शील, सम्बन्धी, विद्या, धन, शरीर और वय, ये सात गुण वर में देखने चाहिए, उसके बाद तो कन्या भाग्य के अधीन ही है ।''

मूर्ख, निर्धन, दूरनिवासी, शूरवीर, मोक्षाभिलाषी व तीन गुणी अधिक उम्र वाले व्यक्ति को अपनी कन्या नहीं देनी चाहिए ।

आश्चर्यकारी सम्पत्ति वाले, अत्यन्त ठण्डे, अत्यन्त क्रोधी, विकल अंग वाले और रोगी व्यक्ति को भी कन्या नहीं देनी चाहिए ।

कुल व जाति से हीन, माता-पिता के वियोग वाले, पूर्व परिणीतास्त्री व पुत्र से युक्त पुरुष को भी कन्या नहीं देनी चाहिए ।

जिसके अत्यन्त दुश्मन हों, जो निन्द्य हो, हमेशा कमाकर ही खाने वाला हो अर्थात् निर्धन हो तथा आलस्य से शून्यमनस्क हो, उसे भी कन्या नहीं देनी चाहिए ।

अपने गोत्र में उत्पन्न, द्यूत-चोरी आदि के व्यसनी तथा परदेशी व्यक्ति को अपनी कन्या नहीं देनी चाहिए । अपने पति पर निष्कपट स्नेह वाली, सास-श्वसुर पर भक्ति रखने वाली, स्वजन में वात्सल्य वाली, बन्धुवर्ग में स्नेह रखने वाली तथा हमेशा प्रसन्न रहने वाली कुलवधू होती है ।

``जिसके पुत्र अपनी आज्ञा के अधीन हों तथा पिता पर भक्ति वाले हों, पत्नी अनुसरण करने वाली हो तथा जिसे धन में सन्तोष हो, उसके लिए यहाँ पर ही स्वर्ग है ।''

अग्निदेवता आदि की साक्षी में पाणिग्रहण विवाह कहलाता है । लोक में विवाह आठ प्रकार का है–

1) आभूषण पहिनाकर कन्यादान करना **ब्राह्म विवाह** है ।
2) धन का खर्च कर कन्यादान करना **प्राजापत्य विवाह** है ।
3) गाय-बैल की जोड़ी के दानपूर्वक विवाह करना **आर्ष विवाह** है ।
4) यजमान ब्राह्मण को यज्ञदक्षिणा के रूप में जो कन्या दी जाती है वह **दैव विवाह** है । ये चार विवाह धर्मानुसारी हैं ।
5) माता, पिता व भाई की अनुमति बिना परस्पर अनुराग से जो विवाह होता है, वह **गांधर्व विवाह** है ।
6) शर्त करके कन्यादान करना **आसुर विवाह** है ।

7) बलात्कार से कन्या ग्रहण करना **राक्षस विवाह** है ।

8) नींद में सोई कन्या को उठा ले जाना **पैशाच विवाह** है ।

ये चार अधर्मानुसारी हैं । यदि वर-वधू की पारस्परिक पसन्द हो तो वे अधर्मानुसारी भी धर्मानुसारी माने जाते हैं ।

विवाह का फल पवित्र स्त्री का लाभ है । पवित्र स्त्री-प्राप्ति का फल वधू का अच्छी तरह से रक्षण करते हुए उत्तम प्रकार की सन्तति की प्राप्ति है जिससे मन सदैव सन्तुष्ट रहता है, गृहकार्य अच्छी तरह से सम्पन्न होते हैं, कुलीनता बनी रहती है तथा देव, अतिथि व बन्धु आदि का अच्छी रीति से सत्कार होता है ।

वधू के रक्षण के उपाय

1) वधू को गृहकार्य में जोड़े रखें ।
2) उसके पास मर्यादित धन रहना चाहिए ।
3) जाने-आने में अस्वतंत्रता रहनी चाहिए ।
4) सदैव मातृतुल्य स्त्रियों के सम्पर्क में रखें ।

पत्नी विषयक औचित्य का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है ।

विवाह आदि में धनव्यय तथा उत्सव आदि अपने कुल, वैभव व लोक के औचित्य आदि को ध्यान में रखकर करने चाहिए, परन्तु बहुत अधिक नहीं करना चाहिए । अधिक धन का व्यय तो पुण्य-कार्यों में ही करना उचित है । यह बात अन्यत्र भी समझनी चाहिए । विवाह-व्यय आदि के अनुसार आदरपूर्वक स्नात्र-महोत्सव, महापूजा, नैवेद्य चढ़ाना, चतुर्विध संघ का सत्कार आदि भी करना चाहिए, इस प्रकार के पुण्यकार्यों से भव के हेतुभूत विवाह आदि कर्म भी सफल होते हैं ।

मित्रता

मित्र हमेशा विश्वसनीय होने से अवसर पर सहायता करने वाले होते हैं । मित्र की तरह वणिक्पुत्र तथा नौकर आदि भी त्रिवर्ग की साधना में सहायक हों, वे ही रखने चाहिए । उनमें उत्तम प्रकृति, साधर्मिक भक्ति, धैर्य, गम्भीरता, चातुर्य, सद्बुद्धि आदि गुण अवश्य होने चाहिए । इसके दृष्टान्त आदि व्यवहार-शुद्धि प्रकरण में पहले कहे जा चुके हैं ।

66. जिनमन्दिर

ऊँचे तोरण, शिखर व मण्डप से सुशोभित न्यायोपार्जित धन से विधिपूर्वक, भरतचक्री आदि की तरह मणि-स्वर्णादिमय अथवा विशिष्ट पाषाणादिमय अथवा विशिष्ट काष्ट-ईंट आदि मय मन्दिर बनाना चाहिए । उतनी शक्ति न हो तो तृणकुटी भी बनानी चाहिए । **कहा है**–

``न्यायोपार्जित धन वाला, बुद्धिमान, शुभ परिणाम वाला, सदाचारी श्रावक गुरु आदि से मान्य जिनमन्दिर निर्माण का अधिकारी होता है ।''

``जीवात्मा ने शुभ परिणाम के भाव बिना भूतकाल में अनन्त बार जिनप्रतिमाओं का निर्माण किया, परन्तु सम्यक्त्व का एकांश भी सिद्ध नहीं हुआ ।''

``जिन्होंने जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा का निर्माण नहीं किया, साधु की पूजा नहीं की और दुर्धरव्रत को धारण नहीं किया, सचमुच, वे अपने जन्म को हार गये ।''

``जो भक्तिपूर्वक परमगुरु (जिनेश्वर भगवान) की तृणमय कुटीर का भी निर्माण करता है और जो भक्ति से प्रभु को एक पुष्प भी चढ़ाता है, उसके पुण्य का कोई प्रमाण नहीं है ।''

``जो मनुष्य बड़ी दृढ़ और कठोर शिलाएँ गड़वाकर शुभमति से जिनभवन कराते हैं उनकी बात ही क्या ! वे बहुत ही धन्यवाद के पात्र हैं तथा वे वैमानिक देव बनते हैं ।''

जिनमन्दिर निर्माण-विधि

जिनमन्दिर के निर्माण में शुद्ध भूमि, शुद्ध दल (पत्थर-ईंट आदि) तथा नौकर को न ठगना एवं सूत्रधार का सम्मान आदि पूर्वोक्त गृहनिर्माण-विधि की भाँति यथोचित एवं सविशेष जानना चाहिए । **कहा है**– ``धर्म के लिए उद्यत हुए पुरुष को किसी भी प्रकार की अप्रीतिकर प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए । इस प्रकार (अप्रीतिवर्जन से) संयम भी कल्याणकारी है । यहाँ पर भगवान महावीर प्रभु का उदाहरण समझना चाहिए ।''

``मेरे रहने से तापसों को अप्रीति होगी और अप्रीति परम अबोधि का बीज है''-यह बात जानकर महावीर प्रभु ने चातुर्मास काल में ही विहार कर दिया था ।

जिनमन्दिर के लिए काष्ठ आदि भी शुद्ध होने चाहिए । देवतादि के उपवन से लाया हुआ, द्विपद-चतुष्पद आदि को सन्ताप देकर प्राप्त किया हुआ, स्वयं द्वारा बनाया हुआ काष्ठ आदि अशुद्ध कहलाता है । रंक मजदूर लोगों को अधिक मजदूरी देने से वे खुश होते हैं और पहले से अधिक काम करते हैं ।

जिनमन्दिर के निर्माण में भावों की शुद्धि के लिए गुरु व संघ के समक्ष इस प्रकार बोलना चाहिए- ``यहाँ अविधि से किसी अन्य का धन आ गया हो तो वह पुण्य उसे हो ।'' **षोडशक में कहा है**–

``जिसकी मालिकी का धन अनुचित रीति से इस काम में लगा हो तो वह पुण्य उसके स्वामी को हो''-इस प्रकार शुभ आशय से करने से वह कार्य भावशुद्ध होता है ।

शंका–नींव खोदना, नींव भरना, लकड़ी लाना, चीरना, पत्थर घड़ना, चयन आदि कार्य मन्दिर-निर्माण में होने से महाआरम्भ का दोष नहीं है ?

समाधान–यतनापूर्वक प्रवृत्ति होने से मन्दिर-निर्माण में महारम्भ का दोष नहीं है । जिनमन्दिर-निर्माण मे अनेक प्रतिमाओं की स्थापना, पूजन, संघ-समागम, धर्मदेशना, सम्यक्त्व व व्रत स्वीकार, शासन-प्रभावना, अनुमोदना आदि अनन्त पुण्यबन्ध में हेतुभूत होने से शुभफलदायी है । **कहा है**– ``सूत्रोक्त विधिज्ञाता व्यक्ति को यतनापूर्वक प्रवृत्ति करते हुए कभी विराधना भी हो जाय तो भी अध्यवसाय की विशुद्धि से युक्त होने के कारण निर्जरा-लाभ ही होता है ।''

द्रव्यस्तव में कूप दृष्टान्त आदि पहले कहे जा चुके हैं ।

67. मन्दिर जीर्णोद्धार

जिनमन्दिर के जीर्णोद्धार में विशेष प्रयत्न करना चाहिए । **कहा है**– ``नवीन जिनगृह के निर्माण में जितना फल होता है, उससे आठ गुणा पुण्य जीर्णोद्धार से होता है ।''

``जीर्ण मन्दिर के समुद्धार में जितना पुण्य है, उतना नवीन के निर्माण में नहीं है । नवीन मन्दिर में अधिक विराधना तथा **'मेरा मन्दिर'** इस प्रकार की प्रसिद्धि की बुद्धि भी होती है । **कहा है**–

``जिनकल्पी साधु भी राजा, मंत्री, सेठ तथा कौटुम्बिक को उपदेश देकर जीर्णमन्दिर का उद्धार कराते हैं।''

जो मनुष्य भक्तिपूर्वक जीर्णमन्दिर का उद्धार कराते हैं वे इस भयंकर भवसागर से अपनी आत्मा का उद्धार करते हैं।

शत्रुंजय - उद्धार

वाग्भट्ट मंत्री के पिता ने शत्रुंजय महातीर्थ के जीर्णोद्धार का निश्चय किया था। तदनुसार वाग्भट्ट ने शत्रुंजय के उद्धार का काम चालू कराया। उस जीर्णोद्धार में अनेक श्रेष्ठी अपना द्रव्य (धन) लिखाने लगे तब टीमाणा गाँव के भीम ने अपना घी बेचकर भी अपनी सर्वस्व छह द्रम्म की सम्पत्ति दान में दे दी थी। अतः वाग्भट्ट मंत्री ने उसका नाम सबसे ऊपर रखा। उस दान के फल से उसे हुए स्वर्ण की निधि के लाभ का प्रसंग प्रसिद्ध ही है।

काष्ठ के चैत्य के बदले पाषाण का चैत्य दो वर्ष में तैयार हो गया। मन्दिर की पूर्णाहुति की बधाई देने वाले को मंत्री ने सोने की बत्तीस जीभ दी। कुछ समय बाद वह मंदिर बिजली गिरने से फट गया। यह समाचार देने वाले को मंत्री ने ``अहो ! जीते हुए मुझे दूसरी बार जीर्णोद्धार का लाभ मिला''-विचार कर सोने की चौंसठ जीभें भेंट दी। इस प्रकार करते हुए उसे दो करोड़ सत्ताणु लाख द्रव्य खर्च हुआ। मंत्री ने पूजा के लिए चौबीस गाँव व चौबीस बगीचे भेंट दिये।

वाग्भट्ट मंत्री के भाई आंबड़ मंत्री ने भरूच में दुष्ट व्यन्तरी के उपद्रव को दूर करने वाले श्री हेमचन्द्रसूरिजी म. के सहयोग से अठारह हाथ ऊँचे शकुनिविहार नामक प्रासाद का जीर्णोद्धार कराया।

मल्लिकार्जुन राजा के कोश सम्बन्धी बत्तीस घड़ी स्वर्ण का कलश, स्वर्णदण्ड व ध्वजा आदि उस पर चढ़ायी गई। मंगलदीप के प्रसंग पर याचकों को बत्तीस लाख द्रम्म दिये गये।

जीर्ण चैत्य के उद्धारपूर्वक ही नवीन चैत्य कराना उचित है। इसी कारण सम्प्रति राजा ने नवासी हजार मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था और छत्तीस हजार नवीन मन्दिर बनवाये थे। इसी प्रकार कुमारपाल व वस्तुपाल आदि ने भी नवीन मन्दिरों की अपेक्षा बहुत से मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। उनकी संख्या भी पहले कही जा चुकी है। ``मन्दिर तैयार होते ही शीघ्र ही प्रतिमा स्थापित कर देनी चाहिए।''

श्री हरिभद्रसूरिजी म. ने कहा है- ``बुद्धिमान व्यक्ति को जिनमन्दिर तैयार होने पर जिनबिम्ब शीघ्र ही तैयार करना चाहिए। क्योंकि अधिष्ठान वाले मन्दिर की वृद्धि होती रहती है अर्थात् मन्दिर में प्रतिमा की प्रतिष्ठा होने पर मन्दिर की वृद्धि होती है। मन्दिर में कुंडी, कलश, ओरसिया, दीप आदि सभी प्रकार की सामग्री देनी चाहिए। तथा शक्ति अनुसार भण्डार, देव की आमदनी, वाड़ी आदि कराना चाहिए।

राजादि मन्दिर बनाने वाले हों तो उन्हें प्रचुर कोष, ग्राम, गोकुल आदि देने चाहिए। **कहा है**– ``मालवा देश के जाकुड़ी मंत्री ने गिरनार पर्वत पर पूर्वकाष्ठ मन्दिर के स्थान पर पाषाण का मन्दिर बनवाना प्रारम्भ किया। दुर्भाग्य से उसका स्वर्गवास हो गया। उसके बाद एक सौ पैंतीस वर्ष के बाद सिद्धराज जयसिंह राजा के दण्डाधिपति सज्जन ने सौराष्ट्र देश की तीन वर्ष की आय सत्ताईस लाख द्रम्म खर्चकर बनवाया। राजा ने जब वह धन मांगा तब उसने कहा- ``मैंने वह धन गिरनार पर्वत पर स्थापित किया।'' राजा ऊपर गया और उसने नवीन चैत्य को देखा। खुश होकर वह बोला- ``यह किसने बनवाया है ?''

सज्जन ने कहा- ``आपने ।''

सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ । फिर सही बात बतलाकर कहा- ``हे राजन् ! या तो आप इन श्रेष्ठियों के द्वारा दिया गया इतना धन स्वीकार करें अथवा मन्दिर-निर्माण का पुण्य ।''

विवेकी राजा ने पुण्य को ही स्वीकार किया । राजा ने प्रसन्न होकर उस नेमिनाथ चैत्य की पूजा के लिए बारह गाँव भी प्रदान किये ।

जीवित स्वामी की प्रतिमा का मन्दिर प्रभावती रानी ने बनवाया । फिर क्रमशः चण्डप्रद्योत राजा ने उसकी पूजा के लिए बारह हजार गाँव प्रदान किये । उसका वृत्तान्त इस प्रकार है-

जीवित प्रतिमा

चम्पानगरी में स्त्रीलोलुपी कुमारनन्दी नाम का सोनी रहता था । वह पाँच सौ, पाँच सौ सोना मोहर देकर रूपवती कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करता था । इस प्रकार परिणीत पाँच सौ स्त्रियों के साथ एकस्तम्भ के महल में वह ईर्ष्यालु आनन्द करता था ।

एक बार अपने पति विद्युन्माली का च्यवन हो जाने के कारण पंचशैल पर्वत पर रहने वाली हासा व प्रहासा नाम की व्यन्तरियों ने अपना रूप दिखलाकर कुमारनन्दी को मोहित किया । कुमारनन्दी ने जब उनसे काम की प्रार्थना की, तब उन देवियों ने कहा, ``पंचशैल पर्वत पर आओ ।'' इस प्रकार कहकर वे चली गयीं ।

राजा को स्वर्ण देकर उसने एक पटह बजवाया कि ``जो मुझे पंचशैल पर ले जायेगा, उसे मैं करोड़ सोना मोहर दूंगा ।'' यह घोषणा सुनकर एक वृद्ध नाविक तैयार हो गया । अपने पुत्रों को धन देकर उसने कुमारनन्दी को अपनी नाव में चढ़ाया और समुद्र में बहुत दूर जाने पर बोला- ``समुद्र तट पर यह बड़ का वृक्ष है, इसके नीचे से नाव जाने पर तुम इस बड़ की शाखा में लग जाना । पंचशैलपर्वत से तीन पैर वाले भारंड पक्षी यहाँ आकर सोते हैं । उसके बीच के पैर में वस्त्र से अपने आपको दृढ़ता से बाँध देना । प्रातःकाल में वे उड़कर पंचशैल पर चले जायेंगे । उनके साथ तुम भी वहाँ पहुँच जाओगे और यह नाव महावर्त में गिर जायेगी ।''

उस सोनी ने वैसा ही किया और वह पंचशैलपर्वत पर पहुँच गया । उन देवियों ने कहा- ``इस देह (औदारिक देह) से तुम हमको नहीं भोग सकोगे, अतः अग्नि-प्रवेश करो ।'' उन देवियों ने उसे हथेली में उठाकर चम्पा के उद्यान में रख दिया । मित्र नागिल श्रावक ने उसको रोका, फिर भी निदानपूर्वक अग्निस्नान कर पंचशैल पर्वत का अधिपति व्यन्तरदेव बना । विरक्त होकर नागिल ने भी दीक्षा स्वीकार की और अन्त में समाधिपूर्वक मरकर वह बारहवें देवलोक में देव बना ।

एक बार नन्दीश्वर द्वीप की ओर जाने वाले देवताओं की आज्ञा से हासा-प्रहासा ने कुमारनन्दी देव को पटह ग्रहण करने के लिए कहा । वह अहंकार से हुंकार करने लगा । इतने में वह पटह उसके गले में लग गया, वह किसी भी प्रकार से दूर नहीं होता था ।

अपने अवधिज्ञान से जानकर वह नागिल देव वहाँ उपस्थित हुआ । सूर्य के तेज से उल्लू भागता है, उस प्रकार वह कुमारनन्दी देव उस नागिल देव के तेज को सहन न कर सकने के कारण भागने लगा

अतः उस देव ने अपने तेज का संहरण कर उसे कहा- ``तुम मुझे पहिचानते हो ?'' उसने कहा- ``इन्द्रादि को कौन नहीं पहिचानता है ?'' कुमारनन्दी देव के इस प्रकार कहने पर नागिल देव ने श्रावक का रूप कर पूर्वभव कहकर उसे प्रतिबोध दिया । प्रतिबोध पाने पर कुमारनन्दी देव ने कहा- ``अब मैं क्या करूँ ?'' नागिल देव ने कहा, ``गृहस्थ अवस्था में कायोत्सर्ग में रहे भावयति महावीर प्रभु की प्रतिमा कराओ, जिससे तुम्हें परभव में बोधि की प्राप्ति होगी ।''

यह बात सुनकर उस देव ने प्रतिमा में रहे श्रीवीर प्रभु को देखकर महाहिमवन्त पर्वत पर रहे गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा तैयार करा दी और उसकी प्रतिष्ठा कराकर सर्वांग आभूषणों से अलंकृत कर पुष्पादि से पूजा कर जातिवन्त चन्दन की पेटी में रख दी । समुद्र में एक नाव के छह मास के उपद्रव को दूर कर वह प्रतिमा की पेटी नाविक को देते हुए उसने कहा- ``इस पेटी को सिन्धु-सौवीर देश में वीतभयनगर में ले जाकर चौराहे पर जाकर **'देवाधिदेव की प्रतिमा को ग्रहण करो'**-इस प्रकार की घोषणा करना । नाविक ने वैसा ही किया । तापसभक्त उदायन राजा और अन्य भी दूसरे दर्शनी लोगों ने अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण कर उस पेटी को कुल्हाड़े से तोड़ने, खोलने की कोशिश की परन्तु कुल्हाड़ों के टूटने पर भी वह पेटी नहीं खुली । इससे सभी लोक उद्विग्न हो गये, मध्याह्न भी हो गया था । तभी प्रभावती रानी ने भोजन के लिए राजा को बुलाने के लिए दासी को भेजा । कौतुक देखने के लिए राजा ने प्रभावती को बुलाया । देवी ने कहा- ``देवाधिदेव अरिहन्त ही हैं, दूसरे नहीं, कौतुक देखना हो तो देख लें ।'' इस प्रकार कहकर रानी ने यक्षकर्दम से पेटी का अभिषेक कर पुष्पांजलि डालकर ``देवाधिदेव मुझे दर्शन दो'' इस प्रकार बोलने के साथ ही वह संपुट प्रातःकाल के कमलकोश की भाँति स्वयं खुल गया । उसमें से अम्लान माला से युक्त प्रतिमा प्रगट हुई और इससे जैनशासन की प्रभावना हुई ।

उसके बाद उस रानी ने नाविक का योग्य सत्कार कर, उस प्रतिमा को उत्सवपूर्वक अन्तःपुर में ले जाकर नवीन निर्मित मन्दिर में उसकी स्थापना की और प्रतिदिन उसकी त्रिकाल पूजा करने लगी ।

एक बार रानी के आग्रह से राजा वीणा बजा रहा था और रानी उसके आगे नाच कर रही थी । राजा ने नृत्य करती रानी के मस्तक को नहीं देखा... उस क्षोभ से राजा के हाथ में से वह वीणा नीचे गिर गयी । नृत्यरस का भंग होने से रानी नाराज हो गयी तब राजा ने सही-सही बात कह दी ।

एक बार दासी द्वारा लाये गये सफेद वस्त्र को लाल देखने के कारण प्रभावती रानी को गुस्सा आ गया, क्रोध से उसने दासी पर दर्पण से प्रहार किया, जिससे दासी तुरन्त मर गयी । उसके बाद उस रानी को सफेद दिखाई देने लगा ।

उस दुर्निमित्त तथा राजा को मस्तक नहीं दिखायी देने वाले दुर्निमित्त से अपना अल्प आयुष्य जानकर तथा स्त्रीहत्या से अपने पहले व्रत का भंग देख कर वह विरक्त बन गयी और राजा के पास दीक्षा की अनुमति लेने गयी । राजा ने कहा- ``तुम देव बन जाओ तो मुझे सम्यग्धर्म में जोड़ना'' इस प्रकार कहकर राजा ने अनुमति दे दी ।

रानी ने उस प्रतिमा की व्यवस्था का कार्यभार देवदत्ता नाम की कुब्जा दासी को सौंप दिया और उत्सवपूर्वक दीक्षा ग्रहण कर अनशन कर सौधर्म देवलोक में देव बनी ।

देव के बोध देने पर भी राजा ने तापस-भक्ति नहीं छोड़ी- ``अहो, दृष्टिराग का त्याग कितना

दुष्कर है ।'' उसके बाद तापस के रूप में वह देव राजा को दिव्य अमृत फल देने लगा । राजा उन फलों को खाने में लुब्ध हो गया । वह तापस अपनी शक्ति से एकाकी राजा को अपने आश्रम में ले गया । मायावी तापस राजा को मारने लगे तब राजा भागा । आगे उसे जैनसाधु मिले, उसने जैनसाधु की शरण स्वीकार की । साधुओं ने उसे कहा- ``मत डरो ।'' साधुओं ने उसे धर्म समझाया तब राजा ने वह धर्म स्वीकार किया । उसके बाद देव ने राजा को अपनी ऋद्धि बताकर उसे जैनधर्म में दृढ़ कर उसे कहा- ``आपत्ति में मुझे याद करना''-इस प्रकार कहकर वह देव अदृश्य हो गया ।

इधर गांधार नाम का श्रावक सभी मन्दिरों में चैत्यवन्दन करने के लिए निकला । बहुत से उपवास करने से सन्तुष्ट हुई देवी उसे वैताढ्य पर्वत पर ले गयी और उसे वहाँ के मन्दिरों के दर्शन कराये । देवी ने उसे मनोवांछित प्रदान करने वाली एक सौ आठ गुटिकाएँ प्रदान कीं, उनमें से उसने एक गुटिका मुँह में रखी और **'वीतभय'** नगर जाने का संकल्प किया । गुटिका के प्रभाव से वह वीतभय पहुँच गया । कुब्जा दासी ने उसे प्रतिमा का वन्दन कराया । गान्धार श्रावक वहाँ बीमार पड़ा । कुब्जा दासी ने उसकी सेवा की । अपना आयुष्य थोड़ा जानकर उस श्रावक ने सारी गुटिकाएँ दासी को दे दीं और स्वयं ने दीक्षा ले ली । उस दासी ने एक गोली खा ली । उस गोली के प्रभाव से वह अत्यन्त रूपवती बन गयी और सुवर्णगुलिका के नाम से प्रख्यात हुई ।

एक गुटिका से उसने चौदह मुकुटधारी राजाओं से सेवित चण्डप्रद्योत को पति बनाने की इच्छा की, क्योंकि उदायन पिता तुल्य थे और शेष राजा तो उसके सेवक थे ।

देवता के कथन से चण्डप्रद्योत ने उसे बुलाने के लिए दूत भेजा, तब सुवर्णगुलिका ने राजा को बुलाया । राजा भी अनिलवेग हाथी पर बैठकर वहाँ आया । सुवर्णगुलिका ने कहा- ``मैं इस प्रतिमा के बिना नहीं आऊंगी, अतः इसके समान दूसरी प्रतिमा कराकर यहाँ स्थापित करें, जिससे इस प्रतिमा को साथ ले जाया जा सके ।''

चण्डप्रद्योत अवन्ती में गया और वहाँ दूसरी प्रतिमा कराकर केवली कपिल ब्रह्मर्षि के द्वारा उसकी प्रतिष्ठा कराकर हाथी पर आरूढ़ होकर वीतभयनगर में आया और पूर्व प्रतिमा के स्थान पर उस प्रतिमा को रखकर मुख्य प्रतिमा व दासी को लेकर रात्रि में गुप्त रूप से चला गया ।

विषय में आसक्त उन दोनों ने पूजा के लिए वह प्रतिमा विदिशा नगरी के भायल स्वामी वणिक् को दे दी । एक बार कंबल-शंबल नागकुमार उस प्रतिमा की पूजा करने के लिए आये । भायल श्रावक पाताल की प्रतिमा की वन्दना करने के लिए उत्सुक होने से नागकुमार देव भायल को सरोवर के मार्ग से पाताल में ले गये । जब वे दोनों देव भायल को ले आये तब उसने जीवित स्वामी की आधी आंगी ही की थी । आधी आंगी बाकी थी । वहाँ जिनभक्ति से तुष्ट हुए धरणेन्द्र को भायल ने कहा- ``मेरे नाम की प्रसिद्धि हो ऐसा करो'' उसने कहा, ``वैसा ही होगा । चण्डप्रद्योत राजा विदिशानगर तुम्हारे नाम से देवकीय नगर करेगा । परन्तु तुम आधी पूजा करके आये हुए होने के कारण भविष्य में वह प्रतिमा गुप्त रीति से मिथ्यादृष्टियों द्वारा पूजी जायेगी । यह प्रतिमा आदित्य भायल स्वामी की है, ऐसा कहकर उसे बाहर स्थापित करेंगे । तुम खेद न करो । दुषमकाल के प्रभाव से ऐसा ही होगा । इस बात को सुनकर भायल वापस चला आया ।

प्रातःकाल में उस प्रतिमा की म्लान माला को देखकर, दासी को वहाँ नहीं देखकर एवं हाथी के मद के नाश को देखकर रात्रि में चण्डप्रद्योत के आगमन का निर्णय कर, सोलह देश और तीन सौ तिरसठ नगरों का अधिपति उदायन राजा, महासेन आदि दस मुकुटबद्ध राजाओं के साथ युद्ध के लिए चल पड़ा ।

ग्रीष्मऋतु के कारण मार्ग में जल सूख गया । उस समय प्रभावतीदेव का स्मरण करने पर उस देव ने तीन तालाबों को जल से भर दिया ।

क्रमशः उदायन और चण्डप्रद्योत का युद्ध हुआ । युद्ध में रथ का ही संकेत होने पर भी चण्डप्रद्योत अनिलवेग हाथी पर बैठकर आया । प्रतिज्ञाभंग का दोष चण्डप्रद्योत को भारी पड़ा । उदायन ने पैर में जखमी हाथी के नीचे गिरने पर, चण्डप्रद्योत को बाँधकर उसके भाल पर **'दासीपति'** की मोहर लगा दी ।

उसके बाद वह उस प्रतिमा को लेने के लिए विदिशा में गया । बहुत प्रयत्न करने पर भी वह प्रतिमा वहाँ से चलित नहीं हुई और बोली- ``वीतभय नगर में धूल की वृष्टि होगी, इसीलिए मैं नहीं आती हूँ ।''

उसके बाद जब उदायन वापस लौटा, तब वर्षा हो जाने से बीच में ही पड़ाव करके रहा ।

वार्षिक पर्व (संवत्सरी) के दिन उदायन राजा के उपवास था । अतः रसोइये ने चण्डप्रद्योत को रसोई के लिए पूछा तब विषमिश्रण के भय से उसने कहा- ``अच्छा याद दिलाया, मेरे भी आज उपवास है । मेरे माता-पिता श्रावक थे ।''

उदायन ने कहा- ``उसके श्रावकपने को जान लिया है । फिर भी वह ऐसा कहता है तो वह नाम से भी साधर्मिक है, अतः जब तक यह बन्धन में होगा, तब तक मेरा पर्व-प्रतिक्रमण शुद्ध कैसे हो सकेगा ?'' इस प्रकार विचार कर चण्डप्रद्योत को बन्धन से मुक्त कर दिया और उससे क्षमायाचना कर भाल पर पट्टबन्ध कराकर उसे अवन्तीदेश सौंप दिया । अहो ! उदायन की धार्मिकता व सन्तोषनिष्ठा कितनी है !

वर्षा के बाद उदायन वीतभय नगर में गया । सेना के स्थान पर आये हुए वणिक् लोकों के निवास से दशपुर नगर की स्थापना हुई । प्रद्योतन राजा ने वह नगर जीवितस्वामी की पूजा के लिए दिया । विदिशा नगर का भायल स्वामी के नाम से भायलपुर नाम रखा तथा दूसरे भी बारह हजार गाँव जीवन्तस्वामी की भक्ति में प्रदान किये ।

एक बार प्रभावतीदेव की सूचना से कपिल ऋषि के द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा की पूजा करने वाले उदायन राजा को पाक्षिक पौषध में रात्रिजागरण के समय दीक्षा की भावना पैदा हुई । उसने उस प्रतिमा की पूजा के लिए बहुत से गाँव, आकर (खान), नगर आदि प्रदान किये और ``राज्य तो नरक देने वाला है अतः प्रभावती के पुत्र अभीचि को कैसे दूँ ?'' इस प्रकार विचार कर केशी नाम के अपने भाणेज को राज्य दिया । उसी के द्वारा किये गये महोत्सवपूर्वक वीर प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार कर ली ।

एक बार अकाल एवं अपथ्य आहार के कारण चरम राजर्षि उदायन को महाव्याधि उत्पन्न हुई । `शरीर तो धर्म का पहला साधन है'-इस प्रकार जानकर वैद्य के कथन से दही के लिए वे गोकुल वाले

गाँवों में स्थिरता करते हुए क्रमशः वीतभय नगर में पधारे। केशी राजा उनका भक्त था, परन्तु दुश्मन मंत्री ने राजा को व्युद्ग्राहित करते हुए कहा- ``चारित्र से पतित उदायन राज्य लेने के लिए आ रहा है। अतः इसे किसी उपाय से खत्म कर देना चाहिए।'' राजा ने मंत्री की बात मानकर उदायन राजर्षि को विषमिश्रित दही प्रदान किया। परन्तु देव ने उस दही को विष रहित कर दिया और दही लेने का निषेध कर दिया।

कुछ दिनों बाद पुनः रोग बढ़ने से वे दही लेने के लिए तैयार हुए। देव ने तीन बार उनके दही में से विष दूर किया। एक बार देवता के प्रमाद के कारण उन्होंने विषयुक्त दही खा लिया। उदायनमुनि ने अनशन स्वीकार किया। एक मास के अनशन से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और क्रमशः वे सिद्ध हुए।

कुपित हुए देव ने वीतभय नगर में धूल की वृष्टि की। देव राजर्षि के शय्यातर कुंभार को सिनपल्ली में ले गया और उस गाँव का नाम **'कुंभकारकृत'** रखा।

उदायन राजा का पुत्र अभीचि राज्य के लिए योग्य होने पर भी राजा (पिता) द्वारा राज्य नहीं देने के कारण दुःखी हो गया और वह अपने मासी के पुत्र कुणिक के पास जाकर सुखपूर्वक रहने लगा और वहाँ श्रावकधर्म की आराधना करने लगा परन्तु पिता के पराभव के वैर की आलोचना किये बिना ही पाक्षिक अनशन से मरकर एक पल्योपम की आयुवाला असुरकुमार देव बना। वहाँ से वह देव महाविदेह में उत्पन्न होकर सिद्ध होगा।

कुमारपाल राजा को गुरुमुख से धूल की वृष्टि से भूमिगत कपिल ऋषि द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा का पता चला। धूलवाले स्थान को खोदने पर उदायन द्वारा निर्दिष्ट आज्ञा-पत्र (ताम्र-पत्र) के साथ वह प्रतिमा शीघ्र ही प्रगट हुई। अच्छी तरह से उसका पूजन कर भव्य महोत्सव के साथ उस प्रतिमा को अणहिल्लपुर पाटण ले जाया गया और वहाँ नवनिर्मित विशाल स्फटिक के मन्दिर में उसने वह प्रतिमा स्थापित की। पत्र में लिखी गयी आज्ञाओं और उदायन राजा द्वारा मन्दिरव्यवस्था हेतु निर्दिष्ट गाँव-नगर आदि आदेशों को स्वीकार कर दीर्घकाल तक उस प्रतिमा की पूजा की। उस प्रतिमा की स्थापना से चारों ओर से समृद्धि बढ़ी।

इस प्रकार मन्दिर-व्यवस्था हेतु जागीर आदि देने से निरन्तर पूजा और जिनमन्दिर की सुरक्षा, आवश्यक मरम्मत आदि भी आसानी से हो सकती है। **कहा है**– ``जो व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार ऐश्वर्ययुक्त जिनमंदिर का निर्माण करता है वह पुरुष दीर्घकाल तक देवगण से अभिनन्दनीय होकर परमसुख मोक्ष को प्राप्त करता है।''

68. जिन-प्रतिमा

मणि, स्वर्णादि धातु, चन्दन आदि काष्ठ, हाथीदाँत, पाषाण अथवा मिट्टी की पाँच सौ धनुष से लेकर अंगुष्ठ प्रमाण तक की प्रतिमा अपनी शक्ति के अनुसार करानी चाहिए। **कहा है**– ``जो मनुष्य अच्छी मिट्टी, निर्मल शिला, हाथी दाँत, चांदी, स्वर्ण, रत्न, माणक अथवा चन्दन की सुन्दर जिनप्रतिमा अपनी शक्ति के अनुसार बनवाता है, वह मनुष्य, मनुष्य और देव भव में महान् सुख प्राप्त करता है।''

जो जिनबिम्ब कराता है उसे दारिद्र्य, दौर्भाग्य, खराब जाति, खराब शरीर, खराब गति, खराब बुद्धि, अपमान, रोग और शोक नहीं होते हैं ।

वास्तुशास्त्र में कही गयी विधि के अनुसार तैयार की गयी सुन्दर लक्षण वाली जिनप्रतिमा यहाँ भी अभ्युदय आदि दिलाने वाली है ।

कहा है– ''अन्याय द्रव्य से तैयार की गयी, दूसरों के पाषाण आदि से तैयार की गयी तथा हीन-अधिक अंग वाली प्रतिमा स्व-पर की उन्नति का नाश करने वाली होती है ।''

''जिस प्रतिमा के मुख, नाक, नयन, नाभि और कटिभाग का भंग हो गया हो, उस प्रतिमा का मूलनायक के रूप में त्याग करना चाहिए, परन्तु आभूषण, वस्त्र, परिवार, लांछन अथवा आयुध का भंग हुआ हो तो उसे पूजने में कोई आपत्ति नहीं है ।'' ''जो प्रतिमा सौ वर्ष से प्राचीन हो तथा महान् पुरुष द्वारा प्रतिष्ठित हो, वह प्रतिमा विकल अंग वाली भी हो तो भी पूजने में कोई दोष नहीं है ।''

बिम्ब के परिवार में पत्थर की वर्ण-संकरता शुभ नहीं है, सम-अंगुल प्रमाण प्रतिमाएँ कभी शुभ नहीं होती हैं ।

पूर्वाचार्यों का कथन है कि एक से ग्यारह अंगुल प्रमाण प्रतिमा गृहमंदिर में पूजी जा सकती है, उससे अधिक प्रमाण वाली प्रतिमा प्रासाद (जिनमन्दिर) में पूजी जानी चाहिए । निरयावली सूत्र के अनुसार लेप, पाषाण, काष्ठ, दाँत, लोहा, परिवाररहित एवं बिना प्रमाण वाली प्रतिमा घरमन्दिर में नहीं पूजनी चाहिए ।

गृह-प्रतिमा के आगे नैवेद्य का विस्तार नहीं करना चाहिए । परन्तु प्रतिदिन भावपूर्वक अभिषेक व त्रिसन्ध्य पूजा अवश्य करनी चाहिए ।

मुख्यतया जिनप्रतिमा परिकर व तिलक आदि आभूषण युक्त करानी चाहिए । उनमें विशेषकर मूलनायक की, क्योंकि उससे विशेष शोभा होती है और उसके फलस्वरूप पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है । **कहा भी है**– ''जिनमन्दिर में रही हुई प्रतिमा लक्षणयुक्त और अलंकारयुक्त हो तो उससे ज्यों-ज्यों मन प्रसन्न होता है त्यों-त्यों निर्जरा समझनी चाहिए ।''

जिनमन्दिर-निर्माण व प्रभु की पूजा से अनुपम फल प्राप्त होता है । वह प्रतिमा जब तक रहती है, तब तक असंख्य काल तक भी तज्जन्य पुण्य प्राप्त होता है । जैसे-भरत चक्रवर्ती के द्वारा बनवाया गया अष्टापद का मन्दिर तथा रैवताचल पर ब्रह्मेन्द्र के द्वारा किया गया काञ्चनबलानक आदि मन्दिर तथा उनकी प्रतिमाएँ, भरत चक्रवर्ती की अंगूठी में रही हुई कुल्पाक तीर्थ की माणिक्य स्वामी की प्रतिमा तथा स्तम्भन तीर्थ की प्रतिमा आज भी पूजी जाती हैं ।

ग्रन्थकार ने कहा है- ''(1) जल, (2) ठंडा अन्न (नाश्ता), (3) भोजन, (4) मासिक आजीविका, (5) वस्त्र, (6) वर्ष की आजीविका तथा (7) जीवनपर्यन्त की आजीविका के दान से अथवा (1) सामायिक, (2) पोरिसी, एकाशन, आयंबिल, (3) उपवास, (4-5-6) अभिग्रह और व्रत से क्रमशः क्षण, एक प्रहर, एक दिन, एक मास, छह मास, एक वर्ष और जीवन पर्यन्त भोगा जाय इतना पुण्य होता है, परन्तु चैत्य प्रतिमा आदि बनवाने से बहुत पुण्य होता है । लोग उसके बहुत काल तक दर्शन आदि करते हैं अतः उससे होने वाले पुण्य की मर्यादा ही नहीं है अर्थात् उससे अगणित पुण्य होता है ।

इसी कारण जिस शत्रुंजय तीर्थ पर पाँच करोड़ मुनियों के साथ में पुण्डरीक स्वामी ने केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त किया था, वहीं पर इसी चौबीसी में भरत महाराजा ने एक कोस ऊँचे और तीन गाऊ लम्बे, चौरासी मण्डपों से युक्त रत्नमय चतुर्मुख जिन-प्रासाद का निर्माण कराया था। इसी प्रकार बाहुबली तथा मरुदेवी के शिखरों पर, गिरनार पर, आबू पर, वैभार गिरि पर, सम्मेतशिखर पर तथा अष्टापद पर्वत पर भरत महाराजा ने जिनमंदिरों का निर्माण कराया था और उनमें पाँच सौ धनुष आदि प्रमाण वाली स्वर्ण आदि की प्रतिमाएँ स्थापित कराई थीं। दण्डवीर्य राजा तथा सगर चक्रवर्ती आदि ने उनका उद्धार भी किया था। हरिषेण चक्रवर्ती ने समस्त पृथ्वी को जिनमन्दिरों से अलंकृत किया था।

ऐसा सुना जाता है कि सम्प्रति महाराजा ने अपने जीवन काल में सवालाख जिनमन्दिर बनवाये थे। इनमें सौ वर्ष के आयुष्य के दिन की शुद्धि के लिए छत्तीस हजार नवीन और शेष जीर्णोद्धार वाले मन्दिर थे। उसने स्वर्ण आदि से सवा करोड़ जिनबिम्ब बनवाये थे।

आमराजा ने गोपालगिरि पर्वत पर साढ़े तीन करोड़ खर्चकर एक सौ हाथ ऊँचा मन्दिर बनवाया था, उसमें सात हाथ प्रमाण सोने का जिनबिम्ब स्थापित किया था। उस मन्दिर के मूल मण्डप में सवालाख सोना मोहर व प्रेक्षा मण्डप में इक्कीस लाख सोना मोहर का खर्च हुआ था।

कुमारपाल महाराजा ने 1444 नूतन जिनमन्दिरों का निर्माण एवं 1600 मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। कुमारपाल ने अपने पिता के नाम से छिन्नु करोड़ द्रव्य खर्च करके त्रिभुवन-विहार नाम का मन्दिर बनवाया था, उसमें अरिष्टरत्न की 125 अंगुल ऊँची मुख्य प्रतिमा तथा बहोत्तर देवकुलिकाओं में चौदह-चौदह भारवाली चौबीस प्रतिमाएँ रत्न की, चौबीस प्रतिमाएँ स्वर्ण की व चौबीस प्रतिमाएँ चांदी की भरवायी थीं।

वस्तुपाल मंत्री ने 1313 नवीन जिनमन्दिरों का निर्माण एवं 2200 प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था और सवा लाख बिम्ब भरवाये थे।

पेथड़शाह ने 84 मन्दिर बनवाये थे। सुरगिरि में कोई जैनमन्दिर नहीं था। वहाँ मन्दिर बनवाने के लिए पेथड़शाह ने वीरमद राजा के प्रधान विप्र हेमादे के नाम से मान्धातापुर और ओंकारपुर में तीन वर्ष तक दानशाला खुलवाई थी। अन्त में खुश होकर हेमादे ने पेथड़शाह को सात महल जितनी भूमि प्रदान की। उस भूमि में नींव खोदने पर मीठा पानी निकला, किसी ने जाकर राजा के कान फूंके कि वहाँ मीठा जल निकला है अतः वहाँ बावड़ी बनवायी जाय, पेथड़शाह को इस बात का पता लगते ही उसने बारह हजार टंक प्रमाण नमक डलवा दिया।

वहाँ मन्दिर बनवाने के लिए पेथड़शाह ने सोने से भरी बत्तीस सांडनियाँ भिजवायीं। मन्दिर की सीढ़ियों में चौरासी हजार टंक का खर्च हुआ। मन्दिर के पूर्ण होने पर बधाई देने वाले को तीन लाख टंक का दान दिया। इस प्रकार पेथड़विहार तैयार हुआ।

उसी ने शत्रुंजय तीर्थ पर इक्कीस घटी सोने का व्यय कर श्री ऋषभदेव के मन्दिर को चारों ओर से सोने से मढ़कर सुवर्णाचल के शिखर की तरह सोने का बना दिया।

श्री रैवताचल पर्वत पर कांचनबलानक का प्रबन्ध इस प्रकार है-

गत चौबीसी में उज्जयिनी नगरी में नरवाहन राजा ने केवली पर्षदा को देखकर तीसरे सागरजिन को पूछा- ``प्रभो ! मैं कब केवली बनूंगा ?'' प्रभु ने कहा- ``आगामी चौबीसी के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ प्रभु के शासन में तुम केवली बनोगे ।''

उसके बाद उसने दीक्षा स्वीकार की । समाधिपूर्वक मरकर, ब्रह्मेन्द्र देव बना और उसने वज्रमृतिकामय नेमिनाथ प्रभु की प्रतिमा तैयार कराकर दस सागरोपम तक उसकी पूजा की ।

अपने आयुष्य की समाप्ति के समय रैवताचल तीर्थ में रत्न, मणि और स्वर्ण के जिनबिम्ब से युक्त तीन गर्भगृहों का निर्माण कराकर उसके आगे कांचनबलानक बनाया और उसमें वह (वज्रमय) बिम्ब स्थापित किया । क्रमशः रत्न संघपति विशाल संघ के साथ यात्रा के लिए वहाँ आया । हर्ष के उत्कर्ष से स्नात्र महोत्सव करने पर लेप्यमय बिम्ब गल गया । यह देख रत्न संघपति को अत्यन्त खेद हुआ । उसने आठ उपवास किये । अम्बिका देवी प्रसन्न हुई और उसके वचन से काञ्चनबलानक में से कच्चे सूत से विंटलाई हुई वह वज्रमय प्रतिमा लायी गयी । चैत्यद्वार पर आने पर पीछे देख लेने के कारण वह प्रतिमा वहीं स्थिर हो गयी । उसके बाद चैत्यद्वार को बदल दिया गया, जो आज भी वैसा ही है ।

कितनेक आचार्य कहते हैं-``कांचनबलानक में अरिहन्त की बहोत्तर प्रतिमाएँ थीं । उसमें अठारह सोने की, अठारह रत्न की, अठारह चांदी की और अठारह पाषाण की थीं ।''

69. प्रतिष्ठा-अंजनशलाका

प्रतिमा की प्रतिष्ठा शीघ्र करानी चाहिए । **षोडशक** में कहा है- तैयार हुए जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा शीघ्र ही दस दिन के भीतर करा देनी चाहिए । वह प्रतिष्ठा संक्षेप में तीन प्रकार की है- (1) व्यक्तिप्रतिष्ठा (2) क्षेत्रप्रतिष्ठा और (3) महाप्रतिष्ठा ।

आगम के ज्ञाता पुरुष कहते हैं कि जिस समय में जिस तीर्थंकर का शासन चलता हो, वह पहली **व्यक्तिप्रतिष्ठा** है ।

ऋषभदेव आदि चौबीस की **क्षेत्रप्रतिष्ठा** कहलाती है तथा एक सौ सित्तर जिनेश्वर की **महाप्रतिष्ठा** कहलाती है ।

बृहद् भाष्य में भी कहा है- ``एक जिनेश्वर की व्यक्तिप्रतिष्ठा, चौबीस जिनेश्वर की क्षेत्रप्रतिष्ठा तथा एक सौ सित्तर जिनेश्वर की महाप्रतिष्ठा समझनी चाहिए'' । **प्रतिष्ठा-विधि**-प्रतिष्ठा की सभी प्रकार की सामग्री इकट्ठी करना, अनेक संघों एवं गुरुओं आदि को आमन्त्रण देकर बुलाना, उनके प्रवेश आदि का भव्य महोत्सव करना, भोजन, वस्त्र आदि से उनका अच्छी तरह से सत्कार करना, बंदीजनों को मुक्त करना, हिंसा का निवारण करना, अवारित दानशाला चलाना, सुथार आदि मन्दिर-निर्माताओं का सत्कार करना, बड़े ठाट और संगीत आदि के साथ अद्भुत भव्य महोत्सव करना, अठारह स्नात्र करना इत्यादि विधि **प्रतिष्ठाकल्प** आदि से जान लेनी चाहिए ।

श्राद्ध समाचारी वृत्ति में कहा है- ``प्रतिष्ठा में स्नात्र अभिषेक द्वारा जन्मावस्था का चिन्तन करना चाहिए । फल, नैवेद्य, पुष्प, विलेपन तथा संगीत आदि बाह्य आडम्बर द्वारा प्रभु की कुमार आदि उत्तरोत्तर अवस्था का चिन्तन करना चाहिए ।''

छद्मस्थता सूचक वस्त्र से शरीर-आच्छादन आदि उपचार द्वारा प्रभु की शुद्ध चारित्र अवस्था का चिन्तन करना चाहिए ।

प्रभु के नेत्र-उन्मीलन द्वारा केवलज्ञान-उत्पत्ति की अवस्था का चिन्तन करना चाहिए ।

सर्वांगीण पूजोपचार द्वारा समवसरण की अवस्था का चिन्तन करना चाहिए । प्रतिष्ठा हुए बाद बारह महीने तक तथा विशेषतः प्रतिष्ठा के दिन स्नात्र आदि करके वर्ष पूरा हो जाए तब अष्टाह्निका आदि विशेष पूजा करके आयुष्य की गाँठ बाँधनी चाहिए । बाद में उत्तरोत्तर विशेष पूजा करनी चाहिए । उस दिन यथाशक्ति साधर्मिक वात्सल्य और संघपूजा आदि करनी चाहिए । **प्रतिष्ठा षोडशक** में तो इस प्रकार कहा है- ``आठ दिन तक निरन्तर पूजा करनी चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार सर्व प्राणियों को (याचकों को) दान देना चाहिए ।''

70. पुत्र-दीक्षा

पुत्र-पुत्री, भाई, भतीज, स्वजन, मित्र तथा अन्य परिजन का भव्य महोत्सव के साथ दीक्षा तथा बड़ी दीक्षा का महोत्सव करना चाहिए ।

कहा है– ``उस समवसरण में भरत चक्रवर्ती के 500 पुत्र तथा 700 पौत्र कुमारों ने दीक्षा अंगीकार की ।''

कृष्ण और चेटक राजा ने तो अपनी पुत्रियों का भी विवाह नहीं कराने का नियम लिया था । अपनी पुत्री आदि तथा थावच्चापुत्र आदि की दीक्षा भव्य महोत्सव के साथ कराई थी, जो प्रतीत ही है । दीक्षा प्रदान करने से महान् फल मिलता है ।

कहा है- ''उन माता-पिता तथा स्वजन वर्ग को धन्य है, जिनके कुल में चारित्र को धारण करने वाले महान् पुत्र पैदा हुए हैं ।'' लोक में भी मान्यता है- ``पिण्ड के इच्छुक पितर (पितादि) तभी तक संसार में भ्रमण करते हैं जब तक उनके कुल में विशुद्धात्मा साधु होने वाला पुत्र पैदा नहीं होता है ।''

पद-स्थापना

अपने दीक्षित पुत्र आदि के अथवा अन्य पद के योग्य मुनियों के गणि, वाचनाचार्य, उपाध्याय और आचार्य आदि पदवी-प्रदान का भव्य महोत्सव शासनप्रभावना के लिए करना चाहिए ।

सुना जाता है कि प्रथम तीर्थंकर के समवसरण में इन्द्र महाराजा ने मुनियों को गणधर पद पर और वस्तुपाल मंत्री ने इक्कीस महात्माओं को आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया था ।

71. श्रुतज्ञान भक्ति

विशिष्ट पत्रों (ताम्र, ताड़पत्र, कागज) पर सुन्दर व विशुद्ध अक्षरों में न्यायोपार्जित धन से श्री कल्प आदि आगम तथा जिनेश्वर के चरित्रों का लेखन कराना चाहिए तथा संविग्न गीतार्थ गुरु के पास उन ग्रन्थों का श्रवण करना चाहिए । ग्रन्थ के प्रारम्भ के समय भव्य उत्सव करना चाहिए और प्रतिदिन अनेक भव्यजीवों के प्रतिबोध के लिए पूजा व बहुमानपूर्वक, व्याख्यान कराना चाहिए । उपलक्षण से ग्रन्थ का वाचन एवं अध्ययनादि करने वाले की वस्त्र आदि से सहायता करनी चाहिए । **कहा है**– ``जो मनुष्य जिनशासन सम्बन्धी पुस्तकें लिखाते हैं, उनको पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं और श्रवण करते हैं तथा उनके रक्षण

के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वे मनुष्यलोक तथा देवलोक के और मोक्ष के सुख प्राप्त करते हैं ।''

``जो मनुष्य जिनागम को स्वयं पढ़ता है, पढ़ाता है और पढ़ने वाले को वस्त्र, भोजन, पुस्तक आदि वस्तु द्वारा सहायता करता है, वह मनुष्य यहाँ सर्वज्ञ बनता है ।''

केवलज्ञान से भी जिनागम की महत्ता विशेष दिखाई देती है । **कहा भी है**– ``अहो ! श्रुत के उपयोगपूर्वक श्रुतज्ञानी यदि अशुद्ध भी भिक्षा ग्रहण कर लेते हैं तो उसको केवलज्ञानी भी खा लेते हैं । यदि ऐसा न करें तो श्रुतज्ञान अप्रमाणित हो जाता है ।''

``दुषमकाल के प्रभाव से तथा बारह वर्ष के भयंकर अकाल के कारण श्रुत (आगम) को नष्टप्रायः जानकर भगवान नागार्जुन और स्कन्दिलाचार्य आदि ने उसे पुस्तकारूढ़ कर दिया था । अतः श्रुत को आदर देने वाले व्यक्ति को वह श्रुत पुस्तक में लिखाना चाहिए और रेशमी वस्त्र आदि से उसका पूजन करना चाहिए ।

सुना जाता है कि पेथड़शाह ने सात करोड़ द्रव्य का व्यय कर और वस्तुपाल मंत्री ने अठारह करोड़ द्रव्य का व्यय कर तीन ज्ञान भण्डार लिखवाये थे । थराद के संघपति आभू सेठ ने तीन करोड़ टंक का व्यय कर सभी आगमों की एक-एक नकल स्वर्णाक्षरों से तथा दूसरे सभी ग्रन्थों की प्रति स्याही के अक्षरों से बनवायी थी ।

72. पौषधशाला

श्रावक आदि के पौषध ग्रहण करने के लिए पूर्वोक्त गृहविधि के अनुसार साधारण स्थान स्वरूप पौषधशाला बनानी चाहिए । वह पौषधशाला साधर्मिक के लिए बनवायी गयी होने से सानुकूल व निरवद्य योग्य स्थान रूप होने से अवसर आने पर साधु भगवन्तों को भी उपाश्रय के रूप में देनी चाहिए । उसका महान् फल बतलाया है । **कहा है**– ``जो मनुष्य तप-नियम और योग से युक्त श्रेष्ठ मुनियों को उपाश्रय प्रदान करता है-सचमुच उसने मुनियों को वस्त्र, अन्न, पान, शयन, आसन आदि सब कुछ प्रदान किया है ।''

श्री वस्तुपाल ने 984 पौषधशालाएँ बनवायी थीं ।

सिद्धराज जयसिंह के प्रधानमंत्री **'सान्तू'** ने अपने लिए नवीन भव्य आवास बनवाया था । वह आवास वादिदेवसूरि को बतलाकर पूछा- ``कैसा लगा ?'' आचार्य भगवन्त के शिष्य माणिक्य ने कहा- ``यदि इसे पौषधशाला करें तो हम उसका वर्णन कर सकते हैं ।'' मंत्री ने कहा- ``आज से ही यह भवन पौषधशाला बने । उस पौषधशाला की बाह्य पट्टशाला में दोनों ओर पुरुष प्रमाण दर्पण लगे हुए थे, जिनमें धर्मध्यान के बाद श्रावक अपना मुख देख सकते थे ।

जन्म-कृत्य

बाल्यकाल से ही जीवनपर्यन्त सम्यग् दर्शन का और अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रत आदि का पालन करना चाहिए । (इनका स्वरूप अर्थदीपिका में कहा होने से पुनः यहाँ नहीं कह रहे हैं ।)

दीक्षा-ग्रहण

श्रावक को अवसर आने पर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए । **भावार्थ**-``श्रावक यदि बाल्यकाल में दीक्षा ग्रहण न कर सके तो वह नित्य अपने आपको ठगा हुआ समझता है ।'' **कहा है**– ``सभी लोगों के लिए

दु:खदायी ऐसे कामदेव को जीतकर जिन्होंने कुमारावस्था में ही दीक्षा स्वीकार की है, ऐसे बालमुनियों को धन्य है ।''

बाल्यवय में दीक्षा न ले सके और कर्मयोग से गृहस्थ-जीवन में रहना पड़े तो वह श्रावक सर्वविरति के अध्यवसाय में एकाग्रचित्त होकर, दो घड़ों को मस्तक पर वहन करने वाली स्त्री, सती आदि की तरह, गृहस्थ-जीवन का पालन करता है । **कहा है**– ``एकाग्रचित्त रहा योगी अनेक कर्म करने पर भी, जल को वहन करने वाली स्त्री की तरह कर्म के लेप से लिप्त नहीं होता है ।''

''पर-पुरुष में आसक्त नारी जिस प्रकार पति का (दिखावे मात्र से) अनुसरण करती है, उसी प्रकार तत्त्व में लीन योगी संसार का अनुसरण करता है ।''

जिस प्रकार विचारशील वेश्या इच्छा बिना भी भोगी पुरुष का स्वागत आदि करती है परन्तु वह यह विचार करती है कि इस कार्य का मैं कब त्याग करूंगी; वैसे ही श्रावक भी आज, कल संसार का परित्याग करूंगा, यही भावना करता है ।

जिसका पति विदेश गया है ऐसी कुलवधू नवीन स्नेह के रंग से रंजित होकर पति के गुणों का स्मरण करती हुई शरीर का निर्वाह (भोजन आदि) करती है । इसी प्रकार सर्वविरति को मन में धारण कर और अपने आपको नित्य अधन्य मानता हुआ सुश्रावक अपने गृहस्थ-जीवन का पालन करता है ।

वे पुरुष धन्य हैं जिन्होंने मोह के फैलते हुए प्रभाव को नष्ट कर जिन-दीक्षा स्वीकार की है; सचमुच उन्होंने पृथ्वीतल को पावन किया है ।

73.'धर्मरत्नप्रकरण' में भाव श्रावक के लक्षण

भावश्रावक के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं-

1) **स्त्री के वशीभूत न हो :-** स्त्री अनर्थ को उत्पन्न करने वाली है । स्त्री चपल चित्त वाली है तथा नरक में ले जाने वाली है । ऐसा जानकर उसके अधीन नहीं होना चाहिए ।
2) **इन्द्रियसंयम :-** इन्द्रियाँ चपल घोड़े के समान हैं, जो हमेशा दुर्गति के मार्ग पर दौड़ने वाली हैं । भव के स्वरूप को जानने वाला श्रावक सम्यग् ज्ञान रूपी डोर से उन इन्द्रियों को वश में करता है ।
3) **अर्थ-लुब्ध न बनें :-** धन समस्त अनर्थों का मूल है । प्रयास व क्लेश के कारणभूत धन को असार जानकर बुद्धिमान व्यक्ति उसमें लेश भी लुब्ध नहीं होता है ।
4) **संसार में रति न करें :-** संसार को दु:खरूप, दु:खफलक, दु:खानुबन्धी, विडम्बनारूप और असार जानकर श्रावक उसमें राग नहीं करता है ।
5) **विषयों में गृद्धि न करें :-** भवभीरु और तत्त्वज्ञ श्रावक क्षणमात्र सुखदायी और विष की उपमा वाले विषयसुखों में गृद्धि नहीं करता है ।
6) **आरम्भ का त्याग करें :-** श्रावक तीव्र आरम्भ का त्याग करता है, निर्वाह न होता हो और करना पड़े तो अनिच्छा से करता है । आरम्भरहित जीवों की स्तुति करता है और सर्वजीवों में दयालु होता है ।
7) **गृहवास को बन्धन मानें :-** गृहवास को पाश की तरह मानता हुआ श्रावक उसमें दु:खी मन से रहता है और चारित्रमोहनीय की निर्जरा के लिए सदैव उद्यम करता रहता है ।

8) **सम्यग् दर्शन को धारण करें :-** आस्तिक्य भाव से युक्त, प्रभावना तथा प्रशंसा आदि से, गुरुभक्ति से युक्त बुद्धिमान श्रावक निर्मल सम्यग् दर्शन को धारण करता है ।

9) **लोकसंज्ञा का त्याग करें :-** सुश्रावक लोक के गतानुगतिक गाड़रिये प्रवाह को जानकर लोकसंज्ञा का त्याग करता है और धीर होकर अच्छी तरह से समीक्षापूर्वक कार्य करता है ।

10) **आगम का अनुसरण करें :-** जिनागम को छोड़कर परलोक के मार्ग में अन्य कोई प्रमाण नहीं है अतःवह आगम को आगे रखकर ही सभी क्रियाएँ करता है ।

11) **यथाशक्ति धर्माराधना करें :-** बुद्धिमान श्रावक शक्ति को छिपाये बिना खुद को किसी प्रकार की बाधा न हो इस प्रकार दानादि चारों प्रकार के धर्म की आराधना करता है; जिससे वह बहुत या बहुत काल तक धर्म कर सकता है ।

12) **मुग्धजन की शर्म न रखें :-** चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ और हितकारी अनवद्य क्रिया को प्राप्त करके उसे अच्छी तरह से करते समय मुग्धजन हँसी-मजाक भी करें तो उससे लज्जा नहीं पाता है ।

13) **राग-द्वेष छोड़कर रहें :-** देह की स्थिति में कारणभूत धन, स्वजन, आहार, घर आदि संसारगत वस्तुओं में राग-द्वेष किये बिना रहे ।

14) **मध्यस्थ रहें :-** जिसके विकार शान्त हो चुके हैं, ऐसा श्रावक राग-द्वेष से बाधित नहीं होता है, मध्यस्थ और हितेच्छु होकर सर्वथा झूठे आग्रह का त्याग करता है ।

15) **धनादि में प्रतिबन्ध (राग) न करें :-** निरन्तर संसार की समस्त वस्तुओं की क्षणभंगुरता का विचार करने वाला श्रावक धनादि से जुड़ा होने पर भी उनमें राग भाव नहीं रखता है ।

16) **अनिच्छा से काम- भोग में प्रवृत्त हों :-** संसार के भोग-उपभोग तृप्ति के हेतुभूत नहीं हैं, ऐसा जानने वाला एवं संसार से विरक्त मन वाला अन्य के आग्रह से ही काम-भोग में प्रवृत्त होता है ।

17) **वेश्या की तरह गृहवास-पालन :- 'आज अथवा कल छोड़ दूंगा'** इस प्रकार वेश्या की तरह निराशंस भाव वाला, शिथिल भाव वाला बनकर गृहवास को परकीय समझकर पालन करता है ।

इन सत्रह गुणों से युक्त व्यक्ति को जिनागम में भावश्रावक कहा गया है । यही भाव-श्रावक शुभ कर्म के योग से शीघ्र ही भावसाधुता को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार की शुभ भावना से भावित, पूर्वोक्त दिनादि कृत्यों का पालन करने वाला, ``यही निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थभूत और परमार्थ है और शेष अनर्थभूत है'' इस प्रकार सिद्धान्त में कही गयी रीति से रहने वाला, सभी कार्यों में सर्व प्रयत्न से यतनापूर्वक ही प्रवृत्ति करने वाला, सर्वत्र अप्रतिबद्ध चित्त वाला, क्रमशःमोह को जीतने वाला, पुत्र-भाई आदि गृहभार को उठाने में समर्थ न हो तब अनुमान कर मन्दिर में अष्टाह्निक महोत्सव, चतुर्विध संघ की पूजा, दीन-अनाथ आदि को यथाशक्ति दान देकर एवं मित्र-स्वजन-परिचितजन आदि से क्षमायाचना कर विधिपूर्वक सुदर्शन सेठ आदि की तरह दीक्षा स्वीकार करता है । **कहा है**– ``कोई व्यक्ति सर्व रत्नमय जिनमन्दिरों से पृथ्वीवलय को विभूषित करता है, उस पुण्य से भी चारित्र की ऋद्धि अधिक है ।''

साधुपने में ये गुण बतलाये हैं-``चारित्र में दुष्कर्म का प्रयत्न नहीं है, खराब युवती, पुत्र, स्वामी

के दुर्वाक्य का दुःख नहीं है । राजादि को प्रणाम करना नहीं पड़ता है, अशन, वस्त्र, धन व स्थानादि की चिन्ता नहीं होती है, ज्ञान की प्राप्ति होती है, लोक में पूजा होती है, प्रशमसुख से रति होती है और मरने के बाद मोक्ष आदि की प्राप्ति होती है । अतःहे बुद्धिमानो ! उस साधुता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो ।

आरम्भ-त्याग

यदि किसी कारण से अथवा शक्ति के अभाव के कारण दीक्षा ग्रहण करने में शक्तिमान न हों तो आरम्भ-त्याग आदि अवश्य करना चाहिए ।

पुत्र आदि घर की समस्त जवाबदारी लेने वाला हो तो समस्त आरम्भ का और न हो तो जिस प्रकार निर्वाह हो सके उस प्रकार सर्व सचित्त आहार आदि कुछ आरम्भ का अवश्य त्याग करना चाहिए । यदि सम्भव हो तो स्वयं के लिए बनाये गये अन्न, पाक आदि का भी त्याग करे । **कहा है**– ``जिसके लिए आहार होता है, उसी के लिए आरम्भ होता है, आरम्भ में प्राणिवध है और प्राणिवध से दुर्गति होती है ।''

ब्रह्मचर्य-पालन

यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करना चाहिए । भीम सोनी की भेंट आने के कारण उसके स्वीकार हेतु पेथड़शाह ने बत्तीसवें वर्ष में ही ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया था । ब्रह्मचर्य का फलवर्णन **अर्थदीपिका** में कहा गया है ।

74. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

प्रतिमादि तप विशेष करना चाहिए । आदि शब्द से संसार से पार उतरने के लिए दुष्कर तपविशेष को स्वीकार करना चाहिए । मासिक आदि प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं-

1) **दर्शन प्रतिमा :-** राजाभियोग आदि छह आगार से रहित, श्रद्धा आदि चार गुणों से युक्त, सम्यग् दर्शन का भय, लोभ, लज्जा आदि से अतिचार लगाये बिना पालन करना चाहिए । त्रिकाल देवपूजा में तत्पर रहना चाहिए । पहली प्रतिमा एक मास तक पालन करनी होती है ।
2) **अणुव्रत प्रतिमा :-** पूर्व प्रतिमा के अनुष्ठान से युक्त अखण्डित व अविराधित रूप से दो मास तक अणुव्रतों का पालन करना ।
3) **सामायिक प्रतिमा :-** पूर्वोक्त प्रतिमा अनुष्ठान सहित तीन मास तक उभय काल अप्रमत्त होकर सामायिक का पालन करना ।
4) **पौषध प्रतिमा :-** पूर्वोक्त प्रतिमा सहित चार मास तक चार पर्व-तिथि के दिन अखण्डित परिपूर्ण पौषध का पालन करना ।
5) **कायोत्सर्ग प्रतिमा :-** पूर्वोक्त प्रतिमा सहित पाँच मास तक स्नान का त्याग कर, रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर, दिन में ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक, लांग को बिना बाँधे, चार पर्वतिथियों में घर में, गृहद्वार में, चौराहे पर परिषह व उपसर्ग से निष्कम्प होकर समस्त रात्रि कायोत्सर्ग में रहना । इस प्रकार आगे कही जाने वाली प्रतिमाओं में भी पूर्वोक्त प्रतिमाओं का पालन समझ लेने का है ।

6) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा :-** छह मास तक ब्रह्मचारी रहना ।

7) **सचित्तत्याग प्रतिमा :-** सात मास तक सचित्त आहार का त्याग करना ।

8) **आरम्भत्याग प्रतिमा :-** आठ मास तक स्वयं आरम्भ नहीं करना ।

9) **प्रेषणत्याग प्रतिमा :-** नौ मास तक किसी नौकर को भेजकर भी आरम्भ नहीं कराना ।

10) **उद्दिष्टपरिहार प्रतिमा :-** दस मास तक मस्तक का मुण्डन कराना अथवा चोटी रखना, खजाने में रखे धन सम्बन्धी कोई स्वजन प्रश्न करे तो स्वयं जानता हो तो बताना और नहीं जानता हो तो ``मैं नहीं जानता'' इतना ही कहना, इसको छोड़ अन्य समस्त गृहकार्यों का त्याग करना और स्वयं के लिए बना हुआ आहार भी ग्रहण नहीं करना ।

11) **श्रमणभूत प्रतिमा :-** ग्यारह मास की यह प्रतिमा है, घर आदि का संग छोड़कर लोच कराकर अथवा उस्तरे से सिर मुण्डन कराकर, रजोहरण और पात्र आदि मुनिवेष को धारण कर अपने अधीन गोकुल आदि में रहते हुए ``प्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो'' इस प्रकार बोलकर भिक्षा ग्रहण करना परंतु **'धर्मलाभ'** शब्द नहीं कहना और सुसाधु के आचार का पालन करना यह ग्यारहवीं प्रतिमा है ।

75. अन्तिम-आराधना

आयुष्य के अन्त में सल्लेखनादि विधि से आराधना करनी चाहिए । `आवश्यक योगों का भंग होने पर और मृत्यु का आगमन होने पर आदि में सल्लेखना करके और संयम को स्वीकार करके...।' इत्यादि जो बातें आगम में कही गयी हैं, तदनुसार श्रावक जब पूजा-प्रतिक्रमण आदि अवश्य करने योग्य कर्त्तव्यों के पालन में अशक्त हो जाय और मृत्यु नजदीक आ जाय तब द्रव्य और भाव से दो प्रकार की सल्लेखना करता है ।

क्रमशःआहार का त्याग सल्लेखना है और क्रोधादि कषायों का त्याग भाव सल्लेखना है । **कहा है**– ``सल्लेखना नहीं होने पर मृत्यु के समय अचानक धातुओं का शोषण होने से प्राणी को अन्तिम समय में आर्तध्यान हो जाता है । हे आत्मन् ! न तो मैं तेरे शरीर की प्रशंसा करता हूँ कि यह शरीर कितना अच्छा है ! और न ही इसकी निन्दा करता हूँ कि `यह अंगुली कैसे टूट गयी ?' तुम तो भाव सल्लेखना स्वीकार करो ।''

अशुभ स्वप्न, शास्त्रीय-संकेत व देवता के सूचन आदि से अपनी मृत्यु के निकटकाल को जानना चाहिए ।

कहा भी है– खराब स्वप्नों से, प्रकृति में परिवर्तन आने से, अशुभ निमित्तों से, खराब ग्रहों से प्राणवायु में विपरीतता आने से मृत्यु की निकटता समझनी चाहिए ।

इस प्रकार सल्लेखना करके समस्त श्रावक धर्म के उद्यापन की तरह अन्त में भी संयम स्वीकार करना चाहिए ।

कहा है– ***''एक दिन के लिए भी जीव अनन्यमनस्क होकर प्रव्रज्या स्वीकार कर लेता है तो वह कदाचित् मोक्ष प्राप्त न करे तो भी अवश्य वैमानिक होता है ।''***

नल राजा के भाई कुबेर के पुत्र की अभी ही शादी हुई थी, परन्तु ``पाँच दिन का ही तुम्हारा

आयुष्य है''-इस प्रकार ज्ञानी के वचन को सुनकर उन्होंने दीक्षा स्वीकार कर ली और मोक्ष गये ।

ज्ञानी ने कहा-``तुम्हारा नौ प्रहर ही आयुष्य है''-इस बात को जानकर हरिवाहन राजा ने दीक्षा स्वीकार कर ली और मरकर सर्वार्थसिद्ध विमान में चला गया ।

संस्तारक दीक्षा (संथारा करने के बाद दीक्षा) के अवसर पर अपनी शक्ति अनुसार धर्म में व्यय करना चाहिए ।

थराद के आभू संघवी ने संलेखना के अवसर पर सात करोड़ द्रव्य का सात क्षेत्रों में व्यय किया था ।

जिसे संयम का योग नहीं है, वह संलेखना करके शत्रुंजय आदि तीर्थस्थान में जाकर निर्दोष भूमि पर विधिपूर्वक चार प्रकार के आहार के त्याग रूप अनशन का आनन्द आदिश्रावक की तरह स्वीकार करे ।

कहा है– ``तप व नियम से मोक्ष होता है, दान से उत्तम भोग प्राप्त होते हैं । देवपूजा से राज्य और अनशन पूर्वक मरने से इन्द्रत्व की प्राप्ति होती है ।'' **लौकिक शास्त्र में भी कहा है**– ``हे अर्जुन ! अन्त समय में जल में मृत्यु पाने से सात हजार वर्ष तक, अग्नि में मृत्यु पाने से दस हजार वर्ष तक, हवा में मृत्यु पाने से सोलह हजार वर्ष तक, गोग्रह (गाय के कलेवर में घुसकर मरना) द्वारा मृत्यु पाने से अस्सी हजार वर्ष तक शुभ गति पाता है और अनशनपूर्वक मरने से अक्षयगति प्राप्त करता है ।''

उसके बाद सर्व अतिचारों का परिहार कर के चतुःशरणादि की आराधना करे । दश द्वार वाली अन्तिम आराधना इस प्रकार कही गयी है:-

1) अतिचारों की आलोचना करे ।
2) व्रत स्वीकार करे ।
3) समस्त जीवों से क्षमायाचना करे ।
4) भावित होकर अठारह पापस्थानकों को वोसिरावे ।
5) अरिहन्त आदि चार की शरण स्वीकार करे ।
6) दुष्कृतों की गर्हा करे ।
7) सुकृतों की अनुमोदना करे ।
8) शुभ-भावना से आत्मा को भावित करे ।
9) अनशन स्वीकार करे ।
10) पंच परमेष्ठि-नमस्कार मंत्र का स्मरण करे ।

इस प्रकार की आराधना से यदि उस भव में सिद्धि न हो तो भी सुदेव व मनुष्य भव को प्राप्त करते हुए आठ भवों में अवश्य सिद्धि होती है ।

आगम का वचन है-``वह आत्मा सात-आठ भवों से अधिक भव नहीं करती है ।''

उपसंहार

इस प्रकार जो श्रावक दिनकृत्य आदि छह द्वारों में निर्दिष्ट धर्मविधि का अच्छी तरह से पालन करता है, वह इसी भव में, आगामी भव में अथवा सात-आठ भवों में अवश्य संसार से मुक्त बनता है और शीघ्र ही शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार श्री तपागच्छाधिपति श्री सोमसुन्दर सूरि,
श्री मुनिसुन्दर सूरि, श्री जयसुन्दर सूरि,
श्री भुवनसुन्दर सूरि के शिष्य श्री रत्नशेखर सूरि
द्वारा विरचित श्राद्धविधिप्रकरण ग्रन्थ पूर्ण हुआ ।

76. प्रशस्ति

विख्याततपेत्याख्या, जगति जगच्चन्द्रसूरयोऽभूवन् ।
श्रीदेवसुन्दरगुरूत्तमाश्च तदनुक्रमाद्विदिताः ।।1।।

अर्थ :- इस जगत् में **'तपा'** ऐसा प्रख्यात नाम धारण करनेवाले श्रीजगच्चन्द्रसूरि हुए । उनके बाद अनुक्रम से प्रख्यात श्री देवसुन्दर गुरुवर्य हुए ।।1।।

पंच च तेषां शिष्यास्तेष्वाद्या ज्ञानसागरा गुरवः ।
विविधावचूर्णिलहरिप्रकटनतःसान्वयाह्वानाः ।।2।।

अर्थ :- उनके पाँच शिष्य थे । जिनमें प्रथम शिष्य श्री ज्ञानसागर गुरु हुए । विविध प्रकार की सूत्रों की अवचूर्णि रूपी लहरें प्रकट करके उन्होंने अपना ज्ञानसागर नाम सार्थक किया ।।2।।

श्रुतगतविविधालापक-समुद्धृताः समभवंश्च सूरीन्द्राः
कुलमण्डना द्वितीयाः श्रीगुणरत्नास्तृतीयाश्च ।।3।।

अर्थ :- शास्त्रस्थित विविध आलापक के उद्धार करनेवाले कुलमंडन नामक सूरीन्द्र दूसरे शिष्य और श्रीगुणरत्न नामक तीसरे शिष्य हुए ।।3।।

षड्दर्शनवृत्तिक्रिया-रत्नसमुच्चय-विचारनिचयसृजः।
श्रीभुवनसुन्दरादिषु, भेजुर्विद्यागुरुत्वं ये ।।4।।

अर्थ :- वे श्री गुणरत्न गुरुवर्य षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति, क्रियारत्नसमुच्चय और विचारसमुच्चय ग्रन्थों के रचयिता और श्रीभुवनसुन्दर आदि आचार्यों के विद्यागुरु हुए ।।4।।

श्रीसोमसुन्दरगुरु-प्रवरास्तुर्या अहार्यमहिमानः।
येभ्यः सन्ततिरुच्चै-रभवद् द्वेधा सुधर्मेभ्यः ।।5।।

अर्थ :- उत्कृष्ट महिमावन्त श्रीसोमसुन्दर गुरुवर्य चौथे शिष्य हुए । द्रव्य से तथा भाव से श्रेष्ठ इन धर्मात्मागुरुवर्य से बहुत शिष्य संतति बढ़ी ।।5।।

यतिजीतकल्पविवृतश्च पञ्चमाः साधुरत्नसूरिवराः ।
यैमादृशोऽप्यकृष्यत, करप्रयोगेण भवकूपात् ।।6।।

अर्थ :- यतिजीतकल्प की व्याख्या करनेवाले श्रीसाधुरत्न सूरिवर पाँचवें शिष्य हुए, जिन्होंने हाथ लम्बा करके मेरे समान सामान्य व्यक्ति का संसाररूपी कुए में से उद्धार किया ।।6।।

श्रीदेवसुन्दरगुरोः, पट्टे श्रीसोमसुन्दरगणेन्द्राः ।
युगवरपदवीं प्राप्ता-स्तेषां शिष्याश्च पञ्चैते ।।7।।

अर्थ :- श्री देवसुन्दर गुरु के पाट पर श्रीसोमसुन्दर गुरु हुए । उनके युगप्रधान पदवी पाये हुए ये पाँच शिष्य हुए ।।7।।

मारीत्यवमनिराकृति-सहस्त्रनामस्मृतिप्रभृतिकृत्यैः
श्रीमुनिसुन्दरगुरव-श्चिरन्तनाचार्यमहिमभृतः ।।8।।

अर्थ :- एक श्रीमुनिसुन्दर गुरु महामारी, ईति आदि उपद्रव का दूर करना तथा सहस्त्रनाम स्मरण करना इत्यादि कृत्यों से चिरन्तन आचार्य की महिमा धारण करनेवाले हुए ।।8।।

श्रीजयचन्द्रगणेन्द्रा-निस्तन्द्राःसङ्घगच्छकार्येषु ।
श्रीभुवनसुन्दरवरा, दूरविहारैर्गणोपकृतः ।।9।।

अर्थ :- दूसरे शिष्य संघ तथा गच्छ के काम में आलस्य न करनेवाले श्रीजयचन्द्र आचार्य तथा तीसरे शिष्य दूर विहार करके संघ पर उपकार करनेवाले श्रीभुवनसुन्दरसूरि हुए ।।9।।

विषममहाविद्यातद्विडम्बनाब्धौ तरीव वृत्तिर्यैः
विदधे यज्ज्ञाननिधिं, मदादिशिष्या उपाजीवन् ।।10।।

अर्थ :- जिन्होंने विषममहाविद्या के अज्ञान से विडम्बना रूपी समुद्र में पड़े हुए लोगों के उद्धारार्थ नाव समान महाविद्यावृत्ति की और जिनके ज्ञाननिधि को मेरे समान शिष्य आश्रय कर रहे हैं ।।10।।

एकाङ्गा अप्येकादशाङ्गिनश्च जिनसुन्दराचार्याः।
निर्ग्रन्था ग्रन्थकृतः, श्रीमज्जिनकीर्तिगुरवश्च ।।11।।

अर्थ :- चौथे एक अंग (शरीर) धारण करते हुए भी ग्यारहअंग (सूत्र) धारण करनेवाले श्रीजिनसुन्दरसूरि तथा पाँचवें निर्ग्रंथ (ग्रन्थ-परिग्रह रहित) होते हुए भी ग्रन्थ रचना करनेवाले श्रीजिनकीर्ति गुरु हुए ।।11।।

एषां श्रीसुगुरूणां, प्रसादतःषट्खतिथिमिते (1506) वर्षे ।
श्राद्धविधिसूत्रवृत्तिं, व्यधित श्रीरत्नशेखरः सूरिः ।।12।।

अर्थ :- श्रीरत्नशेखरसूरि ने उपर्युक्त गुरुओं के प्रसाद से विक्रम संवत् 1506 में श्राद्धविधि सूत्र की वृत्ति की रचना की ।।12।।

अत्र गुणसत्रविज्ञावतंसजिनहंसगणिवरप्रमुखैः।
शोधनलिखनादिविधौ, व्यधायि सान्निध्यमुद्युक्तैः ।।13।।

अर्थ :- परमगुणवन्त और विद्वद्रत्न श्रीजिनहंसगणि आदि विद्वानों ने यह ग्रन्थ रचना, संशोधन करना, लिखना आदि कार्य में परिश्रम से सहायता की ।।13।।

विधिवैविध्याछूतगतनैयत्यादर्शनाच्च यत्किञ्चित् ।
अत्रोत्सूत्रमसूत्र्यत, तन्मिथ्यादुष्कृतं मेऽस्तु ।।14।।

अर्थ :- विधि अनेक प्रकार की होने से तथा सिद्धान्त स्थितनिश्चय बात को नहीं देखने से इस ग्रन्थ में मैंने जो कुछ उत्सूत्र रचना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।14।।

विधिकौमुदीतिनाम्न्यां, वृत्तावस्यां विलोकितैर्वर्णैः।
श्लोकाःसहस्रषट्कं, सप्तशती चैकषष्ट्यधिकाः ।।15।।

अर्थ :- विधिकौमुदी नामक इस वृत्ति में अक्षराक्षर की संख्या से इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या 6761 होती है ।।15।।

श्राद्धहितार्थं विहिता, श्राद्धविधिप्रकरणस्थसूत्रयुता ।
वृत्तिरियं चिरसमयं, जयताज्जयदायिनी कृतिनाम् ।।16।।

।। इति प्रशस्तिः ।।

अर्थ :- श्राद्धविधि नामक मूलग्रन्थ सहित जिसकी यह वृत्ति मैंने श्रावकों के हितार्थ रची, वह (वृत्ति) कुशलपुरुषों को जय देनेवाली होकर चिरकाल विजयी हो ।।16।।

हिन्दी-अनुवादक प्रशस्ति

परमशासन प्रभावक, व्याख्यान वाचस्पति, महाराष्ट्र देशोद्धारक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद्विजयरामचंद्रसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्यरत्न बीसवी सदी के महानयोगी नमस्कारमहामंत्र के अजोड साधक, निःस्पृह शिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के कृपापात्र चरमशिष्यरत्न मरुधररत्न, गोडवाड के गौरव पूज्य मुनिश्री रत्नसेनविजयजी म. (वर्तमान में सूरिमंत्रपंचप्रस्थान समाराधक हिन्दी साहित्यकार पूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजयरत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा.) ने हिन्दी भाषी प्रजाजन - मोक्षाभिलाषी आत्माओं के लिए `श्राद्धविधि' ग्रंथ का हिन्दी भाषा में अनुवाद पूर्ण किया ।

(चैत्री पूनम वि. सं. 2049)

प्रवचन प्रभावक मरुधररत्न-हिन्दी साहित्यकार पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. का बहुरंगी-वैविध्यपूर्ण साहित्य

तत्त्वज्ञान विषयक	S.No.
1. जैन विज्ञान	38
2. चौदह गुणस्थान	96
3. आओ ! तत्त्वज्ञान सीखें	79
4. जीव विचार विवेचन	123
5. नव तत्त्व-विवेचन	122
6. दंडक-विवेचन	135
7. लघु संग्रहणी (जैन भूगोल)	194
8. तीन-भाष्य	127
9. पहला कर्मग्रंथ	102
10. दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	196
11. चौथा कर्मग्रंथ	197
12. पाँचवाँ कर्मग्रंथ	204
13. छठा-कर्मग्रंथ	205
14. ध्यान साधना	153

प्रवचन साहित्य	S.No.
1. मानवता तब महक उठेगी	8
2. मानवता के दीप जलाएं	9
3. महाभारत और हमारी संस्कृति-भाग-1	18
4. महाभारत और हमारी संस्कृति-भाग-2	19
5. रामायण में संस्कृति का अमर संदेश-भाग-1-2	27-28
7. आओ ! श्रावक बनें !	45
8. सफलता की सीढ़ियाँ	53
9. नवपद प्रवचन	56
10. श्रावक कर्तव्य-भाग-1	74
11. श्रावक कर्तव्य-भाग-2	75
12. प्रवचन रत्न	78
13. प्रवचन मोती	72
14. प्रवचन के बिखरे फूल	103
15. प्रवचनधारा	67
16. आनन्द की शोध	33
17. भाव श्रावक	85
18. पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	97
19. कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	104
20. संतोषी नर-सदा सुखी	87
21. जैन पर्व-प्रवचन	115
22. गुणवान बनो	126
23. सुखी जीवन की चाबियाँ	137
24. पांच प्रवचन	138
25. जीवन शणगार प्रवचन	148
26. आओ ! दुर्ध्यान छोड़े !! भाग-1	169
27. आओ ! दुर्ध्यान छोड़े !! भाग-2	170
28. गागर में सागर	173
29. श्रावकाचार-प्रवचन-भाग-1	176
30. श्रावकाचार-प्रवचन-भाग-2	177
31. नवपद आराधना	182
32. प्रवचन-वर्षा	199
33. प्रेरक-प्रवचन	203
34. मोक्ष-मार्ग के कदम	209

धारावाहिक कहानी	S.No.
1. कर्मन् की गत न्यारी	6
2. जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है	10
3. तब आंसु भी मोती बन जाते है	24
4. गौतम स्वामी-जंबूस्वामी	46
5. कर्म को नहीं शर्म	49
6. कर्म नचाए नाच	76
7. आग और पानी भाग-1-2	34-35
8. तेजस्वी सितारे	58

छोटी छोटी कहानियां	S.No.
1. प्रिय कहानियाँ	43
2. मनोहर कहानियाँ	50
3. ऐतिहासिक कहानियाँ	57
4. प्रेरक-कहानियाँ	91
5. सरस कहानियाँ	111
6. मधुर कहानियाँ	98
7. सरल कहानियाँ	142
8. आदर्श कहानियाँ	198

हिन्दी साहित्यकार पू. आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.
द्वारा आलेखित उपलब्ध हिन्दी साहित्य

Sr. No.	पुस्तक क्र.	पुस्तक का नाम	मूल्य
		अध्यात्मयोगी पूं.पं.श्री पंन्यासजी म. का साहित्य	
1	100	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
2.	161	अजातशत्रु अणगार	100/-
3.	201	महान् योगी पुरुष	85/-
4.	146	आध्यात्मिक पत्र	60/-
5.	178	परम-तत्व की साधना भाग-2	150/-
6.	179	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
7.	183	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
8.	186	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
9.	193	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
10.	207	मंत्राधिराज प्रवचन सार	80/-
		जैन धर्म का पाठ्यक्रम	
1.	107	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-
2.	120	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-
3.	132	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-
4.	133	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-
5.	123	जीव विचार विवेचन	60/-
6.	122	नव तत्त्व-विवेचन	60/-
7.	135	दंडक सूत्र	50/-
8.	194	लघु संग्रहणी (जैन भूगोल)	100/-
9.	127	तीन भाष्य (चैत्यवंदन भाष्य, गुरुवंदन व पच्चक्खाण)	150/-
10.	102	कर्मग्रंथ-पहला (हिन्दी विवेचन)	100/-
11.	196	कर्मग्रंथ-दूसरा-तीसरा (हिन्दी विवेचन)	70/-
12.	197	चौथा-कर्मग्रंथ (हिन्दी विवेचन)	55/-
13.	204	पाँचवाँ-कर्मग्रंथ	100/-
14.	205	छठा-कर्मग्रन्थ	160/-
15.	144	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	100/-
16.	164	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-
17.	165	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
		वैराग्य पोषक ग्रंथ	
18.	140	वैराग्य शतक	80/-
19.	156	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-
20.	191	संबोह-सित्तरि	70/-
		जीवन-उपयोगी साहित्य	
21.	13-14	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना-भाग-1-2	140/-
22.	18-19	जैन-महाभारत	130/-
23.	29	श्रावक जीवन दर्शन	250/-
24.	34-35	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
25.	36	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
26.	42	भक्ति से मुक्ति (पांचवी आवृत्ति)	40/-
27.	84	प्रभु दर्शन सुख संपदा	60/-
28.	53	श्रावक का गुण सौंदर्य	125/-
29.	203	प्रेरक-प्रवचन	80/-
30.	97	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	100/-
31.	109	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
32.	128	विविध-तपमाला	100/-
33.	55	विविध-देववंदन	60/-
34.	200	अमृत रस का प्याला	300/-
35.	202	बारह चक्रवर्ती	64/-
36.	190	संस्मरण	50/-
37.	206	Celibacy	70/-
38.	61	Panch Pratikraman Sootra	60/-
39.	172	रत्न-संदेश-भाग-1	150/-
40.	174	रत्न-संदेश-भाग-2	150/-
41.	170	आओ ! दुर्ध्यान छोड़े !! भाग-2	70/-
42.	134	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-
43.	208	श्रमण-क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
44.	209	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-
45.	163	The way of metaphysical Life	60/-
46.	153	ध्यान साधना	40/-
47.	209	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-
48.	177	श्रावकाचार प्रवचन भाग-2	125/-
49.	169	आओ ! दुर्ध्यान छोडे !! भाग-1	65/-
50.	139	सज्झायों का स्वाध्याय	35/-
51.	192	विवेकी बनो	90/-
52.	167	Pearla of Preaching	60/-
53.	199	प्रवचन वर्षा	60/-

Shubhay 98338 35899